मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली

संपादक
कृष्णदत्त पालीवाल

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-10

खण्ड-1

❑ रंग में भंग ❑ जयद्रथ-वध ❑ पद्य-प्रबन्ध ❑ भारत-भारती

खण्ड-2

❑ पत्रावली ❑ वैतालिक ❑ किसान ❑ पंचवटी ❑ हिन्दू

खण्ड-3

❑ स्वदेश-संगीत ❑ सैरन्ध्री ❑ वकसंहार ❑ शक्ति ❑ वन वैभव ❑ गुरुकुल

खण्ड-4

❑ विकट भट ❑ झंकार ❑ साकेत

खण्ड-5

❑ यशोधरा ❑ द्वापर

खण्ड-6

❑ सिद्धराज ❑ नहुष ❑ कुणाल-गीत ❑ अर्जन औरविसर्जन ❑ विश्व-वेदना ❑ काबा और कर्बला ❑ अजित

खण्ड-7

❑ हिडिम्बा ❑ प्रदक्षिणा ❑ युद्ध ❑ अंजलि और अर्घ्य ❑ पृथिवीपुत्र : दिवोदास, जयिनी, पृथिवीपुत्र ❑ जय भारत

खण्ड-8

❑ राजा-प्रजा ❑ विष्णुप्रिया ❑ रत्नावली ❑ उच्छ्वास

खण्ड-9

❑ अनघ ❑ चन्द्रहास ❑ तिलोत्तमा ❑ निष्क्रिय प्रतिरोध ❑ विसर्ज्जन ❑ स्वप्न वासदत्ता ❑ प्रतिमा ❑ अभिषेक ❑ अविमारक

खण्ड-10

❑ मेघनाद-वध ❑ वीरांगना ❑ विरहिणी व्रजांगना

खण्ड-11

❑ पलासी का युद्ध ❑ वृत्र-संहार ❑ रुबाइयात उमर खय्याम

खण्ड-12

❑ भूमि-भाग ❑ शकुन्तला ❑ स्वस्ति और संकेत ❑ त्रिपथगा ❑ मुंशी अजमेरी

मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली

खण्ड-10

सम्पादक

डॉ. कृष्णदत्त पालीवाल

वाणी प्रकाशन

21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

फोन : 011-23273167, 23275710

फैक्स : 011-23275710

e-mail : vaniprakashan@gmail.com

website : www.vaniprakashan.com

वाणी प्रकाशन का लोगो
विख्यात चित्रकार मक़बूल फ़िदा हुसेन
की कूची से

ISBN : 978-81-8143-764-8

वितरक :

वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
साहित्य सदन
184, तलैया झाँसी
संस्करण : 2008

आवरण : वाणी प्रकाशन
क्वालिटी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110032
द्वारा मुद्रित

बारह खण्डों का मूल्य
मूल्य : 9000/-

MAITHILISHARAN GUPT GRANTHAWALI-10
Edited by : Dr. Krishandatt Paliwal

निवेदन

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के समग्र साहित्य को एकसूत्र में अनुस्यूत करके हिन्दी के सहृदय-समाज को अर्पित करते हुए अत्यधिक हर्ष का अनुभव हो रहा है। गुप्त जी लगभग साठ वर्ष तक साहित्य-साधना में निरन्तर समर्पित रहे। वे हिन्दी भाषियों के साथ अहिन्दी भाषियों के सर्वाधिक प्रिय रचनाकार हैं। आज का पाठक उनकी समग्र कृतियों को पढ़ने का अरमान रखता है। मैथिलीशरण गुप्त ग्रन्थावली की प्रकाशन-योजना पाठक के उसी अरमान को पूरा करने की ओर एक कदम है।

राष्ट्रकवि की गरिमा से दीप्त-प्रदीप्त मैथिलीशरण गुप्त का कृती व्यक्तित्व और उनकी असीम सर्जनात्मक क्षमता किसी भी सुमनस को मोहने और अभिभूत करने के लिए पर्याप्त है। उनके सर्जन में हमारी परम्परा के पुरखे बोलते हैं। आधुनिक भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन, नवजागरण, सत्याग्रह-युग और नेहरू-युग का विचार-मन्थन गुप्त जी की रचना-दृष्टि के उत्तमांश को सामने लाता है। यह रचना-दृष्टि अपनी व्यापकता और गहराई में समाज के आर-पार देखने की क्षमता रखती थी। इतिहास-पुराण, मिथक, प्रतीक, रूपक उनकी लेखनी का पारस स्पर्श पाकर अपनी जड़ता खो बैठा और साहित्य कालजयी या क्लासिक शक्ति धारण कर लेता है। सच बात तो यह है उनके वैष्णव संस्कारों, विचारों, अभिप्रायों से काल का डमरू ऐसे बजा है कि उसमें से प्रेरणा का नाद फूट रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त की वाचिक परम्परा से प्राप्त प्रतिभा ने हिन्दी के साथ भारतीय साहित्य के एक विशाल लोक-चित्त को प्रेरित एवं प्रभावित किया है। उन्होंने स्वाध्याय से संस्कृत, हिन्दी, बांग्ला, मराठी के साहित्य को रमकर समझा था। वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और अंग्रेजी न जानना उनकी देसी प्रतिभा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन देसी प्रतिभा की ही यह विजय है कि कवि की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गाँधी ने उन्हें 'मैथिली काव्य मान' ग्रन्थ भेंट करते हुए 'राष्ट्रकवि' की उपाधि प्रदान की।

गुप्त जी का कवि कण्ठ ब्रजभाषा में फूटा था। उन्होंने अपने काव्यारम्भ में 'मधुप' और 'रसिकेन्द्र' नाम से कुछ पद्य ब्रजभाषा में लिखे भी। लेकिन शीघ्र ही

वे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा प्रभाव शक्ति के कारण खड़ी बोली में कविता करने लगे। उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी को उँगली पकड़कर पैदल चलना सिखाया और एक दिन इतना परिमार्जित कर दिया कि वह सर्जनात्मक शक्ति से दौड़ने लगी। खड़ी बोली स्वाधीनता आन्दोलन की भाषा रही है—विद्रोह की शक्ति रही है। इस भाषा में प्रान्त नहीं, पूरा देश खुलकर बोला है। यहाँ कहना होगा कि मैथिलीशरण गुप्त हिन्दी काव्य के निर्माता थे और इस दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व अविस्मरणीय है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक नवजागरण ने हमारी संस्कृति-सभ्यता के इतिहास और साहित्य में विश्वास का जो स्वर उत्पन्न किया था, उसकी अधिकाधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति सबसे पहले मैथिलीशरण गुप्त की सर्जनात्मकता में ही हुई। हिन्दी प्रदेशों के साथ भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का मैथिलीशरण गुप्त ने पचास वर्ष तक नेतृत्व किया। गुप्त जी ने अनुभव किया कि लोक-वेदना और लोक-चिन्ता को वाणी दिये बिना कवि-कर्म का दायित्व पूरा नहीं होता। फलतः वे अपने देश और काल की समस्याओं-चुनौतियों के अनुरूप काव्य-सृजन में पूरे मनोयोग से प्रवृत्त हो गये। उन्होंने हिन्दी कविता को रीतिवाद से मुक्त करते हुए देश-प्रेम, राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद विरोध की दिशा में मोड़कर दम लिया। भारतेन्दु और श्रीधर पाठक के बीज-भाव मैथिलीशरण गुप्त के सर्जन में पल्लवित-पुष्पित हुए। आज भी उनकी स्मृति से प्रेरणा की सुगन्ध आती है।

मैथिलीशरण गुप्त का काव्य-फलक अत्यन्त व्यापक है। भारतीय साहित्य के अतीत और वर्तमान दोनों पर उनकी दृष्टि रही है। रामायण-महाभारत काल के साथ उनका विशेष रागात्मक सम्बन्ध है। वैदिक युग और बौद्धकाल के कई कथानक उन्होंने उत्साहपूर्वक लिए हैं। राजपूतकाल के प्रति भी उनका आकर्षण कम नहीं है। इधर वर्तमान को तो उन्होंने अपनी युग चेतना और काव्य-संवेदना का केन्द्र बनाया ही है। वर्तमान युग के भी कई चरण उन्होंने देखे थे—बालजीवन उनका सांस्कृतिक नवजागरण काल में बीता, यौवन जागरण सुधार-आन्दोलनों के युग में, प्रौढ़ावस्था गाँधी जी के सत्याग्रह-युग में और जीवन का चौथा चरण स्वतन्त्र भारत के नेहरू-युग में। जीवन के सभी सांस्कृतिक-राजनीतिक पहलुओं का उनके काव्य में विस्तार से चित्रण है।

गुप्त जी गाँधी युग के प्रतिनिधि कवि हैं। गाँधी युग की प्रायः समस्त मूल-प्रवृत्तियाँ—अंग्रेजी शासन के अत्याचार और उनके विरुद्ध संघर्ष, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा-आन्दोलन, किसान-मजदूर आन्दोलन, जेल जीवन, स्वतन्त्रता का उल्लास, विभाजन की विभीषिका, गाँधी जी की हत्या, संसद की गतिविधि, महँगाई की समस्या, चीन का आक्रमण, राजभाषा का प्रश्न, दलित-समस्या, उपेक्षिताओं के उद्धार की समस्या, नारी अस्मिता के खौलते प्रश्न, अशिक्षा की समस्या, पाश्चात्य सम्पर्क के शुभ-अशुभ प्रभाव, पारिवारिक जीवन-विधान में होनेवाले परिवर्तन,

ग्राम्य-जीवन का चित्रण आदि। अद्‌भुत बात यह है कि उनमें प्रगति और परम्परा, आधुनिकता और समसामयिकता, इतिहास और संस्कृति, परिवर्तन और निरन्तरता दोनों का सन्तुलित योग है। युगबोध की दृष्टि से अपने समकालीन साहित्यकारों में वे प्रेमचन्द के समकक्ष खड़े हैं।

उनमें लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोक-चेतना के कारण शुद्ध आभिजात्यवादी तत्त्वों के प्रति आग्रह न था। यह कवि आरम्भ से अन्त तक लोक-मंगलमूलक काव्य-कला, नाट्यकला, अनुवाद-कला आदि की साधना करता रहा। कवि के अपने शब्दों में, 'अर्पित हो मेरा मनुज काय/बहुजन हिताय बहुजन हिताय'। अतः उनकी काव्य-साधना का उद्देश्य है—लोक-कल्याण। आज हम क्या हो गये हैं? इसी क्या का उत्तर देने के लिए उन्होंने समस्त राष्ट्र का आह्वान किया था। वर्तमान का संशोधन करने के लिए यह जानना भी आवश्यक था कि अतीत में हम कौन थे और भविष्य में क्या होंगे? इस प्रकार उनके विचार का केन्द्र है वर्तमान। वे अतीतोपजीवी रचनाकार नहीं हैं। गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थों में उन्हें सौन्दर्य का कवि कहा जा सकता है। मूलतः वे मानव-रागों, मानव-सम्बन्धों के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, भारतेन्दु की परम्परा का रचनाकार कहा जा सकता है।

मैथिलीशरण गुप्त परम्परागत अर्थ में आस्तिक हैं—वैष्णव हैं। राम के रूप में ईश्वर के प्रति उनकी अविचल आस्था है। इस तरह उनका मानववाद वैष्णव मानववाद ही है। इस वैष्णव मानववाद में सभी को (हिन्दू, शैव, शाक्त, सिख, मुसलमान, ईसाई सभी) जगह है। वे मुहम्मद साहब पर 'काबा-कर्बला' लिखते हैं, सिख-गुरुओं पर 'गुरुकुल' तथा कार्ल मार्क्स की पत्नी 'जयिनी' पर कविता। कहना होगा कि उनके सृजन-चिन्तन में पश्चिमवाद का 'अदर' या 'अन्य' नहीं है। भारतीय लोक मानस का आस्तिक समाजवाद उनकी 'भारतीयता' है। मैथिलीशरण गुप्त जी की इन्हीं मानववादी प्रवृत्तियों को स्थायी रूप देने के लिए इस ग्रन्थावली की योजना बनाई गयी है। विषय और विधा दोनों दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर विभिन्न खण्डों का विभाजन किया गया है। कुल मिलाकर ये बारह खण्ड हैं—

1. पहला खण्ड—काव्य
2. दूसरा खण्ड—काव्य
3. तीसरा खण्ड—काव्य
4. चौथा खण्ड—काव्य
5. पाँचवाँ खण्ड—काव्य
6. छठवाँ खण्ड—काव्य
7. सातवाँ खण्ड—काव्य
8. आठवाँ खण्ड—काव्य

9. नवाँ खण्ड–मौलिक एवं अनूदित नाटक
10. दसवाँ खण्ड–बांग्ला अनुवाद
11. ग्यारहवाँ खण्ड–अनुवाद
12. बारहवाँ खण्ड–विविध साहित्य

ग्रन्थावली को क्रमबद्ध करने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है। किन्तु इस बात का ध्यान रखा गया है कि ग्रन्थावली अधिकाधिक उपयोगी हो सके। गुप्त जी के सुपुत्र ऊर्मिलाचरण गुप्त के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ। उनके सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं हो पाता। उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद। श्री अरुण माहेश्वरी और वाणी प्रकाशन से सम्बद्ध सभी व्यक्तियों ने जिस तत्परता और लगन से इस विशाल योजना को सम्पूर्ण कराया है, वह प्रशंसनीय है।

इन शब्दों के साथ मैथिलीशरण गुप्त का सम्पूर्ण रचना-संसार ग्रन्थावली के रूप में, हम पाठकों को समर्पित करते हैं। गुप्त जी के रचना-कर्म के 'पाठ' या टेक्स्ट की बहुलार्थकता का इस कार्य से थोड़ा-सा भी विकास सम्भव हुआ तो अपने को कृतकार्य मानूँगा।

–कृष्णदत्त पालीवाल

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110007

अनुक्रमणिका

मेघनाद-वध

मित्राक्षर

मैं तो उसे भाषे, क्रूर मानता हूँ सर्वथा
दुःख तुम्हें देने के लिए है गढ़ी जिसने
मित्राक्षर-बेड़ी। हा! पहनने से इसने
दी है सदा कोमल पदों में कितनी व्यथा!

जल उठता है यह सोच मेरा जी प्रिये,
भाव-रत्न-हीन था क्या दीन उसका हिया,
झूठे ही सुहाग में भुलाने भर के लिये
उसने तुम्हें जो यह तुच्छ गहना दिया?

रँगने से लाभ क्या है फुल्ल शतदल के?
चन्द्रकला उज्ज्वला है, आप नीलाकाश में।
मन्त्रपूत करने से लाभ गंगा-जल के?
गन्ध ढालना है व्यर्थ पारिजात-वास में।

प्रतिमा प्रकृति की-सी कविता असल के
चीना बधू-तुल्य पद क्यों हों लौह-पाश में?

चतुर्दश पदावली से अनूदित

× × ×

"भाव कुभाव अनख आलसहूँ।
नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥"

× × ×

"हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता।
कहहिं सुनहिं बहुविधि श्रुति सन्ता॥"

× × ×

निवेदन

माइकेल मधुसूदन दत्त के 'व्रजांगना' और 'वीरांगना' नामक दो प्रसिद्ध काव्यों का पद्यानुवाद राष्ट्रभाषा में उपस्थित किया जा चुका है। आज उन्हीं दुर्बल हाथों से उक्त महाकवि के सबसे बड़े और प्रसिद्ध काव्य 'मेघनाद-वध' का पद्यानुवाद प्रस्तुत किया जाता है।

मनुष्य का मन कुछ विचित्र ही होता है। वह बहुधा अपनी योग्यता का विचार भी भुला देता है। जिस वस्तु पर वह जितना मुग्ध होता है उसे अपनाने के लिए उतना ही आग्रही भी होता है। इसी कारण मनुष्य कभी-कभी साहस कर बैठता है। प्रस्तुत पुस्तक के अनुवाद के विषय में भी यही बात हुई।

नहीं तो कहाँ मेघनाद-वध काव्य और कहाँ अनुवादक की योग्यता? यही वह ग्रन्थ है, जिसकी रचना से मधुसूदन दत्त उन्नीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े प्रतिभाशाली और युग-प्रवर्तक पुरुष माने गये हैं! ऐसे ग्रन्थ—और वह भी काव्यग्रन्थ—का अनुवाद करके यश की आशा करना अनुवादक जैसे जन के लिए पागलपन है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु यश के लिए यह साहस नहीं किया गया, पाठक विश्वास रक्खें। मेघनाद-वध-सदृश काव्य एक प्रान्त का ही धन न रहे, राष्ट्रभाषा के द्वारा वह राष्ट्रीय सम्पत्ति बन जाय; इतना न हो सके तो अन्ततः उस रत्न की एक झलक हिन्दी भाषा-भाषियों को भी देखने को मिल जाय। इसी के लिए यह साहस कहिए, प्रयत्न कहिए या परिश्रम कहिए, किया गया है। इस उद्देश की सफलता पर ही उसकी सार्थकता अवलम्बित है। परन्तु इसके विचार करने का अधिकार आप लोगों को है, अनुवादक को नहीं।

हिन्दी में अतुकान्त कविता का कुछ-कुछ प्रचार हो चला है; परन्तु शायद अब भी एक बड़ा समुदाय उसे पढ़ने के लिए प्रस्तुत नहीं। अभ्यास से ही उसकी ओर लोगों की रुचि बढ़ेगी। बंगभाषा-भाषियों ने भी पहले इस काव्य का आदर न किया था। बात यह है कि एक प्रकार की कविता सुनते-सुनते जिनके कान अभ्यस्त हो रहे हैं, उन्हें तद्विपरीत रचना अवश्य खटकेगी। यह स्वाभाविक है। बंगाल की बात ही क्या, जिस मिल्टन कवि के आदर्श पर मधुसूदन ने इस तरह की कविता लिखी

है, सुना है, पहले पहल अँगरेज़ी के साहित्य सेवियों ने उसका भी विरोध किया था।

वह खटक दूर कैसे हुई? अभ्यास से,–इस तरह की कविता की बार-बार आवृत्ति करने से। इस विषय में माइकेल मधुसूदन दत्त का यही कहना था। एक बार उनके मित्र बाबू राजनारायण बसु ने उनसे अपने छन्द की गठनप्रणाली के विषय में पूछा। मधुसूदन ने कहा–''इसमें पूछने और बताने की कोई बात नहीं। इसकी आवृत्ति ही सब बातें बता देगी। जो इसे हृदयंगम करना चाहें वे बार-बार पढ़ें। बार-बार आवृत्ति करने पर जब उनके कान दुरुस्त हो जाएँगे तब ये समझेंगे कि अमित्राक्षर क्या वस्तु है।'' यति के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि जहाँ जहाँ अर्थ की पूर्णता और श्वास का पतन हो वहीं वहीं इसकी यति समझनी चाहिए।

साधारण जनों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े विद्वान भी पहले इस काव्य के पक्षपाती न थे। प्रसिद्ध वंगीय पण्डित श्रीशचन्द्र विद्यारत्न ने भी इसके विपक्ष में अपना मत प्रकट किया था। एक दिन प्रख्यात नाटककार दीनबन्धु मित्र ने उनसे कहा–अच्छा, आप सुनिए, देखिए, मैं मेघनाद-वध पढ़ता हूँ। यह कह कर दीनबन्धु मित्र पढ़ने लगे। थोड़ी ही देर में पण्डित श्रीशचन्द्र उनके मुँह की ओर देखकर बोले–आप कौन-सा काव्य पढ़ रहे हैं? यह तो बहुत ही सुन्दर है। यह पुस्तक तो वह पुस्तक नहीं जान पड़ती!

स्वयं पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर पहले अमित्राक्षर छन्द के पक्षपाती न थे। किन्तु मेघनाद-वध पढ़कर उन्होंने अपनी राय बदल दी थी और वे मधुसूदन के एकान्त पक्षपाती हो गये थे।

हिन्दी के एक विद्वान ने लिखा है कि ''जिन लोगों को अनुप्रास का प्रतिबन्ध बाधा देता है उन्हें पद्य लिखने का साहस ही क्यों करना चाहिए? वे गद्य ही क्यों न लिखें। अर्थ और भाव को बिगाड़ना तो दूर, अनुप्रास उलटा उसे बनाते हैं और नयी सूझ पैदा करते हैं।'' इत्यादि।

एक दूसरे विद्वान ने अपनी वक्तृता में कहा है–''अच्छा साहब, बेतुकी ही कहिए, पर उसमें कुछ सार भी तो हो।'' वक्ता के कहने का ढंग स्पष्ट बता रहा है कि वह ऐसी कविता से भड़कता है। यदि उसमें कुछ सार हो तो उसे सुनना ही पड़ेगा। मतलब यह कि मीठे के लिए जूठा खाना पड़ेगा। अमित्राक्षर छन्द के विषय में हिन्दी के कुछ विद्वानों की ऐसी ही राय है।

जो लोग यह कहते हैं कि अनुप्रास नयी सूझ पैदा करते हैं, वे कृपा कर इस विषय में फिर विचार करें। अनुप्रास नयी सूझ पैदा करते हैं, यह कहना किसी कवि का अपमान करना है। वे यह कहते कि अनुप्रास का बन्धन कवि को बाधा नहीं दे सकता, तब भी एक बात थी। परन्तु क्या वास्तव में ऐसा ही है? इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं कि कभी तुक के कारण कितनी कठिनाई उठानी पड़ती है। जिनका क़ाफ़िया तंग नहीं होता, निस्सन्देह वे भाग्यवान हैं; परन्तु वे भी यह मानने के लिए

तैयार न होंगे कि अनुप्रास के कारण हमें नयी सूझ होती है। जो लोग ऐसा मानते हों वे दया के पात्र हैं क्योंकि अनुप्रास की कृपा से उन बेचारों को भाव सूझ जाता है!

सम्भव है, कभी-कभी, अनुप्रास से कोई बात ध्यान में आ जाय; परन्तु कौन कह सकता है कि अनुप्रास के कारण जो भाव सूझा है, उसके बिना उससे भी बढ़कर भाव न सूझता? बहुधा ऐसा होता है कि अनुप्रास के लिए भाव भी बदल देना पड़ता है। शब्दों के तोड़-मरोड़ की तो कोई बात ही नहीं। कभी-कभी अनावश्यक और अनर्थक पद का प्रयोग करने के लिए भी विवश होना पड़ता है। यह कविता के लिए ठीक प्रतिकूल होता है। जो बात गौण होती है उसे प्रधानता देनी पड़ती है और जो प्रधान होती है उसे गौण बनाना पड़ता है। कवि के स्वाभाविक धारा-प्रवाह को ऐसा धक्का लगता है कि सारा रस चल-विचल हो जाता है। कवि जिस शब्द का प्रयोग करना चाहता है उसके बदले, लाचार होकर, उसे दूसरा शब्द रखना पड़ता है।

सच तो यह है कि तुक एक कृत्रिमता है। जहाँ तक कानों का सम्बन्ध है, वह भले ही अच्छी मालूम हो; किन्तु हृदय हिला देने वाली वस्तु दूसरी ही होती है। जो अतुकान्त कविता को 'बेतुकी' कह कर उसकी हँसी उड़ाते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ने तुकबन्दी नहीं की। जब से शब्दालंकारों की ओर लोग झुक पड़े तब से कविता में कृत्रिमता और आडम्बर का समावेश हुआ। महाकवि मिल्टन ने भी तुकबन्दी नहीं की। माइकेल मधुसूदन दत्त के सामने आदर्श थे ही; फिर वे क्यों 'झूठे सुहाग' में अपनी कविता-कामिनी को भुलाते? उन्होंने देखा कि मित्राक्षर छन्द के कारण कविता के स्वाभाविक प्रवाह को धक्का लगता है। प्रत्येक चरण के अन्त में श्वासपतन के साथ-साथ भाव पूरा करना पड़ता है। इससे एक ओर जिस तरह भाव को संकीर्ण करना पड़ता है, उसी तरह दूसरी ओर भाषा के गाम्भीर्य और कल्पना की उन्मुक्त गति में भी बाधा पड़ती है। इसीलिए उन्होंने इस शृंखला को तोड़कर अपनी भाषा में अमित्राक्षर छन्द की अवतारणा की। उन्होंने छन्द की अधीनता न करके छन्द को ही अपने अधीन बनाया। आरम्भ में लोगों ने उनकी अवज्ञा की; परन्तु आज बंगाली उनके नाम पर गर्व करते हैं। बंकिम बाबू ने लिखा है—

"यदि कोई आधुनिक ऐश्वर्य्यगर्वित यूरोपीय हमसे कहे—'तुम लोगों के लिए कौन-सा भरोसा है? बंगालियों में मनुष्य कहलाने लायक कौन उत्पन्न हुआ है?' तो हम कहेंगे—धर्म्मोपदेशकों में श्रीचैतन्यदेव, दार्शनिकों में रघुनाथ, कवियों में जयदेव और मधुसूदन।"

भिन्न भिन्न देशों में जातीय उन्नति के भिन्न भिन्न सोपान होते हैं। विद्यालोचना

के कारण ही प्राचीन भारत उन्नत हुआ था। उसी मार्ग से चलो, फिर उन्नति होगी।
× × × अपनी जातीय पताका उड़ा दो और उस पर अंकित करो–"श्रीमधुसूदन!"

सुप्रसिद्ध महात्मा परमहंस रामकृष्ण देव ने मधुसूदन के विपक्षियों को लक्ष्य करके जो कुछ कहा था, उसका अनुवाद नीचे दिया जाता है–

"तुम्हारे देश में यह एक अद्भुत प्रतिभाशाली पुरुष उत्पन्न हुआ था। मेघनाद-वध जैसा काव्य तुम्हारी बंगभाषा में तो है ही नहीं, भारतवर्ष में भी इस समय ऐसा काव्य दुर्लभ है। तुम्हारे देश में यदि कोई कुछ नया काम करता है तो तुम उसकी हँसी उड़ा कर उसका अपमान करते हो, यह नहीं देखते कि वह क्या कहता है और क्या करता है। जिस किसी ने पहले की तरह कुछ न किया, लोग उसी के पीछे पड़ जाते हैं। इसी मेघनाद-वध काव्य को, जो बंगभाषा का मुकुटमणि है, अपदस्थ कराने के लिए 'छछूँदर-वध' काव्य लिखा गया! तुम जो कर सको, करो। परन्तु इससे क्या होता है? इस समय यही मेघनाद-वध काव्य हिमालय पर्वत की तरह आकाश भेद कर खड़ा है। जो लोग इसके दोष दिखाने में ही व्यस्त थे, उनके आक्षेप कहाँ उड़ गये? जिस नूतन छन्द में और जिस ओजस्विनी भाषा में मधुसूदन अपना काव्य लिख गये हैं, उसे साधारण जन क्या समझेंगे?"

परमहंस देव ने जिस छछूँदर-वध काव्य का उल्लेख किया है, उसके प्रारम्भिक अंश का पद्यानुवाद पाठकों की कौतूहल-निवृत्ति के लिए नीचे दिया जाता है–

छछूँदर-वध

"साधु, विधि-वाहन, सुपुच्छ कृपा करके
मुझको प्रदान करो, चित्रित करूँ जो मैं,
हनन किया था किस कौशल या बल से
आशुगति युक्त आके (भूपर गगन से)
वज्रनख, आमिपाशी दुर्जय शकुन्त ने
साध्वी, पद्मसौरना, छछूँदर छबीली का!
कम्पित हुई थी वह कैसे नखाघात से–
नीरनिधि-तीर मानों तरल तरंगों से।"
"अर्कवर वृक्ष तले, विद्रुत गमन से,
(अन्तरीक्ष-पथ में ज्यों लांछित कलम्ब से
आशुग इरम्मद है सन सन चलता)
एकदा चतुष्पदी छछूँदर थी घूमती
पत्ते खड़काती हुई। पीछे पुष्प-गुच्छ-सी
पुच्छ हिलती थी अहा! सुश्यामांग बंग में
विश्वप्रसू, विश्वम्भरा, दशभुजा देवी पै

(पुत्री हैं नगेन्द्र की जो माता गजेन्द्रास्य की)
ऋत्विकों की मण्डली ज्यों चामर डुलाती है
शोभन शरद में। या घटिका सुयन्त्र का
दिव्य दोलदण्ड डोलता है वार वार ज्यों।''

मधुसूदन दत्त ने इस कविता पर रोष न करके लेखक की रचना की प्रशंसा करते हुए तोष ही प्रकट किया था।

अब इस विषय में अधिक लिखने की ज़रूरत नहीं जान पड़ती।

अनुवाद के छन्द के विषय में 'वीरांगना' काव्य के अनुवाद की भूमिका में लिखा जा चुका है। मूल बँगला छन्द 14 अक्षरों का है। यह 15 या 16 अक्षरों का होता है। परन्तु इसमें 15 अक्षरों वाला ही प्रयुक्त हुआ है। अतएव मूल के छन्द से इसमें एक ही अक्षर अधिक है। बँगला में में, से आदि विभक्तियों के लिए अलग अक्षर नहीं होते। किसी अकारान्त शब्द को एकारान्त कर देने से ही वह विभक्ति-युक्त हो जाता है। जैसे ''सम्मुख समर'' पद में 'समर' को 'समरे' कर देने से ही ''समर में'' का अर्थ निकलने लगता है। इसलिए अनुवाद वाले छन्द में एक अक्षर का अधिक होना मूल छन्द से अधिक होना नहीं कहा जा सकता।

अनुवाद में इसकी परवा नहीं की गयी कि एक एक पंक्ति का अनुवाद एक ही एक पंक्ति में किया जाय। तथापि अधिकांश स्थलों में मूल और अनुवाद की पंक्तियों की संख्या एक-सी ही है। जहाँ कहीं अन्तर हुआ है, वहाँ थोड़ा ही।

हिन्दी में अतुकान्त कविता के लिए लोगों ने अपनी अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न छन्द चुने हैं। लेखक ने इसी छन्द को पसन्द किया है। वर्णात्मक होने पर भी लघु, गुरु के नियमों से विशेष वद्ध न होने के कारण अनुवादक को यही उपयुक्त जान पड़ा। हिन्दी के कवियों ने तो अभी इसकी ओर ध्यान नहीं दिया है; परन्तु हर्ष की बात है कि गुजराती भाषा के प्रसिद्ध विद्वान और कविताकार श्रीयुक्त केशवलाल हर्षदराय ध्रुव ने भी अमित्राक्षर छन्द के रूप में इसी को ग्रहण किया है। इसे हिन्दी में प्रयुक्त देख कर उन्होंने ऐसा नहीं किया; वरन स्वयं चिन्तना करके उन्होंने इसे ही इस तरह की कविता के लिए चुना है। यह दूसरी बात है कि अनुवादक ने उनसे पहले हिन्दी में इसका प्रयोग किया है। परन्तु उनको इसकी ख़बर न थी। कुछ दिन हुए, कतिपय मित्रों के साथ, अनुवादक को अहमदाबाद में, उनसे मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने इस छन्द के सम्वन्ध में, गुजराती में, एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी है। इन पंक्तियों के लेखक को प्रायः अपने ही परिणाम पर, पहले से ही, पहुँचा हुआ देख कर ध्रुव महाशय ने प्रसन्नता प्रकट की थी।

अनुवादक की राय में 15 या 16 अक्षरों के रूप में इस छन्द का प्रयोग वैसा ही होना चाहिए जैसा घनाक्षरी या रूपघनाक्षरी के किसी चरण का उत्तरार्द्ध होता

है। पूर्वार्द्ध के अन्त में कहीं कहीं जो दो गुरु अक्षर आते हैं, उनसे कुछ टूट-सी पड़ती है। घनाक्षरी या रूपघनाक्षरी में तो यह टूट मालूम नहीं पड़ती; क्योंकि वहाँ चरण पूरा नहीं होता। किन्तु इस नये प्रयोग में चरण वहीं पूरा हो जाता है। जैसे—

"साँझ समै भौंन सँझवाती क्यों न देत आली",

यहाँ अन्त में दो गुरु अक्षरों वाला 'आली' शब्द है, इसलिए लेखक की राय में यहाँ चरण का अन्त मान लेने में झंकार ठीक नहीं रहती; मालूम होता है, आगे कुछ और कहना चाहिए। इसी कारण बहुधा कवियों ने चरणान्त में ऐसा रूप नहीं रक्खा है। जब उन्होंने चरण का उत्तरार्द्ध 16 अक्षरों का रक्खा है तब या तो अन्त में दो अक्षर लघु रक्खे हैं या एक गुरु और एक लघु। जैसे—

"वारिये नगर और औंरछे नगर पर।"

और—

"ऐसे गजराज राजें राजा रामचन्द्र पौरि।"

केशवदास।

"मोर वारी बेसर सु-केसर की आड़ वह।"

और—

"भौंरन की ओर भीरु देखै मुख मोरि मोरि।"

देव।

अनुवादक ने जहाँ 16 अक्षरों के रूप में नये ढंग से इसका प्रयोग किया है, वहाँ ऐसा ही किया है। नीचे 'पलासी के युद्ध' से दो उदाहरण दिये जाते हैं—

"अबला-प्रगल्भता क्षमा हो देव, जो हो फिर;
भीति होती हो तो मैं दिखाऊँगी कि—ओ हो फिर!"

और—

"होंगे यदि पापी के शरीर में सहस्र प्राण,
तो भी नहीं पा सकेगा मुझसे कदापि त्राण।"

परन्तु ध्रुव महाशय ने इस नियम की अपेक्षा नहीं की। उन्होंने 16 अक्षरों के रूप में इसका प्रयोग करके अन्त में दो गुरु भी रक्खे हैं। उदाहरण—

"ठीक, मित्रो, तो हूँ कहूँ तेम करो ने अमारो।"

और—

"अहो भाई, जेओ मारूँ साँभळवा इच्छता हो।"

हिन्दी में भी लेखक को एक आध ऐसा उदाहरण मिला है, जहाँ घनाक्षरी के चरणान्त में दो गुरु अक्षरों का प्रयोग हुआ है। श्रीयुक्त पण्डित पद्मसिंह जी शर्म्मा ने अपनी ''विहारी की सतसई'' के पहले भाग में सुन्दर कवि का एक कवित्त उद्धृत किया है। वह इस प्रकार है–

''कहूँ बन माल कहूँ गुंजन की माल कहूँ
संग सखा ग्वाल ऐसे हास (ल) भूलि गये हैं।
कहूँ मोर चन्द्रिका लकुट कहूँ पीत पट
मुरली मुकुट कहूँ न्यारे डारि दये हैं।
कुंडल अडोल कहूँ ''सुंदर'' न बोलें बोल
लोचन अलोल मानों कहूँ हर लये हैं।
घूँवट की ओट ह्वै कै चितयो कि चोट करी
लालन तो लोटपोट तब ही तें भये हैं॥''

इस कवित्त के प्रत्येक चरण के अन्त में एक लघु के बाद दो गुरु आये हैं। परन्तु ऐसे उदाहरणों की विरलता ही इस बात को सिद्ध करती है कि कविजन अन्त में ऐसा रूप रखना पसन्द नहीं करते। पण्डित पद्मसिंह जी की राय में इस कवित्त की रचना अनुप्रास-पूर्ण होने पर भी शिथिल है। लेखक की राय में उस शिथिलता का यह भी एक कारण हो सकता है।

परन्तु ध्रुव महाशय के प्रयोग में एक विशेषता है। छन्द की गति के अनुसार पढ़ने में यद्यपि कहीं कहीं कुछ कठिनाई पड़ती है; पर उनकी रचना में बहुधा अन्वय करने की आवश्यकता नहीं होती। यही उनके प्रयोग की विशेषता है। आशा है, हिन्दी के कोई समर्थ कवि उद्योग करके देखेंगे कि हिन्दी में भी ऐसा हो सकता या नहीं।

इस छन्द की यति का जो नियम प्राचीनों ने निर्धारित किया है, नये प्रयोग में भी उसका पालन करने से गति बहुत सुन्दर रहती है। साधारणतया कहीं 8 अक्षरों पर यति होती है और कहीं 7 पर।

जैसे–

''सुनते न अधमउधारन तिहारो नाम,
और की न जानें पाप हम तो न करते।''

पद्माकर।

पहले टुकड़े में 7 अक्षरों पर और दूसरे में 8 अक्षरों पर यति है। परन्तु कवियों ने इस नियम की प्रायः उपेक्षा की है। उदाहरण–

1–''नेह उरझे से नैन देखिबे कों बिरुझे से,

बिझुकी सी भौहें उझके से उरजात हैं।''

2—''तिमिर वियोग भूले लोचन चकोर फूले,

आई व्रजचन्द्र चन्द्रावलि चलि चन्द ज्यों।''

ये दोनों उदाहरण आचार्य्य केशवदास के हैं। कविरत्न देव का भी एक कवित्त दिया जाता है—

''टटकी लगन चटकीली उभँगनि गौन,

लटकी लटक नट की सी कला लटक्यो;

त्रिवली पलोटन सलोट लटपटी सारी,

चोट चटपटी, अटपटी चाल चटक्यो।

चुकुटी चटक त्रिकुटीतट मटक मन

भृकुटी कुटिल कोटि भावन में भटक्यो;

टटल बटल बोल पाटल कपोल देव

दीपति पटल में अटल ह्वै कें अटक्यो॥''

इन उदाहरणों में रेखांकित पदों पर दृष्टि डालिए। उन्हें देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि कवियों ने यति के नियम की परवा नहीं की। माइकेल मधुसूदन दत्त ने भी, मूल छन्द में, अपनी स्वाभाविक गति के लिए ऐसी ही स्वतन्त्रता से काम लिया है। अनुवाद में भी ऐसा ही किया गया है। परन्तु अपनी तुच्छ मति के अनुसार यह देख लिया गया है कि यथा-सम्भव छन्द की गति में बाधा न आने पावे।

अनुवाद में यथाशक्ति मूल का अनुसरण किया गया है। इस कारण इसमें, स्थान स्थान पर, दूरान्वय, कष्टकल्पना आदि दोष दिखाई देंगे; अनुपयुक्त उपमाएँ मिलेंगी और व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग सामने आवेंगे। मेघनाद-वध के कवि बहुत ही उच्छृंखल प्रकृति के थे। वरुणानी के बदले उन्हें वारुणी पद अच्छा मालूम हुआ। उन्होंने वरुण की पत्नी के अर्थ में उसी का प्रयोग कर दिया। जो शब्द कन्या के अर्थ में प्रयुक्त होना चाहिए उसे पत्नी के अर्थ में प्रयुक्त करना उच्छृंखलता की चरम सीमा है! अनुवादक की इतनी हिम्मत न हो सकी। इसके लिए ग्रन्थकार की आत्मा के निकट वह क्षमा-प्रार्थी है। क्योंकि कवि ने हठ-पूर्वक उसका प्रयोग किया है और उसके लिए निम्नलिखित कैफ़ियत दी है—

"The name is वरुणानी but I have turned out one syllable. To my ears this word is not half so musical as वारुणी and I don't know why I should bother myself about Sanskrit rule." मतलब यह कि हमने वरुणानी को इसलिए वारुणी से बदल दिया है कि यह हमारे कानों को अच्छा लगता है। हम नहीं समझते

कि हम क्यों संस्कृत के नियमों की बाधा मानें।

इसी प्रकार 'कार्त्तिकेय' को कवि ने 'कृत्तिकाकुलवल्लभ' कहा है। किन्तु वल्लभ शब्द प्रिय वाचक होने पर भी प्रणयी के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। जैसे 'जानकी वल्लभ' इत्यादि। इसलिए अनुवाद में 'कार्त्तिकेय' पद का ही प्रयोग किया गया है?

कवि ने शायद इसी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण 'गुण' के स्थान में 'शोभा' और 'वहुत' या 'समूह' के स्थान में 'कुल' शब्द का प्रयोग किया है। 'अन्तरस्थ' के स्थान में 'अन्तरित' और 'निरर्थक' के स्थान में 'निरर्थ' आदि शब्दों का मनमाना व्यवहार किया है। अनुवाद में भी, कहीं कहीं, ऐसे शब्दों का प्रयोग दृष्टिगोचर होगा। 'रजत' शब्द के बदले कवि ने 'रजः' शब्द का प्रयोग किया है। यथा—

सफरी, देखाते धनी रजःकान्ति छटा

और—

उज्चलिल सुख-धाम रजोमय तेजे।

अनुवाद में कहीं 'रजत' या उसका पर्याय और कहीं कवि का मूल शब्द ही रहने दिया गया है। जैसे—

रौप्यकान्ति विभ्रम दिखाने को दिनेश को

और—

चारु चन्द्रिका ने रजोदीप्ति वहाँ फैलाई।

'निपादी' असल में महावत को कहते हैं। परन्तु कवि ने सादी (अश्वारोही सैनिक) के जोड़ में, गजारोही योद्धा के अर्थ में उसका प्रयोग किया है। अनुवाद में भी वह वैसा ही रक्खा गया है।

कवि के स्वभाव की उच्छृंखलता का उसके काव्य में विलक्षण परिचय मिलता है। महत् के साथ तुच्छ की तुलना करते हुए भी उसने संकोच नहीं किया है। इसके कई उदाहरण इस काव्य में हैं। एक देखिए—प्रमीला की स्त्री-सेना जिस समय घोड़ों पर सवार हुई, कवि ने लिखा है—

—हेषिल अश्व मगन हरषे,
दानव-दलिनी-पद पद्म युग धरि
वक्षे, विरूपाक्ष सुखे नादेन येमति।

अर्थात्—

—मग्न हय हींस उठे हर्ष से,
दैत्य-दलिनी के पद-पद्म रख वक्ष पै,
नाद करते हैं विरूपाक्ष यथा हर्ष से।

कवि की प्रयुक्त की हुई उपमाएँ बड़ी सुन्दर हैं, इसमें सन्देह नहीं; पर सब कहीं वे उपयुक्त नहीं हुईं। विभीषण के साथ जाते हुए लक्ष्मण के विषय में कवि ने लिखा है—

—सुरपति सह
तारकसूदन येन शोभिल दुजने;
किं वा त्वषाम्पति सह इन्दु सुधानिधि

अर्थात्—

—मानों इंद्र अग्निभू के साथ में,
अथवा सुधाकर के साथ मानों सविता।

कुछ समालोचक मधुसूदन के इस 'किं वा' या 'अथवा' से बहुत घबराते हैं। कम-से-कम इस स्थल पर उनका घबराना ठीक ही मालूम होता है। क्योंकि सूर्य्य के साथ चन्द्रमा की शोभा हो नहीं सकती। सुतराम् यह उपमा निरर्थक है।

मेघनाद के लिए कवि ने एक आध जगह 'असुराररिपु' लिखा है। यह कूट नहीं तो क्लिष्ट अवश्य है। परन्तु एक आध स्थान पर ही होने के कारण अनुवाद में भी ऐसा ही रहने दिया गया है।

षष्ठ सर्ग में, मेघनाद-वध के समय, कवि ने लिखा है—

—शंख, चक्र, गदा,
चतुर्भुजे चतुर्भुज;—

इसमें न्यूनपद दोष है। पद्म छूट गया है। किन्तु अनुवाद में वह जोड़ दिया गया है—

शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज को

ऊपर जैसे न्यूनपद दोष है, वैसे ही कहीं कहीं अधिकपद दोष भी आ गया है। यथा—

अश्रुमय आँखि, पुनः कहिला रावण,
मन्दोदरीमनोहर,—कह रे सन्देशवह!

इसमें 'रावण' के रहते हुए 'मन्दोदरीमनोहर' की कोई सार्थकता नहीं। इसलिए अनुवाद में यह दोष दूर कर दिया गया है। परन्तु वहाँ रावण के बदले मन्दोदरीमनोहर रक्खा

गया है। कारण उसके साथ सन्देशवह पढ़ने में अच्छा लगता है।

साश्रुसुख मन्दोदरीमोहन ने आज्ञा दी,—
कह हे सन्देशवह!

कहीं कहीं अर्द्धान्तरैकपद दोष भी इसमें पाया जाता है। जैसे—

—कह रे सन्देश—
वह!—

और—

शुइला फूल शयने सौरकर राशि—
रूपिणी सुर-सुन्दरी—

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'सन्देशवह' का 'वह' दूसरी पंक्ति में चला गया है और 'सौरकरराशिरूपिणी' का 'रूपिणी' पद भी। अनुवाद में यथा-सम्भव ऐसा नहीं होने दिया गया है। हाँ, कहीं कहीं पहली पंक्ति का 'है' या 'हैं' पद जो दूसरी पंक्ति में चला गया है तो उसकी परवा नहीं की गई।

कवि ने कहीं कहीं प्रसिद्धि का त्याग भी किया है। जैसे—

कैलासाद्रिवासी व्योमकेश-सुनती हूँ मैं—
शक्ति-संग बैठ कर श्रेष्ठ स्वर्णासन पै,—

यहाँ शिव के लिए 'स्वर्णासन' प्रसिद्धि-विरुद्ध है। इसी प्रकार प्रमीला के विषय में लिखा है—

मर्त्ये रति मृत काम-सह सहगामी

अनुवाद—

रति मृत काम सहगामिनी-सी मर्त्य में

परन्तु वस्तुतः मृत काम के साथ रति सती नहीं हुई थी। कहीं कहीं अवाचकता दोष भी इस काव्य में पाया जाता है।

उदाहरण—

—वाछि वाछि लइते सत्वरे
तीक्ष्णतर प्रहरण नश्वर संग्रामे

यहाँ संग्राम के लिए नश्वर विशेषण ठीक नहीं जान पड़ता। नश्वर का अर्थ

होता है—नाशवान। किन्तु कवि ने नाशक के अर्थ में उसका प्रयोग किया है। अनुवाद में वह इस तरह बदल दिया गया है—

चुन चुन तीक्ष्ण शर लेने को तुरन्त ही
जो हों प्राणनाशी नाशकारी रणक्षेत्र में।

एक जगह कवि ने लिखा है—

प्रतारित रोष आमि नारिनू बूझते

रोष का प्रतारित विशेषण उपयुक्त नहीं। प्रतारित का अर्थ है वंचित, और कवि का अभिप्राय है बनावटी क्रोध से। इसलिए अनुवाद में प्रतारित के स्थान में कृत्रिम कर दिया गया है—

समझ सकी न कोप कृत्रिम मैं उसका।

मेघनाद-वध में गर्भित वाक्य बहुत पाये जाते हैं। एक वाक्य के बीच में एक और वाक्य कह देना कवि के वर्णन करने का ढंग-सा है। इसलिए उसे बदलना ठीक नहीं समझा गया। उससे एक तरह का कौतूहल ही होता है। उदाहरण—

और किस कुक्षण में, (तेरे दुख से दुखी,)
लाया था कृशानुशिखा-रूपी जानकी को मैं।

इसमें 'तेरे दुख से दुखी' गर्भित वाक्य है। कहते हैं, वर्णन करने का यह ढंग कवि ने अँगरेजी से लिया है।

एक स्थल पर कवि ने लिखा है—

कह केमन रेखेछ,
कांगालिनी आमि, राजा आमार से धने।

इसमें 'कांगालिनी आमि' से दूरान्वय ज़रूर हो गया; पर कवि के कहने का यह भी एक ढंग है। इसलिए अनुवाद में भी ऐसा ही रक्खा गया है। यथा—

रक्खा कहो, तुमने,
कैसे मैं अकिंचना हूँ, मेरे उस धन को।

ऊपर एक स्थान पर उपमा के अनौचित्य के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। इसी सम्बन्ध में ख्याति-विरुद्धता का एक उदाहरण और देखिए—

सोही स्निग्ध कवरी में मोतियों की पंक्तियों—
मेघावली-मध्य इन्दुलेखा ज्यों शरद में।

शरद के बादल सफेद होते हैं। किन्तु कवि ने काले केशों से उनकी तुलना कर डाली है।

व्यादृतत्व दोष का एक उदाहरण देखिए—

डरती हूँ क्या मैं सखि, राघव भिखारी को?
लंका में प्रविष्ट आज हूँगी भुजबल से;
कैसे नर-रत्न मुझे रोकते हैं, देखूँगी।

पहले राघव को भिखारी कहकर फिर नररत्न कहना उपहासास्पद मालूम होता है।

रसदोष भी इस काव्य में जहाँ तहाँ दिखाई पड़ता है। तीसरे सर्ग में लंका को प्रस्थान करते समय प्रमीला की वीर रसात्मक उक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। किन्तु उनमें—

मधु अधरों में, विष रखती हैं आँखों में
हम; बल है क्या नहीं इन भुजनालों में?
देखें, चलो, राघव की वीरता समर में,
देखूँगी ज़रा मैं वह रूप जिसे देखके
मोही वुआ शूर्पणखा पंचवटी-वन में।

यह शृंगार रस की झलक होने से, प्राचीनों के मत से, रसविभावपरिग्रह दोष हो गया है। नवम सर्ग में, श्मशानयात्रा के समय, बड़वा की पीठ पर रक्खे हुए प्रमीला के सारसन और कवच के विषय में कवि ने लिखा है—

मणिमय सारसन, कवच सुवर्ण का
दोनों हैं मनोहत-से,—सारसन सोच के,
हाय! वह सूक्ष्म कटि! कवच विचार के,
उन्नत उरोज युग वे हा! गिरि-शृंग-से!

यह अकाल-रस-व्यंजना बहुत खटकती है। यदि एक आध शब्द की बात होती तो अनुवाद में फेरफार किया जा सकता था; परन्तु कवि का सारा का सारा आशय बदलने या छोड़ देने का साहस अनुवादक नहीं कर सका।

इसी कारण हर-गौरी का अनुचित शृंगारवर्णन भी वैसा ही रहने दिया गया है, अष्टम सर्ग में कामुक-कामुकी प्रेतों का वर्णन भी अश्लील भावापन्न होते हुए वैसा ही रहने दिया गया है, नरक-वर्णन जो बहुत विस्तृत है, उसमें काट-छाँट नहीं की गयी और दूसरे सर्ग में जगदम्बा के सामने काम का शृंगाररसात्मक मोहिनी-वर्णन भी वैसा ही रहने दिया गया है। सारांश, कवि ने जो बात जिस तरह वर्णन की है, उसे उसी तरह अनुवाद में रहने दिया गया है।

लक्ष्मी के लिए 'केशव-वासना' और सीता के लिए 'राघव-वांछा' पदों का प्रयोग

कवि ने किया है। अनुवाद में इनकी जगह 'केशव की कामना' और 'राम-कामना' कर दिया गया है। छन्द की गति की रक्षा के लिए ही ऐसा किया गया, कहना उचित है। जिस कवि के कान इतने संगीतमय (Musical) हैं कि नियम-विरुद्ध होने पर भी वह 'वरुणानी' के बदले 'वारुणी' का निस्संकोच प्रयोग करता है, उसके सामने, उसी के प्रयुक्त किये हुए 'केशव-वासना' और 'राघव-वांछा' पदों के बदले 'केशव की कामना' और 'राम-कामना' के विषय में और कुछ कहना धृष्टता के सिवा और क्या हो सकता है? इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कवि की 'वासना' अनुवादक के लिए उपेक्षणीय नहीं। लंका को कवि ने जहाँ 'जगत की वासना' कहा है वहाँ अनुवाद में भी उसे 'विश्व की वासना' कहा गया है।

अनुकान्त होने पर भी मेघनाद-वध की रचना प्रास-पूर्ण है। वर्णावृत्ति से कवि ने उसे ख़ूब ही सजाया है। अनुवाद में भी जहाँ तक हो सका, इस बात की चेष्टा की गयी है कि अनुवाद की रचना भी वैसा ही प्रासपूर्ण रहे। छन्द के अनुरोध से यदि कवि के ही प्रयुक्त किये हुए शब्द नहीं आ सके हैं तो उनके बदले ऐसे पर्याय रक्खे गये हैं जिनसे रचना का सौन्दर्य्य न बिगड़ने पावे। जैसे कवि ने यदि लक्ष्मी को 'पुण्डरीकाक्षवक्षोनिवासिनी' कहा और वह वैसा का वैसा अनुवाद के छन्द में न आ सका तो उसके बदले 'विष्णुवक्षोवासिनी' कहकर तीनों वकारादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन कारणों से सम्भव है, अनुवाद की भाषा कुछ क्लिष्ट समझी जाय। मधुसूदन ने सैकड़ों नये नये शब्द निस्संकोच अपनी कविता में प्रयुक्त किये हैं। इस पर वंगभाषा के प्रेमियों ने उन्हें उन शब्दों को पुनरुज्जीवित करने और अपनी भाषा की शब्द-सम्पत्ति बढ़ानेवाला कहकर उनका अभिनन्दन ही किया है। मालूम नहीं, हिन्दी-प्रेमी इस बात को किस दृष्टि से देखेंगे। अनुवादक का यही कहना है कि जो लोग भाषा को सरल रखने के ही पक्षपाती हों उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि यह टीका नहीं, भाषान्तर है—और एक काव्य-ग्रन्थ का भाषान्तर। इस कारण अनुवादक को सरलता की अपेक्षा मूल ग्रन्थ की ओजस्विता पर अधिक ध्यान रखना पड़ा है। इसीलिए मेघनाद-वध की—

वाजिल राक्षस-वाद्य, नादिल राक्षस

इस प्रसिद्ध पंक्ति का अनुवाद—

रक्षोरण-वाद्य बजे, रक्षोगण गरजे

किया गया है। यह शायद मूल की अपेक्षा क्लिष्ट समझा जाय। परन्तु पाठक इस अनुवाद में इससे भी कठिन भाषा पायँगे। तथापि "कुल मिला कर" अनुवाद की भाषा मूल की भाषा से कठिन न होगी।

जहाँ तक हो सका है, मूल के भावों की रक्षा करने की कोशिश की गयी है,

परन्तु अज्ञता के कारण अनेक त्रुटियाँ रह गयी होंगी, सम्भव है, कहीं कहीं भाव भी भंग हो गये हों। परन्तु ज्ञानतः ऐसा नहीं होने दिया गया।

कवि की भाषा की छटा और वर्णन की घटा का भी एक छोटा-सा उदाहरण देखिए—मेघनाद के वध का बदला लेने के लिए रावण निकलता है—

''बाहरिला रक्षोराज पुष्पक आरोही;
घर्घरिल रथचक्र निर्घोषे, उगरि
विस्फुलिंग; तुरंगम हेषिल उल्लासे।
रतनसम्भवा विभा, नयन धाँधिया,
धाय अग्रे, ऊषा यथा, एक चक्र रथे
उदेन आदित्य जबे उदय अचले!
नादिल गम्भीरे रक्षः हेरि रक्षोनाथे।''

इसका अनुवाद इस तरह किया गया है—

''पुष्पक में बैठा हुआ रक्षोराज निकला;
घूमें रथ-चक्र घोर घर्घर-निनाद से,
उगल कृशानु-कण; हींसे हय हर्ष से।
चौंधा कर आगे चली रत्नसम्भवा विभा,
ऊषा चलती है यथा आगे उष्णरश्मि के,
जब उदयाद्रि पर, एकचक्ररथ में,
होता है उदित वह! देख रक्षोराज को
रक्षोगण गरजा गभीर धीर नाद से।''

कहीं कहीं, सुभीते के अनुसार, कोई बात कुछ फेरफार करके भी कह दी गयी है। परन्तु मूल का भाव बिगड़ने न पावे, इसका ध्यान रक्खा गया है। जैसे—

''उत्तर करिलाइन्द्र—हे वारीन्द्र सुते,
विश्वरमे, ए विश्वे ओ राँगा पा दुखानि
विश्वेर आकांक्षा मा गो! जार प्रति तुमि
कृपा करि, कृपादृष्टि कर, कृपामयि,
सफल जनम तार; कोन पुण्य बले
लभिल ए सुख दास, कह ता दासेरे?''

इन पंक्तियों का अनुवाद इस तरह किया गया है—

''बोला तब वासव—हे सृष्टिशोभे, सिन्धुजे,

लक्ष्मि, लोकलालिनि, तुम्हारे पद लाल ये
लोक-लालसा के लक्ष्य हैं इस त्रिलोकी में।
जिस पै कृपामयि, तुम्हारी कृपाकोर हो,
होता है सफल जन्म उसका तनिक में।
हे माँ, सुख-लाभ यह आज इस दास ने
पाया किस पुण्यबल से है, कहो, दास से?''

मूल और अनुवाद में कुछ अन्तर रहने पर भी आशा है, भावों में कोई अन्तर न समझा जायगा।

''बड़ भालबासेन विरूपाक्ष लक्ष्मी रे।''

इसका शब्दार्थ होता है कि—विरूपाक्ष लक्ष्मी को बहुत प्यार करते हैं। परन्तु अनुवाद किया गया है—

''लक्ष्मी पर लाड़ है बड़ा ही विरूपाक्ष का।''

कहीं कहीं दो एक पद अपनी ओर से भी जोड़ दिये गये हैं। जैसे—

''भूल गये भोलानाथ कैसे उसे सहसा!''

'भोलानाथ' पद मूल का न होने पर भी कवि की वर्णन-शैली के प्रतिकूल नहीं।

ए कथा सुनिले
रुपिवे लंकार नाथ पडिब संकटे।

अनुवाद—

रावण सुनेगा, क्रुद्ध होगा, मैं विपत्ति में
पड़के न दर्शन तुम्हारे फिर पाऊँगी।

अनुवाद में दर्शन न पाने की बात जुड़ जाने से अनुवादक की राय में सरमा के चरित का उत्कर्ष साधन हुआ है। अर्थात् यदि तुम्हारे दर्शन करने को मिलते तो मैं संकट की भी परवा न करती।

नारिबे रजनी, मूढ़, आवरिते तोरे।

इसका अनुवाद—

रात्रि-तम भी तुझे
ढँक न सकेगा अरे, रात्रिंचर-रोष से।

कहने की ज़रूरत नहीं कि अनुवाद का "रात्रिंचर-रोष से" मूल में नहीं। परन्तु उसकी सार्थकता स्वयं सिद्ध है। जैसे समुद्र के सम्बन्ध में बड़वाग्नि और वन के सम्बन्ध में दवाग्नि अपेक्षित है उसी प्रकार 'रात्रि-तम' के लिए 'रात्रिंचर रोष' आवश्यक समझ कर जोड़ दिया गया।

बहुत डरते डरते एक आध जगह कोई कोई शब्द बदल भी दिया गया है। जैसे—तीसरे सर्ग में नृमुण्डमालिनी के यह कहने पर कि मेघनाद की पतिव्रता पत्नी प्रमीला लंका में प्रवेश करना चाहती है, आप या तो युद्ध करें या मार्ग छोड़ दें; तब

"बोले रघुनाथ—सुनो तुम हे सुभाषिते,
करता अकारण विवाद नहीं मैं कभी।"

यहाँ मूल में 'सुभाषिते' के स्थान में 'सुकेशिनी' पद व्यवहृत हुआ है। पाठक चाहें तो 'सुभाषिते' के बदले 'सुकेशिनी' ही पढ़ सकते हैं।

इसी प्रकार मेघनाद के अस्त्रों के विषय में कवि की उक्ति है—

'पशुपति-त्रास अस्त्र पाशुपत-सम'

इसका अनुवाद होगा—

पशुपति त्रास अस्त्र पाशुपत-तुल्य हैं।

परन्तु अनुवादक ने उसे इस प्रकार लिखा है—

पाशुपत से भी घोर आशुगति अस्त्र हैं।

मधुसूदन जब कोई नया पैराग्राफ़ शुरू करते हैं तब किसी चरण के प्रारम्भ से ही करते हैं। चरण के अन्त में ही उसे पूरा भी करते हैं। उनके बाद रवीन्द्र बाबू प्रभृति लेखकों ने यह बन्धन भी नहीं रखा। आवश्यकतानुसार किसी चरण के बीच से भी नया पैरा शुरू कर देने की चाल उन्होंने चला दी है। नमूने के तौर पर इस अनुवाद में भी दो-चार जगह ऐसा कर दिया गया है। उदाहरण—

"जितने धनुर्धर हैं, सब चतुरंग से
सज्जित हों एक संग! घोर रणरंग में
आज यह ज्वाला—यह घोर ज्वाला भूलूँगा,—
भूल जो सकूँगा मैं!"
"सभा में हुआ शीघ्र ही
दुन्दुभि-निनाद घोर"—(इत्यादि)

जहाँ तक राक्षसों के साथ कवि की सहानुभूति है वहाँ तक फिर भी सहन

किया जा सकता है। परन्तु कवि ने कहीं कहीं भगवान रामचन्द्र और लक्ष्मण को उनके आदर्श से गिरा दिया है। यह बात वास्तव में बहुत ही खलती है। थोड़े ही हेरफेर से यह दोष दूर किया जा सकता था। जैसे तीसरे सर्ग में नृमुण्डमालिनी के चले जाने पर श्रीरामचन्द्र ने विभीषण से यह कहा है–

"× × × मित्र, देख इस दूती की
आकृति में भीत हुआ मन में, विसार के
तत्क्षण ही युद्धसाज! मूढ़ वह जन है
छेड़ने चले जो इन सिंहियों की सेना को;
देखूँ चलो, मैं तुम्हारी भ्रातृ-पुत्र-पत्नी को।"

इसके स्थान में यह कहा जा सकता था–

"× × × मित्र, देख इस दूती का
साहस प्रसन्नता हुई है मुझे मन में;
निश्चय ही सिंहिनी-सी वीर-नारियाँ हैं ये।
देखूँ चलो, मैं तुम्हारी भ्रातृ-पुत्र-पत्नी को।"

श्रीरामचन्द्र फिर कहते हैं–

"क्या ही विस्मय है, कभी ऐसा तीन लोक में
देखा-सुना मैंने नहीं! जागते ही रात का
क्या मैं स्वप्न देखता हूँ? सत्य कहो मुझसे
मित्ररत्न, जानता नहीं मैं भेद कुछ भी;
चंचल हुआ हूँ मैं प्रपंच यह देख के!"

इन पंक्तियों के बदले निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी जा सकती थीं–

"सचमुच दृश्य यह अद्‌भुत अपूर्व है।
मित्र, अबलाएँ प्रबलाएँ दीखती हैं ये,
मानों शक्त मूर्तियों से शूरता है प्रकटी!
मेरे वीर-जीवन का बढ़ता विनोद है;
देखता है मानों वह स्वप्न एक जागता।"

इसी प्रकार कुछ कुछ परिवर्तन कर देने से मर्यादापुरुषोत्तम की मर्यादा की रक्षा की जा सकती थी। परन्तु मान्य मित्रों की राय हुई कि परिवर्तन करने से कवि का प्रकृत परिचय प्राप्त न हो सकेगा। कवि को उसके प्रकृत रूप में ही हिन्दी प्रेमियों के सामने उपस्थित करना चाहिए। इसलिए यह प्रयत्न नहीं किया गया।

पापी राक्षसों के प्रति कवि का इतना पक्षपात देखकर जान पड़ता है, लंका का राजकवि भी मेघनाद-वध में वर्णित घटनाओं का ऐसा ही वर्णन करता। हम लोगों ने भारतवर्षीय कवियों द्वारा वर्णित ''राम-चरित'' बहुत पढ़ा-सुना है। राक्षसों के कवि की कृति भी तो हमें देखनी चाहिए! रामभक्तों को इससे विरक्त होने की आवश्यकता नहीं। उनके लिए तो पहले से ही सन्तोष का कारण मौजूद है–

''भाव, कुभाव, अनख, आलस हू,
नाम जपत मंगल दिसि दस हू।''

पर्यवसान में एक बात ध्यान में आती है। वह यह कि अनेक दोष रहने पर भी मेघनाद-वध काव्य अपनी विचित्र वर्णनच्छटा के कारण उत्तरोत्तर आदरणीय हो रहा है। इससे सूचित होता है कि अन्त में सर्वसाधारण गुण के ही पक्षपाती होते हैं। दोषों की ओर उनका आग्रह नहीं होता। बस, अनुवादक के लिए यही एक भरोसे की बात है।

मधुसूदन के जीवनचरित-लेखक श्रीयुत योगीन्द्रनाथ बसु, बी.ए., मधु-स्मृति नामक ग्रन्थ के प्रणेता श्रीयुत नगेन्द्रनाथ सोम एवं मेघनाद-वध काव्य के उभय टीकाकार श्रीयुत दीनानाथ सन्याल, बी.ए. और श्रीयुत ज्ञानेन्द्रमोहन दास के निकट अनुवादक बहुत ऋणी है। उन्हीं के ग्रन्थों की सहायता से यह पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो रही है। अतएव अनुवादक ही क्यों, समस्त हिन्दीसंसार उनका आभार स्वीकार करेगा।

निवेदन समाप्त करने के पूर्व अनुवादक अपनी त्रुटियों के लिए, नम्र भाव से, बार बार क्षमा-प्रार्थी है।

–अनुवादक।

माइकेल मधुसूदन दत्त का जीवन चरित

[लेखक—श्रीमान् पण्डित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी]

अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्यैच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥
—श्रीकण्ठचरित।

(अर्थात्—आकाशगामिनी कीर्ति को, अपने ऊपर, छत्र के समान धारण करने वाला वही चक्रवर्ति कवि स्तुति के योग्य है, जिसकी इच्छा मात्र ही से शब्द और अर्थ रूपी सेना, आप ही आप, तत्काल उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है।)

वंगभाषा के विख्यात ग्रन्थकार बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है—

"कवि की कविता को जानने में लाभ है, परन्तु कविता की अपेक्षा कवि को जानने से और भी अधिक लाभ है। इसमें सन्देह नहीं। कविता कवि की कीर्ति है; वह हमारे हाथ ही में है; उसे पढ़ने ही से उसका मर्म विदित हो जाता है। परन्तु जानना चाहिए कि जो इस कीर्ति को छोड़ गया है उसने इसे किन गुणों के द्वारा, किस प्रकार छोड़ा है।"

"जिस देश में किसी सुकवि का जन्म होता है उस देश का सौभाग्य है। जिस देश में किसी सुकवि को यश प्राप्त होता है उस देश का और भी अधिक सौभाग्य है। जिनका शरीर अब नहीं है, यश ही उनका पुरस्कार है। जिनका शरीर बना है, जो जीवित हैं, उनको यश कहाँ? प्रायः देखा जाता है कि जो यश के पात्र होते हैं उनको जीते जी यश नहीं मिलता। जो यश के पात्र नहीं होते, वही जीते जी यशस्वी होते हैं। साक्रेटिस, कोपर्निकस, गैलीलिओ, दान्ते इत्यादि को जीवित दशा में कितना क्लेश उठाना पड़ा! वे यशस्वी हुए; परन्तु कब? मरने के अनन्तर!"

वंकिम बाबू की उक्ति से हम सहमत हैं। मनुष्य के गुणों का विकास प्रायः मरने

के अनन्तर ही होता है। जीवित दशा में ईर्ष्या, द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर रागद्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसीलिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित दशा में किसी के गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है। आनन्द का विषय है कि मधुसूदन दत्त के सम्बन्ध में ये दोनों बातें पाई जाती हैं। उनकी जीवित दशा ही में उनके देशवासियों ने उनका बहुत-कुछ आदर करके अपनी गुणग्राहकता दिखाई। और मरने पर तो उनका जितना आदर हुआ उतना आज तक और किसी वंग-कवि का नहीं हुआ।

मधुसूदन बाल्यावस्था ही से कविता करने लगे थे। परन्तु, उस समय, वे अँगरेज़ी में कविता करते थे; बँगला में नहीं। वे लड़कपन ही से विलास-प्रिय और शृंगारिक काव्यों के प्रेमी थे। अँगरेज़ी कवि बाइरन की कविता उनको बहुत पसन्द थी। उसका जीवनचरित भी वे बड़े प्रेम से पाठ करते थे। उनका स्वभाव भी बाइरन ही का-सा उच्छृंखल था। स्वभाव में यद्यपि वे बाइरन से समता रखते थे, तथापि बँगला काव्य में उन्होंने मिल्टन को आदर्श माना है। अँगरेज़ लोग मिल्टन को जिस दृष्टि से देखते हैं, बंगाली भी मधुसूदन को उसी दृष्टि से देखते हैं। मधुसूदन के 'मेघनाद-वध' की तुलना मिल्टन के 'पाराडाइज़ लास्ट' से की जाती है।

मधुसूदन के समय तक बँगला में अमित्राक्षर छन्द नहीं लिखे जाते थे। हमारे दोहा, चौपाई, छप्पय और घनाक्षरी आदि के समान उसमें विशेष करके पयार, त्रिपदी और चतुष्पदी आदिक ही छन्द प्रयोग किये जाते थे। लोगों का यह अनुमान था कि बँगला में अमित्राक्षर छन्द हो ही नहीं सकते। इस बात को माइकेल ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। वे कहते थे कि बँगला भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है, अतएव संस्कृत में यदि इतने सरस और हृदयग्राही अमित्राक्षर छन्द लिखे जाते हैं तो बँगला में भी वे अवश्य लिखे जा सकते हैं। इसको उन्होंने मेघनाद-वध लिख कर प्रमाणित कर दिया। इस प्रकार के छन्दों में इस अपूर्व वीर रसात्मक काव्य को लिख कर मधुसूदन ने वंग भाषा के काव्यजगत् में एक नये युग का आविर्भाव कर दिया। तब से लोग उनका अनुकरण करने लगे और आज तक बँगला में अनेक अमित्राक्षर छन्दोबद्ध काव्य हो गये। जब इस प्रकार के छन्द बँगला में लिखे जा सकते हैं, और बड़ी योग्यता से लिखे जा सकते हैं, तब उनका हिन्दी में भी लिखा जाना सम्भव है। लिखने वाला अच्छा और योग्य होना चाहिए। अमित्राक्षर लिखने में किसी विशेष नियम के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती। इन छन्दों में भी यति अर्थात् विराम के अनुसार ही पद-विन्यास होता है। वर्णस्थान और मात्राएँ भी नियत होती हैं। भेद केवल इतना ही होता है कि पादान्त में अनुप्रास नहीं आता। बँगला में पयार आदि मित्राक्षर छन्दों के अन्त में शब्दों का जैसा मेल होता है, वैसा अमित्राक्षर छन्दों में नहीं होता। एक बात और यह है कि मित्राक्षर छन्दों में जब जिस छन्द का आरम्भ

होता है तब उसमें अन्त तक समसंख्यक मात्राओं के अनुसार, सब कहीं, एक ही सा विराम रहता है। परन्तु मधुसूदन के अमित्राक्षर छन्दों में यह बात नहीं है। वहाँ सब छन्दों का भंग होकर सब के यति विषयक नियम यथेच्छ स्थान में रक्खे गये हैं—यति के स्थानों की एकता नहीं है। किसी पंक्ति में पयार छन्द के अनुसार आठ और चौदह मात्राओं के अनन्तर यति है और किसी में त्रिपदी छन्द के अनुसार छः और आठ मात्राओं के अनन्तर यति है। इत्यादि।

मधुसूदन दत्त की मृत्यु के 20 वर्ष पीछे बाबू योगेन्द्रनाथ वसु, बी.ए. ने उनका जीवनचरित बँगला में लिख कर 1894 ईसवी में प्रकाशित किया। उस समय तक माइकेल का इतना नाम हो गया था और उनके ग्रन्थों का इतना अधिक आदर होने लगा था कि एक ही वर्ष में इस जीवनचरित की 1000 प्रतियाँ बिक गयीं। अतएव दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। यह आवृत्ति 1895 ई. में निकली। इस समय यही हमारे पास है। शायद शीघ्र ही एक और आवृत्ति निकलने वाली है। यह कोई 500 पृष्ठ की पुस्तक है। इस पुस्तक की बिक्री का विचार करके बँगला भाषा के पढ़ने वालों का विद्यानुराग और उनकी मधुसूदन पर प्रीति का अनुमान करना चाहिए*। इसी पुस्तक की सहायता से हम मधुसूदन का संक्षिप्त जीवनचरित लिखना आरम्भ करते हैं।

बंगाल में एक यशोहर (जेसोर) नामक ज़िला है। इस ज़िले के अन्तर्गत कपोताक्ष नदी के किनारे सागर दाँड़ी नामक एक गाँव है। यही गाँव मधुसूदन की जन्मभूमि है। उनके पिता का नाम राजनारायण दत्त था। वे जाति के कायस्थ थे। राजनारायण दत्त कलकत्ते में एक प्रसिद्ध वकील थे। वे धन और जन इत्यादि सब वस्तुओं से सम्पन्न थे। उन्होंने चार विवाह किये थे। उनकी पहली पत्नी के जीते ही उन्होंने तीन वार और विवाह किया था। यह कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। बहु विवाह की रीति बंगाल में प्राचीन समय से चली आयी है। अब तक कुलीन गृहस्थ दो-दो, चार-चार विवाह करते हैं। इस कुरीति के विषय में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने एक बड़ी-सी पुस्तक लिख डाली है। मधुसूदन राजनारायण दत्त की पहली स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए। उनकी माता का नाम जाह्नवीदासी था। वे खुलनियाँ जिले के कटि-पाड़ा निवासी बाबू गौरीचरण घोष की कन्या थीं। यह घोष घराना भी दत्त घराने के समान सम्पन्न और सम्माननीय था। मधुसूदन की माता जाह्नवी पढ़ी-लिखी थीं। उनके गर्भ से, 1824 ईसवी की 25वीं जनवरी को मधुसूदन ने जन्म लिया।

मधुसूदन के पिता राजनारायण दत्त चार भाई थे। राजनारायण सब भाइयों में छोटे थे। मधुसूदन के पीछे दो भाई और हुए, परन्तु वे पाँच वर्ष के भीतर ही मर गये। उनके और कोई बहन-भाई नहीं हुए। जिस समय मधुसूदन का जन्म हुआ, उस समय दत्त-वंश विशेष सौभाग्यशाली था। चार भाइयों में सबसे छोटे राजनारायण

---

* थोड़े दिन हुए हैं कि माइकेल मधुसूदन दत्त के विषय में मधुस्मृति नाम का बँगला में और भी एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। यह कोई 900 पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

के मधुसूदन ही एक पुत्र थे। अतएव बड़े ही लाड़-प्यार से इनका पालन होता था। जो कुछ ये कहते थे वही होता था और जो कुछ ये माँगते थे वही मिलता था। यदि ये कोई बुरा काम भी करते अथवा करना चाहते थे तो भी कोई कुछ न कहता था। मधुसूदन की उच्छृंखलता का आरम्भ यहीं से—उनकी शैशवावस्था ही से—हुआ।

मधुसूदन सात वर्ष के थे जब उनके पिता ने कलकत्ते की सदर-दीवानी अदालत में वकालत करना आरम्भ किया। मधुसूदन ने सहदयता और बुद्धिमत्ता आदिक गुण अपने पिता की प्रकृति से और सरलता, उदारता, प्रेमपरायणता आदि अपनी माता की प्रकृति से सीखे। उनके माता-पिता बड़े दानशील थे। दुखित और दरिद्रियों के लिए वे सदा मुक्त-हस्त रहते थे। यह गुण उनसे उनके पुत्र ने भी सीखा। मधुसूदन जब कभी, किसी को, कुछ देते थे तब गिनकर न देते थे। हाथ में जितने रुपये-पैसे आ जाते, उतने सब, बिना गिने, वे दे डालते थे।

राजनारायण बाबू मधुसूदन को अपने साथ कलकत्ते नहीं ले गये। उन्हें वे घर ही पर छोड़ गये। वहाँ, अर्थात् सागरदाँड़ी की ग्राम-पाठशाला में मधुसूदन बड़े प्रेम से पढ़ने लगे। धनियों के लड़के प्रायः पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगाते, परन्तु मधुसूदन में यह बात न थी। वे बड़े परिश्रम, बड़े प्रेम और बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन करते थे। उनकी माता ने विवाह के अनन्तर लिखना-पढ़ना सीखा था।

वे बँगला में रामायण और महाभारत प्रेम से पढ़ा करती थीं और अच्छे-अच्छे स्थलों को कण्ठ कर लेती थीं। मधुसूदन जब बँगला पढ़ लेने लगे तब वे उनसे भी इन पुस्तकों को पढ़वातीं और उत्तम उत्तम स्थलों की कविता को कण्ठ करवाती थीं। मधुसूदन की काव्यप्रियता का यहीं से सूत्रपात हुआ समझना चाहिए। उनमें काव्य की वासना को उत्तेजित करने का मूल कारण उनकी माता ही हैं। क्रम-क्रम से मधुसूदन का प्रेम इन पुस्तकों पर बढ़ने लगा। वह यहाँ तक बढ़ा कि जब वे संस्कृत, फारसी, लैटिन, ग्रीक, अँगरेज़ी, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन आदि भाषाओं में बहुत कुछ प्रवीण हो गये, तब भी उन्होंने रामायण और महाभारत का पढ़ना न छोड़ा। जब वे क्रिश्चियन हो गये और उन्होंने सब प्रकार अँग्रेज़ी वेश-भूषा स्वीकार कर ली तब, उनके मद्रास से लौट आने पर, एक बार उनके एक मित्र ने उनको काशीदास कृत बँगला महाभारत पढ़ते देखा। यह देखकर उसने मधुसूदन से व्यंग्यपूर्वक कहा—"यह क्या? साहब लोगों के हाथ में महाभारत?" मधुसूदन ने हँसकर उत्तर दिया—"साहब हैं, इसलिए क्या किताब भी न पढ़ने दोगे? रामायण और महाभारत हमको इतने पसन्द हैं कि उनको बिना पढ़े हमसे रहा ही नहीं जाता।"

मधुसूदन के गाँव में जो पाठशाला थी, उसके जो अध्यापक थे वे भी कविता-प्रेमी थे। उनको फ़ारसी की कविता में अच्छा अभ्यास था। वे फ़ारसी की अच्छी-अच्छी कविताएँ अपने विद्यार्थियों से कण्ठ कराकर सुनते थे। मधुसूदन ने फ़ारसी की अनेक कविताएँ कण्ठ की थीं। उनके काव्यानुराग का एक यह भी कारण है।

मधुसूदन की जन्मभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य ने भी उनका काव्यानुराग बढ़ाया था।

हरे भरे खेत, सुन्दर कपोताक्ष नदी और नैसर्गिक सौन्दर्य ने उनके हृदय के कवित्व बीज को पल्लवित करने में सहायता पहुँचाई थी। सृष्टि सौन्दर्य की भाँति उनकी संगीत-प्रियता ने भी उनके हृदय पर अपना यथेष्ट प्रभाव डाला था। दुर्गा-पूजा के अवसर पर उनके यहाँ खूब गाना-बजाना हुआ करता था। उसे सुनकर वे बहुधा गद्‌गद हो जाते थे।

जब मधुसूदन कोई 12-13 वर्ष के हुए, तब उनके पिता उन्हें कलकत्ते ले गये। वहाँ खिदिरपुर में उन्होंने एक अच्छा मकान बनवाया था। कलकत्ते में मधुसूदन पिता के पास रहने लगे। पहले कुछ दिन खिदिरपुर की किसी पाठशाला में उन्होंने पढ़ा, फिर 1837 ईसवी में उन्होंने हिन्दू कॉलेज में प्रवेश किया। इस कॉलेज में वे 1842 ईसवी तक रहे। जिस समय उन्होंने इसे छोड़ा, उस समय उनको अँगरेज़ी में इतनी व्युत्पत्ति हो गयी थी जितनी बी.ए. परीक्षा में पास हुए विद्यार्थी को होती है। अँगरेज़ी-साहित्य में तो उन्होंने बी.ए. क्लास के विद्यार्थी से भी बहुत अधिक प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। 6 वर्ष में वर्णमाला से लेकर बी.ए. तक की शिक्षा प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। आजकल 6 वर्ष अँगरेज़ी पढ़कर लड़कों को बहुधा एक शुद्ध वाक्य भी अँगरेज़ी में लिखना नहीं आता। इन छः वर्षों में मधुसूदन ने अपने से अधिक अवस्था वाले और ऊँची क्लासों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों को भी अतिक्रम करके प्रशंसा और उसके साथ ही छात्रवृत्ति भी पाई। कॉलेज में अनेक ग्रन्थ पढ़ने के लिए उनका जैसा नाम था वैसा ही उत्तम अँगरेज़ी लिखने के लिए भी उनका नाम था। उनके बराबर अच्छी अँगरेज़ी और कोई लड़का नहीं लिख सकता था। वे पहले गणित में प्रवीण न थे। उनको गणित अच्छा न लगता था। इसलिए उनको गणित-शास्त्र के अध्यापक समय-समय पर, गणित में परिश्रम करने के लिए उपदेश दिया करते थे। एक बार उनके सहपाठियों में न्यूटन और शेक्सपीयर के सम्बन्ध में वाद-विवाद होने लगा और लोगों ने न्यूटन का पक्ष लिया, परन्तु काव्य-प्रेमी मधुसूदन ने शेक्सपियर ही को श्रेष्ठता दी। उन्होंने कहा कि—"इच्छा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है, परन्तु न्यूटन शेक्सपियर नहीं हो सकता।" उस दिन से वे गणित में परिश्रम करने लगे और थोड़े ही दिनों में गणित के अध्यापक के दिये हुए एक महा कठिन प्रश्न का उत्तर, जिसे क्लास में और कोई लड़का न दे सका, देकर अपने कथन को यह कहकर पुष्ट किया कि "क्यों, चेष्टा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है अथवा नहीं?"

मधुसूदन अपने पिता के अकेले पुत्र थे। घर में अतुल सम्पत्ति थी। अतएव लड़कपन ही से उनको व्ययशीलता के दोष ने घेर लिया। जैसे-जैसे वे तरुण होने लगे वैसे ही वैसे उनको वेषभूषा बनाने, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, अखाद्य खाने और अपेय पीने की अभिलाषा ने अपने अधीन कर लिया। वे मनमानी करने लगे। अपने सहपाठियों के साथ वे मांस-मदिरा का स्वाद लेने लगे, एक-एक मोहर देकर अँगरेज़ी नाइयों से बाल कटाने लगे और अपरिपक्व अवस्था ही में गौरांग नारियों के प्रेम की अभिलाषा करने लगे। अँगरेज़ी कवि लार्ड बाइरन के समान युवा होते ही अतृप्त प्रेमपिपासा के साथ भोगासक्ति और रूप-लालसा ने मधुसूदन को ग्रास कर लिया।

उस समय हिन्दू-कॉलेज के विद्यार्थी शराब और कबाब को सभ्यता में गिनते थे। इस आचरण के लिए उनके अध्यापक भी बहुत कुछ उत्तरदाता थे। कॉलेज के अध्यापकों में डिरोज़िओ और रिचार्डसन साहब आदि अध्यापक यद्यपि विद्या और बुद्धि में असाधारण थे, तथापि नीतिपरायण न थे। उनकी दुर्नीति, उनकी उच्छृंखलता और उनकी संयमहीन वृत्ति का बहुत कुछ प्रभाव उनके छात्रों पर पड़ा। मधुसूदन को जो कष्ट पीछे से भोगने पड़े, उनका अंकुर कॉलेज ही से उनके हृदय में उगने लगा था। स्वभाव ही से वे तरल-हृदय और प्रेमपिपासु थे। बाइरन की उन्मादकारिणी शृंगारिक कविता ने, जिसे वे बड़े आग्रह और आदर से पाठ करते थे, उनके मस्तक को और भी घूर्णित कर दिया। बाइरन के जीवनचरित को पढ़-पढ़कर मधुसूदन ने सुनीति और मिताचार की ओर पाठशाला ही से अवज्ञा करना सीख लिया।

सागरदाँड़ी में काशीदास और कृत्तिवास को पढ़ने, ग्राम-पाठशाला में फ़ारसी के अनेक शेरों को कण्ठ करने और हिन्दू-कॉलेज में रहने के समय बाइरन आदि अँगरेज़ी कवियों की कविता का आस्वादन करने से मधुसूदन को कविता लिखने की स्फूर्ति होने लगी।

बहुत ही थोड़ी अवस्था में उन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया, परन्तु अँगरेज़ी में, बँगला में नहीं। अपने सहपाठी लड़कों के साथ बातचीत करने के समय भी वे कविता में बोलने लगे, पत्र भी कविता में, कभी-कभी, लिखने लगे, और बाइरन का अनुकरण करके अनेक छोटी-छोटी शृंगारिक कविताएँ भी वे लिखने लगे। कॉलेज में उनके एक परम मित्र थे, उनका नाम था गौरदास वैशाख। उनको अपनी कविताएँ मधुसूदन प्रायः भेंट करते थे। उनसे कोई किताब माँगते अथवा उनको कोई किताब लौटाते समय जो वे पत्र लिखते थे वे भी कभी-कभी वे पद्य ही में लिखते थे। एक नमूना लीजिए—

Gour, excuse me that in verse
My muse desireth to rehearse
The gratitude she oweth thee,
I thank you and most heartily.
The notion that my friend thou art,
Makes me reject the fratterer's art.
Here is your book;—my thanks too here,
That as it was, and these sincere.
Believe me, most amiable sir,
your most devoted Servant,

Kidderpore.
THE POET.

इस अँगरेज़ी पद्य के नीचे मधुसूदन अपने को अपने ही हाथ से 'कवि' लिखते

हैं। इससे यह सिद्ध है कि बाल्यावस्था ही से उनको यह धारणा हो गयी थी कि वे कवि हैं। उनकी अँगरेज़ी शृंगारिक कविता का भी एक उदाहरण पाठकों के मनोविनोदार्थ हम यहाँ पर देते हैं–

MY FOND SWEET BLUE-EYED MAID

× × ×

When widely comes the tempest on,
When Patience with a sigh
The dreadful thunder-storm does shun
And Leave me O' love to die;
I dream and see my bonny maid;
Sudden smiling in my heart;
And oh! she receives my spirit dead
And bids the tempest part!
I smile–I'gin to live again
And wonder that I live;
O' tho' flung in an ocean of pain
I've moments to cease to grieve!
Dear one! tho' time shall run his race,
Tho' life dacay and fade,
Yet I shall love, nor love thee less,
"My fond sweet Blue-eyed Maid"!

Kidderpore
26 March, 1841. **M.S.D.**

युवावस्था में प्रवेश करने वाले 17 वर्ष के नवयुवक की यह शृंगारिक कविता है। इसे मधुसूदन ने 'एक अरविन्द लोचनी' को उद्देश्य करके लिखा है। इसी छोटी अवस्था में वे उस समय के अँगरेज़ी समाचार-पत्र और पत्रिकाओं में भी अपनी कविताएँ प्रकाशित कराते थे। यहाँ तक कि विलायत की पत्रिकाओं तक में छपने के लिए वे कविता भेजते थे। इस उत्साह को तो देखिए, इस योग्यता को तो देखिए, अँगरेज़ी में कविता करने की इस प्रवीणता को तो देखिए। हिन्दू-कॉलेज की छात्रावस्था में मधुसूदन ने लन्दन की एक प्रसिद्ध पत्रिका के सम्पादक को कुछ कविताएँ, छपने के लिए भेजी थीं। भेजते समय सम्पादक को जो पत्र उन्होंने लिखा था वह पढ़ने योग्य है। अतएव हम उसे यहाँ पर उद्धृत करते हैं। वह इस प्रकार है–

To

Ther Editor of Bentley's Miscellany,
London.

Sir,

It is not without much fear that I send you the accompanying pro-

ductions of my Juvenile muse, as contribution to your Periodical. The magnanimity with which you always encourage aspirants to 'Literary Frame', induces me to commit myself to you. 'Fame' Sir, is not my object at present, for I am really conscious.I do not deserve it, All that I require is encouragement. I have a strong conviction that a public like the British-discerning, generous and magnanimous—will not damp the spirit of a poor foreigner. I am a Hindu—a native of Bengal—and Study English at the Hindu college of Calcutta. I am now in my eighteenth year,—'a child'—to use the language of a poet of your land, Cowley. "in learning but not in age."

Calcutta Kidderpore,
October, 1842.

I REMAIN, ETC.

मधुसूदन की अँगरेज़ी में अशुद्धियाँ हों, उनकी कविता निर्दोष न हो, परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि 18 वर्ष के नवयुवक के लिए अँगरेज़ी में इतनी पारदर्शिता होना आश्चर्य्य की बात है। आज कल इलाहाबाद के विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा पास करने वालों को भी, बहुत प्रयत्न करने पर भी और कवित्व शक्ति का वीज उनके हृदय में विद्यमान होने पर भी, शायद ही मधुसूदन की ऐसी अँगरेज़ी कविता लिखना आवे। जव से मधुसूदन ने पाठशाला में प्रवेश किया तब से अन्त तक उन्होंने बहुत ही मनोयोग से विद्याध्ययन किया। उनकी बुद्धि और धारणाशक्ति विलक्षण थी। उनको अपने सहपाठियों का उत्कर्ष कभी सहन न होता था। क्लास में वे सबसे अच्छे रहने का यत्न करते थे और उनका स्थान प्रायः सदैव ही ऊँचा रहता था। कॉलेज की पुस्तकों के सिवा वे बाहर की पुस्तकें भी पढ़ते थे, कविता भी करते थे, लेख भी लिखते थे और साथ ही अपनी विलासप्रियता के लिए भी समय निकाल लेते थे। ये सब बातें उनकी असाधारण प्रतिभा और असाधारण बुद्धि का परिचय देती हैं।

कवित्वशक्ति मनुष्य के लिए अति दुर्लभ गुण है। कठिन परिश्रम अथवा देवानुग्रह के बिना वह प्राप्त नहीं होती। किन्तु प्रकृति ने यह दुर्लभ शक्ति मधुसूदन को मुक्तहस्त होकर दी थी। वे जिस समय जो भाषा पढ़ते थे, उस समय उसमें, थोड़े ही परिश्रम से, वे कविता कर लेते थे। उनको इस बात का विश्वास था कि वे यदि विलायत जावें तो वे अँगरेज़ी भाषा के महाकवि हुए बिना न रहें। यह बात उन्होंने अपने मित्र गौरदास को एक बार लिखी भी थी; यथा–

"I am reading Tom Moor's life of my favourite Byron. A splendid book upon my word. Oh! how should I like to see you write my life, If I happen to be a great poet, which I am almost sure, I should be if I can go to England!"

उनकी इच्छा थी कि गौरदास बाबू उनका जीवनचरित लिखें, परन्तु इस इच्छा

को एक-दूसरे ही सज्जन ने, उनके मरने के 20 वर्ष पीछे पूर्ण किया। इंग्लैण्ड जाने की उन्हें लड़कपन ही से अभिलाषा थी। यह अभिलाषा सफल भी हुई, परन्तु वहाँ जाने से उनको महाकवि का पद नहीं मिला। इसी देश में रह कर उनको महाकवि की पदवी मिली—यह पदवी अँगरेज़ी कविता के कारण नहीं, किन्तु बँगला कविता के कारण मिली। विदेशी भाषा में कविता करके महाकवि होने की अपेक्षा मातृभाषा ही में इस जगन्मान्य पदवी का पाना विशेष आदर और प्रतिष्ठा की बात है।

1843 ईसवी के आरम्भ में, मधुसूदन के जीवन में एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण उनको, पीछे से, अनेक आपदाएँ भोगनी पड़ीं। जिस समय वे हिन्दू-कॉलेज में पढ़ते थे, उस समय उनके माता-पिता ने उनका विवाह करना स्थिर किया। उनके लिए जो कन्या निश्चय हुई वह बहुत सुस्वरूप और गुणवती थी। वह एक धनसम्पन्न ज़मींदार की कन्या थी। यह बात जब मधुसूदन को विदित हुई तब उन्होंने अपनी माता से साफ़ कह दिया कि वे विवाह न करेंगे; परन्तु उनकी बात पर किसी ने ध्यान न दिया। उनके पिता राजनारायण ने समझा, लड़के ऐसा कहा ही करते हैं। जब विवाह के कोई 20-22 दिन रह गये, तब मधुसूदन ने एक बड़ा ही अनुचित काम करना विचारा। उन्होंने क्रिश्चियन धर्म की दीक्षा लेने का संकल्प दृढ़ किया। यह करके उन्होंने अपने मित्र गौरदास बाबू को लिखा—

''बाबा ने हमारा विवाह एक काले पहाड़ के साथ करना स्थिर किया है; परन्तु हम किसी प्रकार विवाह न करेंगे। हम ऐसा काम करेंगे जिसमें बाबा को चिरकाल दुःखित होना पड़ेगा।'' इसी समय, अर्थात् 27 नवम्बर, 1842 की आधी रात को खिदिरपुर से उन्होंने गौरदास बाबू को एक और पत्र अँगरेज़ी में लिखा, जिसमें उन्होंने अपने इंग्लैण्ड जाने का भी संकल्प बड़ी दृढ़ता से स्थिर किया; यथा—

You know my desire for leaving this country is too firmly rooted to be removed. The sun may forget to rise, but I cannot remove it from my heart. Depend upon it, in the course of a year or two more, I must either be in E–D or cease "to be" at all;—**One of these must be done!**

''सूर्य चाहे उदय होना भूल जावें; परन्तु इस देश को छोड़ने की इच्छा हमारे हृदय से अस्त नहीं हो सकती। वर्ष, दो वर्ष में या तो हम इं-ड ही में होंगे या कहीं भी न होंगे।'' मधुसूदन ने इस दृढ़ संकल्प को पूरा किया; परन्तु वर्ष-दो वर्ष में नहीं; कई वर्षों में।

मधुसूदन को विलायत जाने और एक गौरांग रमणी का पाणिग्रहण करने की प्रबल इच्छा थी। क्रिश्चियन होने से उन्होंने इस इच्छा का पूर्ण होना सहज समझा। इसलिए अपनी परम स्नेहवती माता और पुत्रवत्सल पिता का घर सहसा परित्याग करके उन्होंने क्रिश्चियन धर्मोपदेशकों का आश्रय लिया। उन्होंने मधुसूदन को कुछ दिन फोर्ट-विलियम के किले में बन्द रक्खा, जिसमें उनसे बातचीत करके कोई उनको उनके संकल्प से विचलित न कर दे। सब बातें यथास्थित हो जाने पर, 1843 ईसवी

की 9वीं फेब्रुअरी को उन्होंने, अपने अविचार की पराकाष्ठा करके, क्रिश्चियन धर्म की दीक्षा ले ली। उस समय से वे मधुसूदन दत्त के माइकेल मधुसूदन दत्त हुए। दीक्षा लेते समय उन्होंने अपना ही रचा हुआ यह पद गाया–

I

Long sunk in superstitious nights,
By sin and Satan driven,—
I saw not,—care not for the light
That leads the Blind to Heaven.

II

I sat in darkness,—Reason's eye
was shut,—was closed in me;
I hasten'd to Eternity!
O'er Error's dreadful sea!

III

But now, at length, thy grace, O Lord!
Bids all around me shine :
I drink thy sweet-thy precious word—
I kneel before thy shrine!

IV

I've broke Affection's tenderest ties
For my blessed Savior's sake;
All, all I love beneath the skies,
Lord! I for thee forsake!

यह कविता यथार्थ ही धार्मिक भावों से पूर्ण है। परन्तु हृदय का जो उच्छ्वास उन्होंने इसमें निकाला है, वही उच्छ्वास यदि उनमें स्थायी बना रहता तो क्या ही अच्छा होता। उनकी यह धर्म्मभीरुता और ईश्वरप्रीति केवल क्षणिक थी।

क्रिश्चियन होने के अनन्तर मधुसूदन ने विशप्स कॉलेज में प्रवेश किया। वहाँ वे कोई 4 वर्ष तक रहे। इन चार वर्षों में उन्होंने भाषा-शिक्षा और कवितानुशीलन में अधिक उन्नति लाभ की। परन्तु उनकी विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ-साथ उनकी उच्छृंखलता भी वहाँ बढ़ती गयी। हम यह नहीं कह सकते कि क्रिश्चियन होने ही से उनमें दुर्गुणों की अधिकता हो गयी और इसीलिए उनको आगे अनेक आपदाएँ भोग करनी पड़ीं। किसी धर्म की हम निन्दा नहीं करते। बात यह है कि मधुसूदन के समान तरल-मति, अपरिणामदर्शी और असंयत चित्त मनुष्य चाहे जिस

समाज में रहे और चाहे जिस धर्म से सम्बन्ध रक्खे, वह कभी शान्तिपूर्वक जीवन निर्वाह न कर सकेगा।

मधुसूदन के क्रिश्चियन होने से उनके माता-पिता को अनन्त दुःख हुआ। उनकी माता तो जीते ही मृतक-सी हो गयी। उसने भोजन-पान तक बन्द कर दिया। इसलिए राजनारायण बाबू मधुसूदन को कभी-कभी अपने घर बुलाने लगे। उन्हें देखकर उनकी माता को कुछ शान्ति मिलने लगी और वह किसी भाँति अन्न-जल ग्रहण करके अपने दिन काटने लगी। मधुसूदन के धर्मच्युत होने पर भी उनके माता-पिता ने उनको धन की सहायता से मुँह नहीं मोड़ा। वे उन्हें यथेच्छ धन देते रहे और उसे मधुसूदन पानी के समान उड़ाते रहे। कभी-कभी घर आने पर मधुसूदन और उनके पिता से धर्मसम्बन्धी वाद-विवाद भी होता था। इस विवाद में मधुसूदन अनुचित और कटूक्तिपूर्ण उत्तर देकर पिता को कभी कभी दुःखित करते थे। इस कारण सन्तप्त होकर पिता ने धन से उनकी सहायता करना बन्द कर दिया। बिना पैसे के मधुसूदन की दुर्दशा होने लगी। उनके इष्ट मित्र, अध्यापक और धर्माध्यक्ष, कोई भी उनके दुःखों को दूर न कर सके। कलकत्ते में उनको सब कहीं अन्धकार दिखलाई देने लगा। उनके मन की कोई अभिलाषा भी पूरी न हुई। न वे विलायत ही जा सके और जिस अँगरेज़ रमणी पर वे लुब्ध थे न वही उनको मिली। सब ओर से उनको निराशा ने आ घेरा।

मधुसूदन के साथ विशप्स कॉलेज में मदरास के भी कई विद्यार्थी पढ़ते थे। उनकी सलाह से उन्होंने मदरास जाना निश्चय किया। कलकत्ता छोड़ जाने ही में उन्होंने अपना कल्याण समझा। अतएव 1848 ईसवी में उन्होंने मदरास के लिए प्रस्थान किया। वहाँ जाकर धनाभाव के कारण उनको अपने नूतन धर्म के अवलम्बियों से सहायता के लिए प्रार्थना करनी पड़ी। उन्होंने उनकी सहायता की। माता-पिता-हीन, दरिद्र, क्रिश्चियन लड़कों के लिए वहाँ एक पाठशाला थी, उसमें मधुसूदन शिक्षक नियत किये गये। इस प्रकार धनाभाव सम्बन्धी उनका क्लेश कुछ कुछ दूर हो गया।

जब मधुसूदन हिन्दू-कॉलेज में थे तभी से उनको कविता लिखने और समाचार पत्रों में उसे छपाने का अनुराग था। मदरास में यह अनुराग और भी बढ़ा। वहाँ के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पत्र और पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। इस निमित्त समाचार पत्रों वाले उनकी सहायता भी करने लगे। मदरास ही से मधुसूदन की गिनती ग्रन्थकारों में हुई। उनकी दो अँगरेज़ी कविताएँ, जो पहले समाचार पत्रों में छपी थीं, यहीं पहले पहल पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इनमें से एक का नाम 'कैपटिव लेडी' (Captive Lady) और दूसरी का 'विज़न्स ऑफ दि पास्ट' (Visions of the Past) है। इन पुस्तकों के प्रकाशित होने पर मधुसूदन की गिनती अँगरेज़ी कवियों में होने लगी। केवल मदरास ही में नहीं, किन्तु विलायत तक के विद्वानों ने उनकी कविता की प्रशंसा की। परन्तु कलकत्ते के किसी किसी समाचारपत्र ने उनकी कविता की कड़ी आलोचना की। जैसा उत्साह उनको और और स्थानों से मिला वैसा कलकत्ते

से नहीं मिला। कई लोगों ने तो उनकी पुस्तकों की समालोचना करते समय उनकी दिल्लगी भी उड़ाई।

मदरास में मधुसूदन की एक इच्छा पूरी हुई। वहाँ, नील का व्यापार करने वाले एक साहब की लड़की ने उनसे विवाह किया। परन्तु इस विवाह से उन्हें सुख नहीं मिला। विवाह हो जाने पर, कई वर्ष पीछे, उनका सम्बन्ध उनकी पत्नी से छूट गया। गृहस्थाश्रम में रहकर जो सहिष्णुता, जो आत्मसंयम और जो स्वार्थत्याग आवश्यक होता है वह मधुसूदन से होना असम्भव था। इसलिए इतना शीघ्र पति-पत्नी में विच्छेद हो गया। इसके अनन्तर मदरास के प्रेसीडेंसी कॉलेज के एक अध्यक्ष की लड़की से मधुसूदन का स्नेह हुआ और यथा समय उससे उनका विवाह भी हो गया। यही पत्नी अन्त तक उनके सुख-दुःख की साथी रही।

मदरास में मधुसूदन वहाँ के एक मात्र दैनिक पत्र 'स्पेक्टेटर' (Spectator) के सहकारी सम्पादक हो गये। पीछे से वहाँ के प्रेसीडेंसी कॉलेज में उनको शिक्षक का पद मिला। सुलेखकों और सुकवियों में उनका नाम हो गया। सब कहीं उनका आदर होने लगा। परन्तु इतना होने पर भी उनको शान्ति और निश्चिन्तता न थी। उनका अनस्थिर चित्त, अयोग्य व्यवहार और अपरिमित व्यय उनको सदा क्लेशित रखता था। रुपये की उनको सदा ही कमी बनी रहती थी।

मधुसूदन ने अँगरेज़ी में यद्यपि बड़ी दक्षता प्राप्त की थी, तथापि उनको बँगला में एक साधारण पत्र तक लिखना न आता था। 18 अगस्त 1849 को उन्होंने अपने मित्र गौरदास को मदरास से एक पत्र भेजा। उसमें आप लिखते हैं–

"As soon as you get this letter write off to father to say that I have got a daughter. I do not know how to do the thing in Bengali."

''इस पत्र को पाते ही पिता को लिख भेजना कि हमारे एक लड़की हुई है। इस बात को हम बँगला में लिखना नहीं जानते।'' सो मेघनाद-वध काव्य के कर्ता को 1849 में, अर्थात् कोई 25 वर्ष की उम्र में, बँगला पत्र तक लिखना नहीं आता था।

मधुसूदन की वे दोनों अँगरेज़ी पुस्तकें, जिनके नाम हमने ऊपर लिखे हैं, यद्यपि अनेक विद्वानों को पसन्द आयीं और उनके कारण यद्यपि मधुसूदन का बड़ा नाम हुआ, तथापि कलकत्ते में कहीं कहीं उनकी तीव्र समालोचना भी हुई। उनको देखकर मधुसूदन के मित्रों ने उन्हें बँगला में कविता करने की सलाह दी। उस समय कलकत्ते में शिक्षा समाज (Education Council) के सभापति बेथून साहब थे। ये वही बेथून साहब थे जिनके नाम का कॉलेज अब भी कलकत्ते में वर्तमान है। उन्होंने मधुसूदन को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने बँगला काव्य की हीनदशा की समालोचना की; और मधुसूदन को यह सलाह दी कि उनके समान उत्साही कवि को अपनी ही भाषा में कविता करके, उसे उन्नत करना चाहिए। यह शिक्षा किं वा उपदेश मधुसूदन को पसन्द आया; और वे मातृभाषा के अनुशीलन के लिए तैयार हुए। उन्होंने संस्कृत,

ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषाएँ सीखना आरम्भ कर दिया। यह उन्होंने इसलिए किया जिसमें उनकी सहायता से वे वंगभाषा को परिमार्जित कर सकें। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में, जो उन्होंने गौरदास बाबू को लिखा था, स्पष्ट स्वीकार की है। उन्होंने अपनी उस समय की दिनचर्य्या इस प्रकार रक्खी थी—

6 से 8 बजे तक हेब्रू
8 से 12 बजे तक स्कूल
12 से 2 बजे तक ग्रीक
2 से 5 बजे तक तिलैगू और संस्कृत
5 से 7 बजे तक लैटिन
7 से 10 बजे तक अँगरेज़ी

भोजन शायद वे स्कूल ही में करते थे; क्योंकि उसके लिए उन्होंने कोई समय नहीं रक्खा। दिन-रात में 12 घंटे अध्ययन, 4 घंटे स्कूल और 8 घंटे विश्राम! ऐसा कठिन अध्ययन तो स्कूल के लड़कों में भी बिरला ही करता होगा।

मधुसूदन के मदरास जाने के 3 वर्ष पीछे उनकी माता का परलोक हुआ और 7 वर्ष पीछे पिता का। पिता के मरने पर मधुसूदन की पैत्रिक सम्पत्ति उनके आत्मीयों ने अपने अधिकार में कर ली। यह सम्पत्ति मधुसूदन के कलकत्ते लौट आने पर और न्यायालय में कई अभियोग चलाने पर उनको मिली। उनके माता-पिता की मृत्यु और उनकी स्थावर-जंगम सम्पत्ति की अवस्था का समाचार गौरदास बाबू ने उनको लिख भेजा। अतः मधुसूदन महाशय, महाशय क्यों साहब, कोई 8 वर्ष मदरास में रहकर 1856 की जनवरी में कलकत्ते लौट आये।

मधुसूदन के कलकत्ता लौट आने पर थोड़े ही दिनों में उनको श्रीहर्ष रचित रत्नावली नाटक का अँगरेज़ी अनुवाद करना पड़ा। उस समय कलकत्ते के सभ्य समाज को पहले ही पहल नाटक देखने का चाव हुआ। इसलिए पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचन्द्रसिंह और ईश्वरचन्द्र सिंह ने बेलगछिया में एक नाट्यशाला बनवाई। उसमें खेलने के लिए इन दोनों राजाओं की आज्ञा से पण्डित रामनारायण ने रत्नावली का बँगला अनुवाद किया। परन्तु यह समझ कर कि बँगला में खेल होने से अँगरेज़ दर्शकों को बहुत ही कम आनन्द आवेगा; उन्होंने इस नाटक का अनुवाद अँगरेज़ी में किये जाने की इच्छा प्रकट की। उस समय के सभ्य समाज में गौरदास बाबू भी थे। उनकी सलाह से यह काम मधुसूदन को दिया गया। मधुसूदन ने इस काम को बड़ी योग्यता से किया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने रत्नावली का अँगरेज़ी अनुवाद समाप्त करके पूर्वोक्त राजयुग्म को दिखलाया। उन्होंने तथा महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर आदि और भी कृतविद्य लोगों ने उसे बहुत पसन्द किया। राजाओं ने उसे अपने व्यय से छपाया और मधुसूदन को उनके परिश्रम के बदले 500) रुपये पुरस्कार दिया।

इस प्रकार सब तैयारी हो जाने पर 1858 ई. की 31 जुलाई को बेलगछिया की नाट्यशाला में रत्नावली का खेल हुआ। खेल के समय और और धनी, मानी,

अधिकारी और राजपुरुषों के सिवा बंगाल के छोटे लाट भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय बहुत ही उत्तम हुआ। वह इतना सुन्दर और हृदयग्राही हुआ कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसे देखकर सब सामाजिक मोहित हो गये। तब से मधुसूदन की प्रतिष्ठा का कलकत्ते में सूत्रपात हुआ। वे प्रसिद्ध कवि और प्रसिद्ध नाटककार गिने जाने लगे।

एक बार मधुसूदन के मित्रों ने यह कहा कि बँगला में कोई समयानुकूल अच्छा नाटक नहीं है; यदि होता तो रत्नावली के खेलने की आवश्यकता न थी। इस पर मधुसूदन ने एक बँगला नाटक लिखने की इच्छा प्रदर्शित की, जिसे सुनकर सब को आश्चर्य्य और कुतूहल, दोनों हुए। यह वे जानते थे कि बँगला में एक पत्र लिखते जिसका सिर दर्द करने लगता था वह कहाँ तक बँगला नाटक लिखने में समर्थ होगा! परन्तु उस समय उन्होंने इतना ही कहा कि ''प्रयत्न कीजिए''। मधुसूदन ने जान लिया कि उनके मित्रों को इस बात का विश्वास नहीं है कि वे बँगला में नाटक लिख सकेंगे। अतएव उनके संशय को निवृत्त करने के लिए वे चुपचाप 'शर्मिष्ठा नाटक' नाम की एक पुस्तक लिखने लगे। इस पुस्तक को उन्होंने थोड़े ही दिनों में समाप्त करके अपने मित्रों को दिखलाया। उसे देखकर सब चकित हो गये। जो मधुसूदन 'पृथ्वी' को 'प्र-थि-वी' लिखते थे, उनके इस रचना-कौशल को देखकर सब ने दाँतों के नीचे उँगली दबाई। 'शर्मिष्ठा नाटक' में पण्डित रामनारायण इत्यादि प्राचीन नाटक-प्रणाली के अनुयायियों ने अनेक दोष दिखलाये। उन्होंने उसे नाटक ही में नहीं गिना। परन्तु नवीन प्रथा वालों ने उसे बहुत पसन्द किया। पाइकपाड़ा के राजयुग्म और महाराजा यतीन्द्रमोहन ने उसे अभिनय के बहुत ही योग्य समझा। महाराजा यतीन्द्रमोहन ने तो उसमें अभिनय के समय गाने के लिए कई गीत स्वयं बनाये। पाइकपाड़ा के दोनों राजपुरुषों ने इसे भी अपने व्यय से छपाया और इस बार भी उन्होंने मधुसूदन को योग्य पुरस्कार दिया। 1858 ई. में शर्मिष्ठा नाटक प्रकाशित हुआ और 1859 के सेप्टेम्बर में वह बेलगछिया-नाट्यशाला में खेला गया। इसका भी अभिनय देखकर दर्शक वृन्द मोहित हुए और उन्होंने मधुसूदन की सहस्रमुख से प्रशंसा की।

मधुसूदन की 'शर्मिष्ठा' पण्डित रामनारायण के पास समालोचना के लिए भेजी गयी थी। रामनारायण ने उसमें बहुत कुछ फेरफार करना चाहा। इस विषय में मधुसूदन गौरदास बाबू को लिखते हैं :

I have no objection to allow a few alterations and so forth, but recast all my sentences—the Devil! I would sooner burn the theing.

''यदि दो चार फेर फार किये जावें तो कोई चिन्ता नहीं; परन्तु हमारे सभी वाक्यों को नये सिरे से लिखना! कदापि नहीं; ऐसा होने देने की अपेक्षा हम उसे जला देना ही अच्छा समझते हैं।'' मधुसूदन के समान उद्दण्ड और स्वतन्त्र स्वभाव वाले को दूसरे की की हुई काटकूट भला कब पसन्द आने लगी!

मधुसूदन का दूसरा नाटक 'पद्मावती' है। यह नाटक उन्होंने ग्रीक लोगों के

पौराणिक इतिहास के आधार पर लिखा है। घटना-वैचित्र्य में 'शर्म्मिष्ठा' की अपेक्षा 'पद्मावती' श्रेष्ठ है। परन्तु नाटकीय चरित-चित्रण-सम्बन्ध में शर्म्मिष्ठा की अपेक्षा इसमें मधुसूदन अधिकतर निपुणता दिखलाने में कृतकार्य्य नहीं हुए। 'पद्मावती' ही में पहले पहल उन्होंने अमित्राक्षर छन्दों का प्रयोग किया।

पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचन्द्र और ईश्वरचन्द्र जिस प्रकार मधुसूदन के गुणों पर मोहित थे, उसी प्रकार महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर भी मोहित थे। इन तीनों सत्पुरुषों ने मधुसूदन को अनेक प्रकार से सहायता और उत्साह दिया। एक दिन महाराजा यतीन्द्रमोहन और मधुसूदन में परस्पर इस प्रकार साहित्य-सम्बन्धी बातचीत हुई–

मधुसूदन–जब तक बँगला में अमित्राक्षर छन्दों का प्रयोग न होगा, तब तक काव्य और नाटक-ग्रन्थों की विशेष उन्नति न होगी।

महाराजा–बँगला की जैसी अवस्था है उसे देखने से उसमें ऐसे छन्दों के होने की बहुत कम सम्भावना है।

मधुसूदन–हमारा मत आपके मत से नहीं मिलता। चेष्टा करने से हमारी भाषा में भी अमित्राक्षर छन्द लाये जा सकते हैं।

महाराजा–फ्रेंच भाषा बँगला की अपेक्षा अधिक उन्नत है; उसमें भी जब ऐसे छन्द नहीं हैं तब बँगला में उनका होना प्रायः असम्भव है।

मधुसूदन–यह सत्य है; परन्तु बँगला भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है; संस्कृत में अमित्राक्षर छन्द हैं, तब वे बँगला में भी हो सकते हैं।

इस प्रकार कुछ देर तक वाद-विवाद हुआ। अन्त में मधुसूदन ने कहा–"यदि हम स्वयं एक ग्रन्थ अमित्राक्षर छन्दों में लिखकर आपको बतलावें तो आप क्या करेंगे?" इस पर महाराजा ने उत्तर दिया–"यदि ऐसा होगा तो हम पराजय स्वीकार करेंगे और अमित्राक्षर छन्दों में रचित आपके ग्रन्थ को हम अपने व्यय से छपवावेंगे।" यह बात मधुसूदन ने स्वीकार की और वे अपने घर आये।

मधुसूदन ने अपने 'पद्मावती नाटक' में ऐसे छन्दों का प्रयोग किया ही था; अब वे एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ऐसे छन्दों में लिखने लगे। इसका नाम उन्होंने 'तिलोत्तमा सम्भव काव्य' रक्खा। थोड़े ही दिनों में मधुसूदन ने इसे समाप्त करके महाराजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर, डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि को दिखलाया। देखते ही सब लोग चकित हो गये; मधुसूदन को सहर्ष धन्यवाद देने लगे; और सबने एक वाक्य से स्वीकार किया कि इस काव्य में अमित्राक्षर छन्दों की योजना करके मधुसूदन पूर्णरीति से कृतकार्य हुए हैं। महाराजा यतीन्द्रमोहन ने अपने वचन का पालन किया और 1860 ईसवी के मे महीने में उन्होंने 'तिलोत्तमासम्भव' को अपने व्यय से प्रकाशित कराया। इस काव्य को मधुसूदन ने महाराजा यतीन्द्रमोहन ही को अर्पण किया। अर्पण करने के समय का एक फोटो (चित्र) भी लिया गया। मधुसूदन के हाथ का लिखा हुआ यह काव्य अब तक महाराजा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसी समय से मधुसूदन के द्वारा बँगला में एक नवीन छन्द का प्रचार हुआ। इसी समय से बँगला भाषा का

कविता स्रोत एक नवीन मार्ग से प्रवाहित होने लगा।

तिलोत्तमासम्भव काव्य सुन्द-उपसुन्द के पौराणिक आख्यान का अवलम्बन करके रचा गया है। इसके कुछ अंश का अनुवाद मधुसूदन ने अँगरेज़ी में भी किया है। किसी नयी बात को होते देख लोग प्रायः कुचेष्टाएँ करने लगते हैं। और भाँति-भाँति से, भली-बुरी उक्तियों के द्वारा, अपने मन की मलिनता प्रकट करते हैं। मधुसूदन भी इससे नहीं बचे। अमित्राक्षर छन्दोबद्ध तिलोत्तमासम्भव के प्रकाशित होने पर उनको अनेक कटूक्तियाँ सुननी पड़ीं। लोगों ने उन पर हास्य रसमयी कविताएँ तक बनाईं। परन्तु मधुसूदन ने इन नीच अन्तःकरण वालों की ओर भ्रूक्षेप तक नहीं किया। उनके काव्य की डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि ने बहुत प्रशंसा की; जिसे पढ़कर अनेक रसिक जनों का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया।

शर्मिष्ठा नाटक की रचना के अनन्तर और तिलोत्तमासम्भव के प्रकाशित होने के पहले मधुसूदन ने दो प्रहसन भी लिखे। इनकी रचना उन्होंने 1859 और 1860 ईसवी में की। इन प्रहसनों में एक का नाम "एकेई कि नले सभ्यता"—(क्या इसी को सभ्यता कहते हैं) और दूसरे का "बूढ़ शालिकेर घाड़े रोंया"—(बुड्ढे शालिक पक्षी* की गरदन में रोयें) है। पहले में एक धनी वैष्णव के अँगरेज़ी-शिक्षित पुत्र की उपहासास्पद सभ्यता का वर्णन है; और दूसरे में भक्तप्रसाद नामक एक तिलक और मालाधारी वृद्ध वक-धार्मिक का एक मुसलमान तरुणी पर अनुराग और तज्जनित उसका उपहास वर्णन किया गया है।

इन दोनों प्रहसनों का अनुवाद हिन्दी में हो गया है। मधुसूदन के दो नाटकों का भी अनुवाद हिन्दी में हुआ है। उनकी और पुस्तकों का भी चाहे अनुवाद हुआ हो; परन्तु हमने इतनों ही को देखा है। जिन नाटकों का अनुवाद हमने देखा है उनके नाम हैं—'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती'। कृष्णकुमारी के विषय में हम आगे चलकर कुछ और कहेंगे। पद्मावती का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इन नाटकों और प्रहसनों के अनुवाद बनारस के भारत जीवन प्रेस में छपे हैं। कृष्णकुमारी के अनुवादक ने पुस्तक के नाम-निर्देशपत्र (Title Page) पर मधुसूदन का नाम नहीं दिया; केवल इतना ही लिखा है कि 'वंगभाषा से शुद्ध आर्य्य भाषा में अनुवाद'। परन्तु भीतर, भूमिका और नाटक की प्रस्तावना में, मधुसूदन का नाम उन्होंने दिया है। पद्मावती नाटक के अनुवादक वही हैं जो कृष्णकुमारी के हैं, परन्तु पद्मावती की प्रस्तावना में मधुसूदन का नाम उन्होंने नहीं लिखा और न टाइटिल पेज ही पर लिखा। टाइटिल पेज पर वही पूर्वोक्त वाक्य हैं—'वंगभाषा से शुद्ध आर्य्य भाषा में अनुवाद।' यह नाटकों के अनुवाद की बात हुई।

'क्या इसी को सभ्यता कहते हैं' इस नाम के प्रहसन में भी पद्मावती नाटक के समान मधुसूदन का कहीं भी नाम नहीं है। उसके नाम-निर्देश-पत्र पर अनुवादक महाशय ने केवल—"वंगभाषा से अनुवाद किया" इतना ही लिखा है। पात्रों के नाम

---

* शालिक=गलगल, गलगलिया, गलार।

जो मूल बँगला पुस्तक में हैं वही उन्होंने अनुवाद में भी रक्खे हैं। 'बुड्ढे शालिक की गरदन में रोयें' नामक प्रहसन के अनुवाद में विशेषता है। उसका नाम रक्खा गया है—'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखे तमाशे।' इस अनुवाद में न कहीं मधुसूदन ही का नाम है और न कहीं यही लिखा है कि वह बँगला से अनुवादित हुआ है। नाम-निर्देश-पत्र पर उलटा यह लिखा है कि अमुक अमुक की ''हास्यमयी लेखनी से लिखित।'' इसमें मूल पुस्तक के पात्रों के नाम भी बदल दिये गये हैं। भक्तप्रसाद के स्थान में नारायणदास, हनीफ़ गाज़ी के स्थान में मौला; गदाधर के स्थान में कलुआ आदि इस प्रान्त के अनुकूल नाम रक्खे गये हैं। जान पड़ता है, ये सब बातें भूल से अथवा भ्रम से हुई हैं; क्योंकि जिनको सब लोग हिन्दी लेखकों में आचार्य्य समझते हैं; और दूसरों को धर्मोपदेश देना ही जिनके घर का वनिज है; वे जान-बूझकर दूसरे की वस्तु को कदापि अपनी न कहेंगे।

1861 ईसवी के लगभग मधुसूदन ने चार ग्रन्थ लिखे : मेघनाद-वध, कृष्णकुमारी, व्रजांगना और वीरांगना। इस समय मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास समझना चाहिए। भाषा का लालित्य, भाव का उत्कर्ष और गाम्भीर्य्य तथा ग्रन्थगत चरित-समूह की पूर्णता आदि गुणों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि मधुसूदन के लिखे हुए इसी समय के ग्रन्थ उनकी ग्रन्थावली में सब से श्रेष्ठ हैं। व्रजांगना, कृष्णकुमारी और मेघनाद-वध ये तीनों ग्रन्थ मधुसूदन ने प्रायः एक ही साथ आरम्भ किये और प्रायः एक ही साथ समाप्त भी किये।

मधुसूदन के ग्रन्थों में मेघनाद-वध सब से श्रेष्ठ है। यह काव्य रामायण की पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। इसमें वीरकेसरी मेघनाद की मृत्यु का प्रतिपादन हुआ है। इस काव्य के राक्षस प्राचीन राक्षसों के से नहीं हैं। वे हमारे ही समान मनुष्य हैं। भेद इतना ही है कि मनुष्यों की अपेक्षा, वीरत्व, गौरव, ऐश्वर्य्य और शारीरिक बल आदि में वे कुछ अधिक हैं। मेघनाद-वध के कपि भी लम्बी लम्बी पूँछ और बड़े बड़े वालों वाले पशु नहीं हैं; वे भी साधारण मनुष्य ही हैं। राम और सीता भी ईश्वरावतार नहीं माने गये; वे भी साधारण नर-नारी-गण के समान सुख-दुःख-भागी और कर्म्मानुसार फल के भोग करने वाले कल्पित किये गये हैं। उनमें और मनुष्य में इतना ही अन्तर रक्खा गया है कि वे अपने तपोबल से देवताओं को प्रत्यक्ष कर सकते थे।

मेघनाद-वध में मधुसूदन ने अपनी कविता-शक्ति की चरम सीमा दिखलाई है। इसमें उन्होंने अमित्राक्षर छन्दों की योजना की है। इस काव्य में सब 9 सर्ग हैं; और उनमें तीन दिन-दो रात की घटनाओं का वर्णन है। यह वीर रस प्रधान काव्य है। इसकी कविता में कहीं कहीं वीर रस का इतना उत्कर्ष हुआ है कि पढ़ते पढ़ते भीरुओं के भी मन में उस रस का संचार हो आता है। ऐसी विलक्षण रचना, ऐसा उद्धत भाव और ऐसा रस-परिपाक शायद ही और किसी अर्वाचीन काव्य में हो। इस काव्य में मेघनाद की पत्नी प्रमिला का चरित बड़ा ही मनोहर है। मधुसूदन के

कल्पना-कानन का वह सर्वोत्कृष्ट कुसुम है। प्रमिला की कुलबधूचित कोमलता; पति के लिए उसका आत्मत्याग और वीरनारी को शोभा देने वाला उसका शौर्य्य अप्रतिम रीति से चित्रित किया गया है। इस काव्य के नवम सर्ग में मधुसूदन ने करुण रस की भी पराकाष्ठा दिखाई है। जिस प्रकार उनके वीर रसात्मक वर्णन में पढ़ते समय पढ़ने वालों की भुजा फड़कने लगती है, उसी प्रकार उनकी करुण रसात्मक उक्तियों को पढ़ते समय आँसू निकलने लगते हैं। अशोक-वन में बैठी हुई मूर्तिमती विरह-व्यथा-रूपिणी जानकी का और श्मशान-शय्या के ऊपर, स्वामी के पैरों के पास बैठी हुई, नवीन विधवा प्रमिला का चित्र देखकर कौन ऐसा पाषाण हृदय है जिसके नेत्रों से अश्रुधारा न निकलने लगे। बाबू रमेशचन्द्र दत्त ने इस काव्य के सम्बन्ध में मधुसूदन की जो प्रशंसा की है, यह यथार्थ है। वे कहते हैं–

The reader, who can feel and appreciate the Sublime, will rise trom a study of this great work with mixed sensation of veneration and awe, with which few poets can inspire him, and will candidly pronounce the bold author to be indeed a genius of a very high order, second only to the highest and greatest that have ever lived, like Vyas, Valmiki or Kalidas : Homer, Dante or Shakespeare.

Literature of Bengal, Page 176

रमेश बाबू कहते हैं कि स्वदेशियों में व्यास, वाल्मीकि अथवा कालिदास और विदेशियों में होमर, दान्ते अथवा शेक्सपियर ही के समान विख्यात ग्रन्थकारों का स्थान मधुसूदन से ऊँचा है, अर्थात् और कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते; सब उनके नीचे हैं।

संसार का नियम है कि प्रायः कोई वस्तु निर्दोष नहीं होती; सब में कोई न कोई दोष होता ही है।. कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में ठीक कहा है–

"प्रायेण सामग्र्य विधौ गुणानां,
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः।"

अर्थात्–गुणों की सम्पूर्णता प्रायः कहीं नहीं पाई जाती।

मेघनाद-वध भी निर्दोष नहीं है। उसमें यह दोष है कि रामचन्द्र और लक्ष्मण के चरित की अपेक्षा मेघनाद के चरित का अधिक उत्कर्ष वर्णन किया गया है। राम और लक्ष्मण के कथन और कार्य्य में कहीं कहीं भीरुता तक का उदाहरण पाया जाता है। मधुसूदन ने आर्य्यवंशियों की अपेक्षा अनार्य्य राक्षसों का कई स्थलों में पक्षपात किया है। उनके साथ उन्होंने अधिक सहानुभूति दिखलाई है। सम्भव है, आज कल के समय का विचार करके उन्होंने बुद्धिपुरःसर ऐसा किया हो।

प्रकाशित होते ही मेघनाद-वध का वंगदेश में बड़ा आदर हुआ। बाबू कालीप्रसन्नसिंह, राजा प्रतापचन्द्र, राजा ईश्वरचन्द्र, राजा दिगम्बर मित्र, महाराजा यतीन्द्रमोहन आदि

ने मिलकर मधुसूदन का अभिनन्दन करने के लिए उनकी अभ्यर्थना की। नियत समय पर एक सभा हुई, जिसमें मधुसूदन को एक अभिनन्दन पत्र और एक चाँदी का मूल्यवान पात्र उपहार दिया गया। अभी तक मधुसूदन का प्रकाश्य रूप में सम्मान नहीं हुआ था; परन्तु आज वह भी उन्हें प्राप्त हुआ।

मेघनाद-वध की पहली आवृत्ति एक ही वर्ष में बिक गयी। उसे लोगों ने इतना पसन्द किया कि शीघ्र ही उसकी दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। इस आवृत्ति में, कविवर बाबू हेमचन्द्र बन्द्योपाध्याय ने एक सुदीर्घ समालोचना लिखकर प्रकाशित की। उसके अतिरिक्त बाबू राजनारायण वसु और डाक्टर राजेन्द्रलाल मित्र आदि ने उसकी समालोचना समाचारपत्रों में प्रकाशित करके मधुसूदन का बहुत कुछ गौरव किया। इसलिए मधुसूदन, उस समय से, परम प्रतिष्ठित कवि हुए।

मधुसूदन का व्रजांगना-काव्य शृंगाररस-प्रधान है। उसमें अठारह कविताएँ हैं। इन कविताओं में प्रायः राधिका का विरह वर्णन है। कृष्णकुमारी नाटक की कथा मधुसूदन ने टाड साहब के राजस्थान से ली है। इस नाटक में कवि की शोकोद्दीपक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। यह बँगला भाषा में पहला विषादान्त नाटक है। संस्कृत के नाट्याचार्य्यों ने इस प्रकार के नाटक की रचना का निषेध किया है। परन्तु मधुसूदन किसी विधि-निषेध के अनुसार चलने वाले कवि न थे। और कोई कारण भी नहीं कि विषादान्त नाटक क्यों न हो? यदि प्रकृति-विशेष का चित्र दिखलाना ही नाटक का मुख्य उद्देश्य है तो उसका अन्त सुख में भी हो सकता है और दुःख में भी। बुरी प्रकृति वालों को अन्त में अवश्य ही दुःख मिलता है। अतएव नाटकों की रचना विषादान्त भी हो सकती है।

मदरास से कलकत्ते लौट आने पर मधुसूदन पुलिस की कचहरी में एक पद पर नियुक्त हो गये थे। वहीं वे अब तक काम करते थे। उनके परिवार में कोई लिखने योग्य घटना नहीं हुई। उनकी दूसरी स्त्री से उनको एक पुत्र था और एक कन्या। राजकार्य्य से, पुस्तकों की प्राप्ति से, और उनकी पैत्रिक सम्पत्ति से जो कुछ अर्थागम होता था उससे, एक मध्यवित्त गृहस्थ के समान, उनके दिन व्यतीत होते थे। इस समय वे बँगला भाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते थे। यद्यपि पारिवारिक जीवन सुख से बिताने के लिए उनको किसी बात का अभाव न था; परन्तु तिस पर भी, अभाग्य-वश, वे सुखी न थे। सुख, सांसारिक सामग्री पर अवलम्बित नहीं रहता। वह मन और आत्म-संयम ही पर विशेष करके अवलम्बित रहता है; परन्तु मन को संयत करना—उसे अपने अधीन रखना—मधुसूदन जानते ही न थे। अतएव मन को उच्छृंखलता के कारण धन, जन और यश इत्यादि किसी बात ने उनको आनन्दित नहीं किया। उनका जीवन अशान्ति ही में बीतता रहा। उनकी 'आत्मविलाप'* नामक कविता इस बात की गवाही देती है कि उनका जीवन गम्भीर यन्त्रणाओं में पड़कर चक्कर खाता रहता था। ग्रन्थ-रचना

---

* इस कविता का पद्यानुवाद इसी पुस्तक में अन्यत्र दिया गया है।

में लगे रहने से मधुसूदन को उनकी मर्म-कृन्तक व्यथाएँ कम सताती थीं।

'वीरांगना' काव्य को यद्यपि मधुसूदन ने 'मेघनाद-वध' इत्यादि पहले के तीन ग्रन्थों के साथ ही लिखना आरम्भ किया था; परन्तु उसकी समाप्ति उन्होंने 1862 ई. में की। 'वीरांगना' गीतिकाव्य है। प्रसिद्ध रोमन कवि ओविद (Ovid) रचित वीरपत्रावली (Heroic Epistles) को आदर्श मान कर मधुसूदन ने यह काव्य लिखा है। इसमें प्रसिद्ध पौराणिक महिलाओं के पत्र हैं; अर्थात् यह पुस्तक मधुसूदन की पत्राकार काव्यरचना है। इसमें इतने पत्र अथवा विषय हैं–

1–दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला।
2–चन्द्र के प्रति तारा।
3–कृष्ण के प्रति रुक्मिणी।
4–दशरथ के प्रति कैकेयी।
5–लक्ष्मण के प्रति शूर्पनखा।
6–अर्जुन के प्रति द्रौपदी।
7–दुर्योधन के प्रति भानुमती।
8–जयद्रथ के प्रति दुःशला।
9–शान्तनु के प्रति जाह्नवी।
10–पुरुरवा के प्रति उर्वशी।
11–नीलध्वज के प्रति जना।

यही इस काव्य के ग्यारह सर्ग हैं। इनमें से कोई सर्ग प्रेम-पत्रिका मय है; कोई प्रत्याख्यान-पत्रिकामय है; कोई स्मरणार्थ-पत्रिकामय है; और कोई अनुयोग-पत्रिकामय है। इस पुस्तक में तारा और शूर्पनखा आदि की प्रेम-भिक्षा जैसी हृदयद्रावक है, जाह्नवी की प्रत्याख्यान-पत्रिका भी वैसी ही कठोर है। 'वीरांगना' में भी मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास देखा जाता है; यह काव्य भी उनके उत्कृष्ट ग्रन्थों में है। परन्तु इसके आगे मधुसूदन की प्रतिभा का ह्रास आरम्भ हुआ। इसके बाद वे कोई अच्छा ग्रन्थ लिखने में समर्थ नहीं हुए। बाबू राजनारायण बसु के अनुरोध से मधुसूदन सिंहल-विजय नामक एक और काव्य लिखने लगे थे; परन्तु उसका आरम्भ ही करके वे रह गये।

अपने मित्रों की सलाह से मधुसूदन ने पहले ही से कानून की किताबें देखना आरम्भ कर दिया था। अब, अर्थात् जून 1862 ईसवी में उन्होंने–वैरिस्टर होने की इच्छा से–बिलायत जाना निश्चय किया। एक विश्वस्त पुरुष को उन्होंने अपनी पैत्रिक सम्पत्ति का प्रबन्धकर्ता नियत किया। उससे उन्होंने यह स्थिर कर लिया कि कुछ रुपया वह प्रति मास उनकी पत्नी को दे और कुछ उनके खर्च के लिए वह बिलायत भेजे। यह सब प्रबन्ध ठीक करके 9 जून, 1862 को उन्होंने कलकत्ते से प्रस्थान किया। चलने के पहले, 4 जून को, उन्होंने अपने मित्र राजनारायण बाबू को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने यह वचन दिया कि विलायत जाकर भी वे अपनी स्वदेशीय कविता को न भूलेंगे, और प्रमाण की भाँति चलते चलते, पत्र के साथ ही,

उन्होंने एक कविता भी भेजी। यह कविता उन्होंने अँगरेज़ी कवि लार्ड बाइरन की—"My Native Land Good-Night!" इस पंक्ति को सूत्र मान कर रची। इसका नाम है—''वंग भूमि के प्रति।'' यह बहुत ही ललित और हृदयग्राहिणी कविता है। यह लिखकर पत्र को समाप्त करने के पहले राजनारायण बाबू को मधुसूदन लिखते हैं—

Here you are, old Raj!—All that I can say is—

"मधुहीन करो ना गो तव मनः कोकनदे"

Praying God to bless you and yours and wishing you all success in life.

I remain,

Ever your affectionate friend,

MICHAEL M.S. DUTTA.

इस अवतरण में बँगला की जो एक उक्ति उद्धृत है, वह बहुत ही मनोरम और सामयिक है। उसके द्वारा मधुसूदन अपने मित्र राजनारायण से कहते हैं कि अपने मनोरूपी कमल में मधु की हीनता न होने देना; अथवा अपने मनोमय कमल को मधुहीन न करना। इस उक्ति में 'मधु' शब्द के दो अर्थ हैं। मधु=पुष्परस तथा मधुसूदन के नाम का पूर्वार्द्ध। इसके द्वारा मधुसूदन ने राजनारायण से यह प्रार्थना की कि ''तुम हमें भूल मत जाना।''

1862 ईसवी के जुलाई महीने के अन्त में मधुसूदन इंगलैण्ड में उपस्थित हुए और वैरिस्टरी का व्यवसाय सीखने के लिए 'ग्रेज़ इन' (Grey's Inn) नामक संस्था में उन्होंने प्रवेश किया। जिस व्यवसाय में वे प्रवृत्त हुए वह उनके योग्य न था। उसमें उनका आन्तरिक अनुराग न था। बिना अनुराग किसी काम में प्रवृत्त होने से जो फल होता है, वही फल मधुसूदन को भी मिला। किसी प्रकार वैरिस्टर होकर, दो वर्ष के स्थान में चार-पाँच वर्ष बिलायत रह कर, वे कलकत्ते लौट आये; परन्तु वैरिस्टरी के व्यवसाय में उनको सफलता नहीं हुई। बिलायत जाने में मधुसूदन का एक और उद्देश यह था कि वहाँ कुछ काल रहकर वे विदेशी भाषाएँ सीखें। यह उद्देश उनका बहुत कुछ सफल हुआ। अँगरेज़ी तो उनकी मातृभाषा के समान हो गई थी; उसके अतिरिक्त उन्होंने फ्रेंच, इटालियन, लैटिन, ग्रीक और प्रोर्चुगीज़ भाषाओं में विशेष विज्ञता प्राप्त की। इनमें ये बिना किसी क्लेश के बातचीत करने और पत्र आदि लिख सकने लगे। फ्रेंच और इटालियन में तो वे कविता तक करने लगे। इन छः भाषाओं के सिवा संस्कृत, फारसी, हेब्रू, तामिल, तिलैगू और हिन्दी में भी उनको अल्पाधिक विज्ञता थी। बँगला तो उनकी मातृभाषा ही थी। इस प्रकार इंगलैण्ड जाने से उनकी बहुभाषा-विज्ञता बढ़ गयी। अनेक विदेशी भाषाओं में उन्होंने लिखने-पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर ली। इस देश के विद्वानों में, जहाँ तक हम जानते हैं, किसी दूसरे ने इतनी भाषाएँ नहीं सीखीं।

इंगलैण्ड जाने से उनका भाषा-ज्ञान अवश्य बढ़ गया; परन्तु उसके साथ ही उनकी आपदाएँ भी बढ़ गयीं। उनके ग्रन्थों के समान उनका जीवन भी एक विषादान्त काव्य समझना चाहिए। कलकत्ते में, मदरास में, बिलायत में, सब कहीं, उनको दुःख और परिताप के सिवा सुख और समाधान नहीं मिले।

मधुसूदन का इंगलैण्ड जाना ही उनकी भावी आपत्तियों का मूल कारण हुआ। जिन लोगों पर उन्होंने अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध आदि का भार अर्पण किया था, वे महीने-दो महीने में ही अपने कर्त्तव्य पालन से पराङ्मुख हो गये। न उन्होंने मधुसूदन ही को कुछ भेजा और न उनके कुटुम्ब के पालने के लिए उनकी स्त्री ही को कुछ दिया। अतएव उनकी स्त्री की बुरी दशा होने लगी; निरन्न रहने तक की उसे नौबत आ गयी। जब उसने पेट पालने का और कोई उपाय न देखा तब लाचार होकर वह भी मधुसूदन के पास इंगलैण्ड जाने के लिए तैयार हुई। किसी प्रकार मार्ग के खर्च का प्रबन्ध करके, अपने पुत्र और अपनी कन्या को लेकर, मधुसूदन के जाने के एक वर्ष पीछे, वह भी उन्हीं की अनुगामिनी हुई। वह भी इंगलैण्ड में मधुसूदन के पास जा पहुँची। मधुसूदन पहले ही से रुपये-पैसे से तंग थे; स्त्री के जाने से उनकी दुर्दशा का ठिकाना न रहा। वह दुर्दशा प्रति दिन बढ़ने लगी; बढ़ने क्या लगी, 'पांचाली का चीर' हो गई। बिलायत का वास, चार मनुष्यों का खर्च; प्राप्ति एक पैसे की नहीं! मधुसूदन ने कुछ रुपये बाबू मनोमोहन घोष से उधार लिये। ये भी उस समय वैरिस्टरी सीखने इंगलैण्ड गये थे। कुछ 'ग्रेज़ इन' के अधिकारियों से लिये; कुछ किसी से कुछ किसी से। किसी प्रकार कुछ दिन उन्होंने वहाँ और काटे। कलकत्ते को उन्होंने अनेक करुणोत्पादक पत्र लिखे, परन्तु वहाँ से एक पैसा भी न आया। उस समय उनको कोई 4000 रुपये अपने प्रबन्धकर्ताओं से पाने थे; और उनकी पैत्रिक सम्पत्ति से कोई 1500 रुपये साल की प्राप्ति थी। तिस पर भी मधुसूदन को बिलायत में 'भिक्षां देहि' करना पड़ा! 'ग्रेज़ इन' के अधिकारियों ने उनको, उनके ऋण और निर्धनता के कारण, अपनी संस्था में आने से रोक दिया। कुछ काल के लिए मधुसूदन फ्रांस चले गये; वहाँ उनको जेल तक की हवा खानी पड़ी और उनकी स्त्री लड़कों को अनाथालय का आश्रय लेना पड़ा!!!

जब मधुसूदन को सब ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा और जब उन्होंने अपने और अपने कुटुम्ब के बचने का और कोई मार्ग न देखा तब उन्होंने विद्यासागर का स्मरण किया। उनको उन्होंने एक बड़ा ही हृदयद्रावक पत्र लिखकर अपने ऊपर दया उत्पन्न करने की उनसे प्रार्थना की और धन की सहायता माँगी। अपनी सब सम्पत्ति को बेच कर 15000 रुपये भेजने के लिए पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को उन्होंने लिखा और अपने पत्र को इस प्रकार समाप्त किया–

"I hope you will write to me in France and that I shall live to go back to India and tell my countrymen that you are not only vidyasagar but Karunasager also."

मधुसूदन की प्रार्थना सफल हुई। विद्यासागर ने करुणासागर होने का परिचय दिया। उन्होंने मधुसूदन को यथेच्छ द्रव्य भेज कर उनकी अकाल मृत्यु को टाला। मधुसूदन ने किसी प्रकार वैरिस्टरी के व्यवसाय का आज्ञापत्र लेकर, स्वदेश के लिए प्रस्थान किया।

1867 ईसवी के मार्च महीने में मधुसूदन कलकत्ते लौट आये और हाईकोर्ट में वैरिस्टरी करने लगे। परन्तु इस व्यवसाय में उनको सफलता नहीं हुई। शुष्क कानूनी वाद-प्रतिवाद में उनका चित्त नहीं लगा। न्यायाधीशों को उनके भाषण से सन्तोष नहीं हुआ। उनके कण्ठ का स्वर भी अच्छा न था। इन्हीं कारणों से वे वैरिस्टरी में कृत कार्य्य न हुए। उधर पैत्रिक सम्पत्ति के बिक जाने से उससे जो प्राप्ति थी वह बन्द हो गई; और इधर वैरिस्टरी न चलने से प्राप्ति का दूसरा मार्ग भी बन्द हो गया। पुस्तकों की बिक्री से जो कुछ मिलता था उससे मधुसूदन के समान व्ययी मनुष्य का क्या हो सकता था। क्रम क्रम से उनका जीवन कण्टकमय होता गया।

योरप से लौट आने पर 6 वर्ष तक मधुसूदन जीवित रहे। इस मध्यान्तर में वे कोई विशेष साहित्य-सेवा नहीं कर सके। उनका समय प्रायः पेट को पालने ही के उद्योग में गया। परन्तु वे आजन्म कवि थे; अतएव इस दुरवस्था के समय में भी, कुछ न कुछ, उन्होंने लिखा ही। एक तो उन्होंने अँगरेज़ी 'ईसाप्स फेबल्स' की मुख्य मुख्य कथाओं के आधार पर कई नीतिमूलक कविताएँ लिखीं। उनकी रचना उन्होंने 1870 ईसवी में की। इस पुस्तक को समाप्त करके उसे पाठशालाओं में प्रचलित कराने की उनकी इच्छा थी। यदि पुस्तक पूर्ण हो जाती और उसका प्रचार पाठशालाओं में हो जाता तो मधुसूदन का धन-कष्ट कुछ कम हो जाता; परन्तु दुर्दैव-वश पुस्तक ही नहीं समाप्त हुई। ग्रीक कवि होमर कृत इलियड नामक काव्य को आदर्श मानकर मधुसूदन ने 'हेक्टर-वध' नामक एक काव्य भी आरम्भ किया था; परन्तु इलियड के 12 सर्ग ही तक की कथा का समावेश वे अपने काव्य में कर सके; शेष भाग असमाप्त ही रह गया। 'माया-कानन' नामक एक नाटक भी उन्होंने लिखना आरम्भ किया था; वह भी वे समाप्त न कर सके। उसका जितना अंश खण्डित था उसे वंग देश की नाट्यशाला के अध्यक्षों ने पूर्ण करके मधुसूदन की मृत्यु के पीछे उसे प्रकाशित किया।

पाँच वर्ष तक मधुसूदन ने हाईकोर्ट में वैरिस्टरी की। परन्तु यथेच्छ प्राप्ति न होने से उनका ऋण बढ़ता गया। ऋण के साथ ही साथ उनके क्लेश की सीमा भी बढ़ती गई। जब ऋण देने वालों ने उनको बहुत तंग करना आरम्भ किया तब मानसिक यन्त्रणाओं से बचने के लिए मधुसूदन मद्य पीने लगे। क्रम क्रम से मद्य की मात्रा बढ़ने लगी। वह यहाँ तक बढ़ी कि उनको अनेक रोग हो गये। उनके मित्रों ने यथासम्भव उनकी सहायता की; परन्तु दूसरों के दान पर मधुसूदन का काम कितने दिन चल सकता था। उनको भोजन-वस्त्र तक का कष्ट होने लगा। किसी किसी दिन निराहार रहने तक

की नौबत आने लगी। इस अवस्था को पहुँच कर भी मधुसूदन ने अपनी उदारता और व्ययशीलता नहीं छोड़ी। एक दिन उनका एक मित्र अपने एक परिचित को उनके पास कुछ कानूनी राय पूछने के लिए लाया। मधुसूदन ने राय दी; परन्तु फ़ीस लेने से इनकार किया। मित्र के मित्र से फ़ीस कैसी! इस समय मधुसूदन के घर में एक पैसा भी न था। उन्होंने उस मनुष्य से फ़ीस तो न ली; परन्तु अपने मित्र से पाँच रुपये अपनी स्त्री के लिए उधार माँगे! यह उनकी उदारता का जाज्वल्यमान प्रमाण है!!! उदार तो वे इतने थे; परन्तु किसी से ऋण लेकर उसे देना नहीं जानते थे; और ऋण लेकर भी रुपये को पानी के समान बहाते थे! जब उनके नौकर और ऋणदाता पैसे के लिए उनके द्वार पर और कभी-कभी घर के भीतर भी, कुलाहल करते थे, तब वे अपने कमरे में जाकर जर्मन और इटालियन कवियों की कविता का स्वाद लेते थे!

कुछ काल में मधुसूदन के रोग ने असाध्य रूप धारण किया। उनकी स्त्री भी, घर की विपन्न अवस्था और रोग आदि कारणों से, निर्वल और व्यथित हो चली। पथ्य-पानी का मिलना भी कठिन हो गया। जिस मधुसूदन ने लड़कपन में राजसीठाठ से अपने दिन काटे, उसका वस्त्र-आभूषण और वर्तन आदि गृहस्थी का सामान सब धीरे-धीरे बिक गया। मधुसूदन की स्त्री का भी रोग बढ़ चला और उनका तो पहले ही से बढ़ा हुआ था। जब मधुसूदन के मित्रों ने देखा कि उनके पास एक पाई भी नहीं है और घर में उनके मुँह में पानी डालने वाला भी कोई नहीं है; तब उन्होंने उनको अलीपुर के अस्पताल में पहुँचाया। वहाँ पहुँचने के दो-तीन दिन पीछे मधुसूदन की स्त्री ने इस लोक से प्रस्थान किया। उसकी मृत्यु का संवाद सुनकर मधुसूदन को जो कष्ट हुआ उसका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी जो दुर्दशा हो रही थी वह मानों उनकी अविवेकता का पूरा प्रायश्चित्त न थी; इसीलिए ईश्वर ने शायद उनको यह पत्नी-वियोग रूपी दारुण दुख मरने के समय दिया। इस दुःख को उन्हें बहुत दिन नहीं सहना पड़ा। 1873 ईसवी की 29वीं जून को मधुसूदन ने भी प्राण परित्याग किया। ऐसे अद्वितीय बँगला कवि का विषादान्त जीवन समाप्त हो गया।

जिस समय मधुसूदन की मृत्यु हुई, उनके दो पुत्र और एक कन्या थी। ज्येष्ठ पुत्र मिल्टन और कन्या शर्मिष्ठा ने परलोक-गमन किया। परन्तु उनके कनिष्ठ पुत्र अलवर्ट नपोलियन इस समय अफ़ीम के मोहकमे में कहीं काम करते हैं। मधुसूदन के अनन्तर उनके मित्रों ने उनकी सन्तान के पालन-पोषण तथा शिक्षण इत्यादि का यथोचित प्रबन्ध किया। उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाई।

मधुसूदन के मरने पर 15 वर्ष तक, उनकी समाधि इत्यादि का कोई अच्छा प्रबन्ध नहीं हुआ; परन्तु 1888 की पहली दिसम्बर को उनकी समाधि का संस्कार होकर उस पर एक स्तम्भ खड़ा किया गया। इस कार्य्य के लिए वंगदेश के अनेक कृतविद्य लोगों ने सहायता की। उस स्तम्भ पर मधुसूदन ही की रची हुई कविता खोदी गयी। यह कविता, मरने के दो तीन वर्ष पहले, मधुसूदन ने लिखी थी। उसे

हम नागरी अक्षरों में नीचे उद्धृत करते हैं–
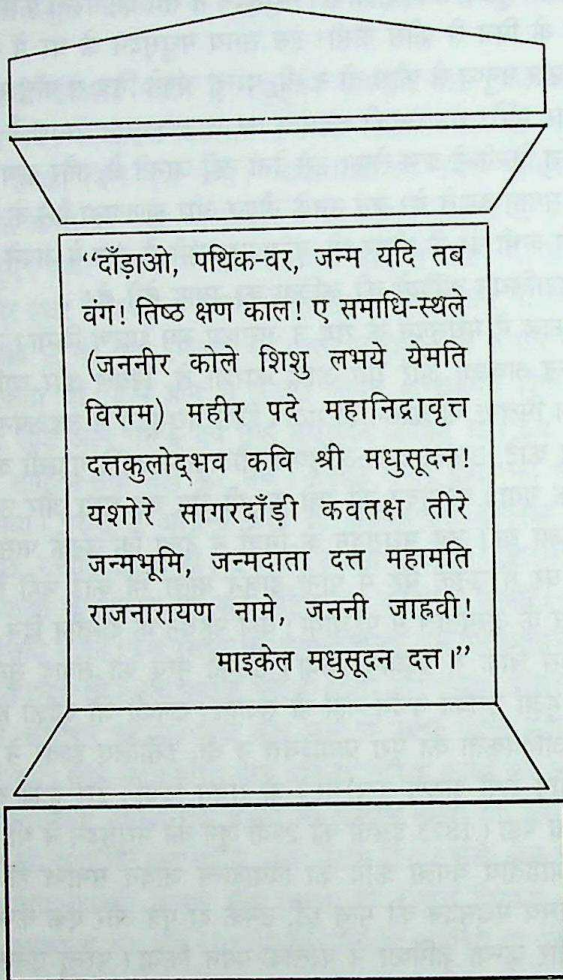
माइकेल का समाधि-स्तम्भ

इसका शब्दार्थ हिन्दी में, पंक्ति प्रति पक्ति इस प्रकार होगा—

"खड़े हो, पथिक-वर, जन्म यदि तव
वंग में, ठहरो थोड़ी देर! इस समाधिस्थल पर
(माता की गोद में शिशु प्राप्त करता है जिस प्रकार
विश्राम) पृथ्वी के पद में (है) महानिद्रावृत—
दत्त कुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन!
यशोर में सागरदाँड़ी कवतक्ष-तीर
जन्मभूमि, जन्मदाता दत्त महामति
राजनारायण नाम, जननी जाह्नवी!"

मधुसूदन का समाधि-स्तम्भ स्थापन करके उनके देशवासियों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। जिसने वंगभाषा को अपनी अप्रतिम कविता से इतना अलंकृत किया, उसका, इस प्रकार, मरणोत्तर आदर होना, बहुत ही उचित हुआ। यों तो, जब तक बँगला भाषा का अस्तित्व है तब तक मधुसूदन की यशःपताका, सब काल, वंग देश में फहराती रहेगी। उनके लिए समाधि-स्तम्भ आदि की विशेष आवश्यकता नहीं। उनका समाधि-स्तम्भ और उनकी प्रतिमा (Statue) उनके ग्रन्थ ही हैं।

(जुलाई, अगस्त 1903 की सरस्वती से उद्धृत)

वंग भूमि के प्रति

"My Native Land Good night!"
Byron.

रहे दास की याद, पदों में यही विनय है मात!
साधन करने में अनुकूल,
हो जावे यदि मुझसे भूल,
मधु-विहीन होने मत देना निज मानस-जलजात॥

जो प्रवास में गात्र-गगन से जीव रूप नक्षत्र।
खस जावे तो खेद नहीं,
जहाँ जन्म है मृत्यु वहीं;
जीवन-नद का नीर अनस्थिर रहता है सर्वत्र॥

पर यम का भय मुझे नहीं है रक्खो यदि तुम याद।
चींटी भी कब गलती है—
अमृत-कुण्ड में पलती है
वही धन्य है जो नर-कुल का पावे स्मृति-प्रसाद॥

पर किस गुण से, माँगूँ तुम से, मैं ऐसा अमरत्व?
तो भी यदि तुम कृपा करो,
दोष भूल गुण हृदय धरो,
तो श्यामा, जन्मदे, सुवरदे, दो बस यही महत्व—

विकसित रहूँ सदा स्मृति-जल में, हो वह मेरा सद्म।
क्या वसन्त, क्या शरत्समय,
रह कर सदा सरस मधुमय,
रहता है प्रफुल्ल मानस में जैसे प्यारा पद्म॥

आत्म-विलाप

आशा की छलना में पड़ कर
मैंने क्या फल पाया हाय!
काल-सिन्धु की ओर जा रहा
जीवन का प्रवाह निरुपाय।
दिन दिन दूर जा रहे दोनों
आयुर्बल का है यह हाल,
तो भी नहीं मिटा आशा का
नशा, अहो, कैसा जंजाल!

रे प्रमत्त मन, कब जागेगा?
कब बीतेगी तेरी रात?
यौवन-सुमन रहेगा कब तक
जीवन के उपवन में तात?
दूर्वा-दल पर जल-कण कब तक
झलमल होकर खिलता है?
क्षण में जल-बुद्बुद जल में ही
देख, निरन्तर मिलता है॥

निशा-स्वप्न से सुखी सुखी है?
जगता है वह रोने को,
तड़िता है तम मात्र बढ़ाती
पथिक-दृष्टि ही खोने को।
मरुस्थली में तृषा बढ़ा कर
मृगतृष्णा लेती है प्राण,
यों ही आशा की छलना से
हो सकता है किसका त्राण?

पहनी आप प्रेम की बेड़ी
तुझे कौन फल मिला भला?
हा! ज्वलन्त ज्वाला पर भर कर
तू पतंग-सा कूद जला।
काल-जाल में फँसा आप ही
कुछ भी देखा-सुना नहीं;
रोता है अबोध, अब, फिर भी
मिल सकती है शान्ति कहीं?

व्यर्थ अर्थ के अन्वेषण में
तू ने क्या बाक़ी छोड़ा?
उलटे काँटे लगे नाल के
जब तू ने अम्बुज तोड़ा!
हर न सका मणि हाथ बढ़ा कर
काल फणी से डसा गया,
भूलेगा कैसे उस विष की
ज्वाला? मन, तू हँसा गया!

यशो-लाभ-लोभी हो बैठा
कितना वयस वृथा खोकर,
कुसुम काटने जाय कीट ज्यों
अन्ध गन्ध रस से होकर।
काट रहा है हाय! अनुक्षण
वह मात्सर्य्य-गरल-दंशन,
यही अनिद्रा, अनाहार का
कष्ट सहन कर पाया मन!

मुक्ता फल लेने को धीवर
डूबा करता है जल में,
मुक्ताधिक वय फेंकी तू ने
काल-पयोनिधि के तल में!
खोया धन फिर से अबोध मन,
लौटा देगा कौन तुझे?
आशा की माया में कितना
भूलेगा तू, बता मुझे?

मेघनाद-वध और माइकेल

रामायण के एक अंश को लेकर इस काव्य की रचना की गयी है। पर, कवि ने अपनी उच्च कल्पना से और भी कितनी ही बातों का इसमें समावेश किया है। उनसे यह एक स्वतन्त्र काव्य बन गया है।

एक बात और भी है जो इसकी स्वतन्त्रता और नव्यता की सहायक है। पाठक देखेंगे कि इसमें रावण का चरित्र यथेष्ट उज्ज्वल भावों के साथ चित्रित किया गया है। कवि की उसके साथ हार्दिक सहानुभूति है; परन्तु इतना होने पर भी, रावण के उस अनाचार का निराकरण कैसे हो सकता था जिसके कारण उसका सवंश विध्वंस हुआ। कवि ने, आरम्भ में ही, एक छोटे से वाक्य में कैफ़ियत देने का प्रयत्न किया है। रावण सारा दोष शूर्पणखा के मत्थे मढ़ता हुआ कहता है कि—"किस कुसाइत में तेरे दुःख से दुखी होकर पावक-शिखा-रूपिणी जानकी को मैं अपने सोने के घर में लाया था?" रावण किस प्रकार सीता को अपने सोने के घर में लाया था, इसे सब जानते हैं। खैर, यह वाक्य शूर्पणखा को सम्बोधन करके कहा गया है, पर शूर्पणखा वहाँ उपस्थित न थी। मालूम नहीं, वह इसका क्या उत्तर देती। जान पड़ता है, कवि भी इस बात का निश्चय नहीं कर सका। क्योंकि आगे चल कर जब चित्रांगदा ने रावण को उपालम्भ देते हुए कहा कि—"राम को तुम देश-वैरी क्यों कहते हो? क्या वह तुम्हारे सिंहासन के लिए लड़ रहा है? तुम अपने ही कर्म्म-फल से अपने को डुबा रहे हो," तब रावण इसका कुछ उत्तर नहीं देता और इसी जगह इस दृश्य पर परदा गिर जाता है। रावण ने सीताजी के लिए जो पावक-शिखा की उपमा दी है, वह ठीक ही है—

> प्रज्वलित वह्नि पर-दार हुई,
> सोने की लंका छार हुई।

जो हो, कवि के साथ हमको भी रावण से सहानुभूति है। इतना भेद अवश्य है कि उसमें प्रेम और आत्मीयता की जगह खेद और क्रोध के भाव विद्यमान हैं। इसका कारण चित्रांगदा के शब्दों में, ऊपर प्रकट हो चुका है।

शत्रु का कितना ही बड़ा वैभव और विक्रम हो, वह उसके विजेता के ही गौरव का बढ़ाने वाला होता है। रावण के वैभव और विक्रम का कहना ही क्या? कवि ने उसका वर्णन भी खूब किया है। खेद इतना ही है कि राक्षस-परिवार के ऊपर अत्यधिक आकर्षित हो जाने के कारण वह भगवान् रामचन्द्र के आदर्श की रक्षा न कर सका। कहीं कहीं वह उच्चादर्श हीन हो गया है। जिन्हें हिन्दू लोग ईश्वर का अवतार अथवा आदर्श वीर, आदर्श राजा और आदर्श गृहस्थ मानते और जानते हैं उनमें भीरुता, दीनता और दुर्बलता का आरोप करना अनुचित है। किसी कथानक में आवश्यकतानुसार फेर-फार करने का अधिकार कवियों को है, पर आदर्श को विकृत करने का अधिकार किसी को नहीं। किन्तु माइकेल मधुसूदन दत्त का जीवन ही अनियमित और असंयत था। कवियों के स्वभाव में कुछ न कुछ उच्छृंखलता होती ही है। माइकेल का स्वभाव तो मानों उसी में बनाया गया था। उन्होंने अपना कुटुम्ब छोड़ा, समाज छोड़ा, धर्म छोड़ा और धनी पिता के पुत्र होने पर भी बंगाल के इस अनुपम कवि को अन्त में, दातव्यचिकित्सालय में अपना शरीर छोड़ना पड़ा। मधुसूदन के जीवन में सर्वत्र एक आवेग भरा हुआ था। यही आवेग, ओज के रूप में, उनकी कविता के लिए सब दोषों को छिपा देने वाला विशेष गुण बन गया। इसी के कारण 'मेघनाद-वध' सदोष होने पर भी परम मनोहर काव्य है।

कवि ने जहाँ जिस विषय का वर्णन किया है, वहाँ उसका चित्र-सा खींच दिया है। एक के ऊपर एक कल्पना-तरंग का चमत्कार देखते ही बन पड़ता है। उपमाएँ यद्यपि सभी उपयुक्त नहीं हुई हैं पर उनकी कमी नहीं। उनमें नवीनता और विशेषता भी है। वर्णनशैली अविच्छिन्न धारा की तरह बहती हुई जान पड़ती है। वह पढ़ने वाले को आकण्ठ मग्न करके बरवस अपनी गति के साथ खींच ले जाती है। इस काव्य को पढ़ते पढ़ते कभी कौतूहल बढ़ता है, कभी आश्चर्य्य होता है, कभी क्रोध हो आता है और कभी करुणा से हृदय द्रवित हो उठता है। कभी आकाश की सैर करने को मिलती है, कभी पाताल की। कवि की पृथ्वी भी सोने की है। फिर कौन ऐसा सहृदय है जो मेघनाद-वध को पढ़कर मुग्ध न हो जाय? सचमुच वंग-भाषा भाग्यशालिनी है जिसमें माइकेल मधुसूदन दत्त जैसा कवि उत्पन्न हुआ है।

—मैथिलीशरण गुप्त

परिचय और आलोचना

[मूल लेखक—श्रीयुत योगीन्द्रनाथ वसु, बी.ए.]

मेघनाद-वध काव्य माइकेल मधुसूदन दत्त की प्रतिभा के पूर्ण विकास के समय की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण रचना है।

रामायण की एक घटना लेकर इस काव्य की रचना की गयी है। परन्तु फिर भी इसमें बहुत-सी नयी बातें हैं। इस काव्य के राक्षस वीभत्स प्रकृतिमय नर-भोजी नहीं। वीरत्व, गौरव, ऐश्वर्य और शरीर-सम्पत्ति में साधारण मनुष्यों से श्रेष्ठ होने पर भी वे मनुष्य ही हैं। आचार-व्यवहार और पूजा-पाठ में आर्यों से उनमें विशेष भिन्नता नहीं। वे शिव और शक्ति के उपासक हैं। सहगमन की रीति भी उनमें प्रचलित है।

राक्षसों की तरह मेघनाद-वध काव्य के वानर भी मनुष्य हैं, बढ़ी पूँछ और रोम वाले पशु नहीं। कवि ने राम और सीता को भी इसमें अवतार रूप में नहीं दिखाया; वे भी मनुष्य ही माने गये हैं। परन्तु साधारण मनुष्यों की अपेक्षा उनमें कुछ विशेषताएँ हैं।

इस काव्य में कुछ घटनाएँ रामायण के विरुद्ध भी मिलेंगी। पाश्चात्य कवियों—विशेष कर मिल्टन और होमर—का इसमें स्थान स्थान पर अनुसरण किया गया है। रामायण के आदर्श से इसका आदर्श भी भिन्न है। राम-लक्ष्मण की अपेक्षा राक्षसों पर कवि की अधिक सहानुभूति पाई जाती है।

यह काव्य 9 सर्गों में विभक्त है और तीन दिन तथा दो रातों की घटनाएँ इसमें वर्णन की गयी हैं। परन्तु कवि की अनुपम कल्पना-शक्ति के गुण से वे घटनाएँ दीर्घकाल व्यापिनी जान पड़ती हैं।

प्रथम सर्ग

ग्रन्थ के आरम्भ में कवि ने मिल्टन के आदर्श पर सरस्वती देवी की वन्दना करके अपने काव्य के वर्णनीय विषय का निर्देश किया है। इसके बाद राक्षसराज की सभा का मनोहर दृश्य पाठकों के सामने आता है। रावण के ऐश्वर्य्य का क्या कहना?

परन्तु तो भी उसे शान्ति नहीं। दूत के मुख से पुत्र की मृत्यु का हाल सुन कर वह कातर हो रहा है। उसी के दोष से सोने की लंका छार-खार हो रही है। मधुसूदन ने बहुत निपुणता के साथ उसकी वेदना व्यक्त की है।

वीरबाहु की वीरगति का वर्णन अतीव उत्तेजना-पूर्ण है। उसे सुन कर रावण भी क्षणभर के लिए पुत्र-शोक भूल कर गौरवानुभव करने लगता है।

पुत्र को देखने के लिए उसका प्रासाद पर जाना एक सुन्दर चित्रपट-सा मालूम होता है। रणक्षेत्र में पड़े हुए पुत्र को देख कर जो उद्‌गार उसने प्रकट किये हैं वे मर्मस्पर्शी और वीर पितृत्व के परिचायक हैं।

समुद्र-सेतु देख कर उसने जो उसके सम्बन्ध में तीव्र कटाक्ष किये हैं उनसे प्रकट होता है कि किस यन्त्रणा से उसका हृदय जल रहा था। उनसे उसके हार्दिक भावों और विचारों का भी पूरा पता चलता है।

इसके बाद वह फिर सभा में आकर बैठता है। इसी समय वीरबाहु की माता चित्रांगदा सभा में प्रवेश करती है। वीर रस की तरह करुण रस का वर्णन करने की भी कवि की क्षमता अद्भुत है। इस स्थल पर आरम्भ में ही उसका परिचय मिल जाता है। चित्रांगदा का एक मात्र रत्न चला गया। उसके रक्षण का भार रावण पर था, पर वह उसकी रक्षा न कर सका। अब चित्रांगदा को क्या उत्तर दे? जिस दारुण यन्त्रणा से उसका हृदय जलता था उसी का उल्लेख करके वह रह जाता है—

"एक पुत्र-शोक से हो व्यग्र तुम ललने,
शत सुत-शोक से है मेरा हिया फटता!"
इत्यादि।

चित्रांगदा पुत्रशोकातुरा होने पर ही वीरमाता और वीरपत्नी है। रावण उसे सान्त्वना देता है कि वीरों की तरह तुम्हारा पुत्र देशवैरियों को मार कर वीरगति को प्राप्त हुआ है; तुम्हें उसके लिए शोक करना उचित नहीं। सान्त्वना बहुत सुन्दर है, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु उससे चित्रांगदा को सन्तोष नहीं होता। क्यों? इसलिए कि क्या रामचन्द्र ने उसके देश को छीनने के लिए चढ़ाई की थी। या रावण ने जो उनकी पतिव्रता पत्नी का हरण किया था उसका बदला लेने के लिए। फिर राम देश-वैरी कैसे? चित्रांगदा कहती है—

"हाय! निज कर्म्मदोष से ही नाथ तुमने
कुल को डुबाया और डूबे तुम आप भी।"

सुशीतल वारिधारा हृदय में धारण करके भी कादम्बिनी जिस प्रकार वज्र निक्षेप करती है, पतिपरायणा स्त्री का हृदय स्नेहप्रवण होने पर भी अवस्था विशेष में उससे उसी प्रकार प्रदीप्त अग्नि-शिखा निकलती है। चित्रांगदा के चरित से इसका प्रमाण

मिलता है। उसका चरित वाल्मीकि रामायण में नहीं है; वह कवि की निज की सृष्टि है। इसी के द्वारा कवि ने रावण की अवस्था पर प्रकाश डाला है।

आत्मसंयम के प्रतिकूल ही रावण ने सीता का हरण किया था। परन्तु यथेष्ट दण्ड पाने पर भी उसे होश नहीं आता। पाप छिपाने की प्रवृत्ति के समान पापाचार के समर्थन करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में बहुत पाई जाती है। इस अवस्था में औरों की तो बात ही क्या, वह अपनी आत्मा से भी वंचना करने लगता है। घोर पापाचारी होने पर भी रावण विधाता से पूछता है–

"दारुण रे दैव, देख दोष मेरा कौन-सा
तू ने यह रत्न हरा–"

जिस अशुभ घड़ी में वह सीता को हर कर ले आया था उसका स्मरण करके अपने को धिक्कार न देकर दैव पर आक्षेप करता है। अपनी भूल स्वीकार करने का साहस उसमें न था। अपने हृदय को वह दूसरे प्रकार से ही प्रबोध देता है। सारा दोष शूर्पणखा के सिर मढ़ कर उसी को अपने सर्वनाश का कारण समझने लगता है। किन्तु उसे उसकी भ्रान्ति बता देने की आवश्यकता थी। चित्रांगदा ने वही किया है।

शोक में समदुःखभागिनी पत्नी के साथ रोकर मनुष्य बहुधा सान्त्वना प्राप्त करता है। किन्तु अभागे रावण के भाग्य में वह भी न था। सहानुभूति के बदले उसे तिरस्कार ही मिलता था। उसके समान अनाचारी को शान्ति दे भी कौन सकता था। इसीलिए कहा गया है कि चित्रांगदा के चरित ने उसकी अवस्था परिस्फुट की है।

चित्रांगदा के अन्तःपुर में जाने पर शोक और अभिमान से उत्तेजित रावण रण-सज्जा की आज्ञा देता है। वीरपुरी लंका वीरशून्य हो चुकी है, इसलिए यह स्वयं युद्ध की तैयारी करता है। कवि युद्ध के आयोजन का सुन्दर वर्णन और उसी के साथ एक नये दृश्य की अवतारणा करके अपनी उद्भाविनी शक्ति का परिचय देता है।

वह दृश्य समुद्र-तल में कवरी-रचना कराती हुई वरुणानी का है। कवि का यह वरुणानी-चरित पुराणानुमोदित नहीं, होमर के थेटिस (Thetis) से मिल्टन ने अपने कोमस (Comus) को साब्रिना (Sabrina) का आदर्श ग्रहण किया है। उसी से कवि ने वरुणानी चरित की कल्पना की। समुद्र के साथ वायु के युद्ध का विषय ग्रीक पुराण के Acoius and winds से और मुरला नाम सम्भवतः उत्तररामचरित से लिया गया है। लंकापुरी का ऐश्वर्य्य एवं राक्षसों का रणप्रयाण राजलक्ष्मी और मुरला की बातचीत में अच्छी तरह विवृत किया गया है। मेघनाद को वहाँ न देख कर मुरला उसके विषय में पूछती है और लक्ष्मी उत्तर देती है कि जान पड़ता है, वह पुरी के बाहर, प्रमोद उद्यान में, प्रमीला के साथ विहार कर रहा है। इसके बाद वह मुरला

को बिदा करके मेघनाद के पास उसकी धाय का रूप धारण करके पहुँचती है। उसके मुँह से वीरबाहु की मृत्यु और रावण की रण-सज्जा का हाल सुन कर मेघनाद को आश्चर्य्य होता है। क्योंकि वह अपने प्रचण्ड बाणों से, रात्रि-रण में, शत्रुओं को मार चुका था। किन्तु धाय के शब्दों में 'मायावी राम' मर कर बच गया, यह सुन कर वह अपने को धिक्कारता है—

"धिक है मुझे हा! शत्रु मेरे स्वर्णलंका हैं,
और बैठा हूँ मैं यहाँ नारियों के बीच में।"

इसके बाद वह अपना रथ लाने की आज्ञा देकर वीर-वेष से सज्जित होता है। जिस समय वह वीरदर्प से रथ पर सवार होने लगता है, उसकी प्रेयसी पतिव्रता पत्नी प्रमीला आकर उसके दोनों हाथ पकड़ लेती है। भावी अमंगल का जो मेघ मेघनाद के अष्टाकाश में घिर रहा था मानों साध्वी के हृदय में पहले से ही उसकी छाया पड़ रही थी। इसी से वीर-पत्नी और वीरांगना होने पर भी वह होमर के हेक्टर नामक वीर की पत्नी एन्ड्रोमेकी (Andromache) के समान कातर होकर स्वामी से कहती है—

"× × × प्राणनाथ, इस दासी को
छोड़ कहाँ जाते हो? तुम्हारे बिना प्राण ये
धारण करूँगी किस भाँति मैं अभागिनी?"

परन्तु सच्चा वीर मेघनाद उसके आँसुओं की ओर दृक्पात भी नहीं करता। जिसने युद्ध में इन्द्र को भी हरा दिया है, तुच्छ मानव राम के साथ संग्राम करना उसके लिए खेल-सा है। इसी भाव से प्रेरित होकर वह प्रमीला को सान्त्वना देकर चला जाता है। आकाश मार्ग से उसे आते देख कर राक्षस-सेना आनन्द-नाद करती है। पुत्र पिता के चरणों में प्रणाम करके कहता है—

"× × × तात, मैंने है सुना—
रण में मर के भी है राघव नहीं मरा?
जानता नहीं मैं यह माया; किन्तु आज्ञा दो,
कर दूँ निर्मूल मैं समूल उसे आज ही।"
इत्यादि

किन्तु रावण को उसे आज्ञा देने का साहस नहीं होता। अवस्था विशेष से मनुष्यों की प्रकृति भी बदल जाती है। नयी आशा और नये उत्साह से अनुप्राणित मेघनाद और शोक-जर्जर एवं निराशा-प्रस्त रावण के व्यवहार में इसी से बहुत भिन्नता दिखाई देती है। बंगाल के कविवर हेमचन्द्र ने 'वृत्रसंहार' नाम का एक महाकाव्य

लिखा है। उसमें वृत्रासुर का पुत्र रुद्रपीड़ जब युद्ध में जाने की आकांक्षा प्रकट करता है तब वृत्रासुर उससे कहता है–

"रुद्रपीड़, जो हो अभिलाषा तुम्हें यश की
पूर्ण करो, बाँध यशोरश्मियाँ किरीट में;
चाहता नहीं हूँ मैं तुम्हारी यशोदीप्ति को
हरना, यशस्वि पुत्र, जाके आप युद्ध में।
धन्य हुए तीनों लोक में हो तुम, और भी
धन्य हो बढ़ाके वत्स, कीर्ति निज कुल की।"

किन्तु मर्म्मपीड़ित राक्षसराज अपने पुत्र से कहता है–

"× × × इस काल-रण में तुम्हें
वार वार भेजने को चित्त नहीं चाहता।
मुझ पर वाम है विधाता। कब, किसने
पानी में शिलाएँ पुत्र, उतराती हैं सुनी?
किसने सुना है, लोग मर कर जीते हैं?"

वृत्र और रावण दोनों ही त्रिलोक विजयी हैं। किन्तु अवस्था के पार्थक्य से दोनों की प्रकृति भिन्न भिन्न हो रही है। वृत्र सौभाग्य-लक्ष्मी की गोद में प्रतिपालित हो रहा है। शोक या निराशा का उसे कभी अनुभव ही नहीं हुआ। जिस उत्साह से वह पुत्र को युद्ध में जाने की आज्ञा देता है, निराशा पीड़ित रावण को वह उत्साह नहीं। इसी से वह सामान्य मनुष्य की तरह पुत्र को युद्ध में जाने की आज्ञा देता हुआ डरता है। किन्तु मेघनाद का भाव स्वतन्त्र है। वह वीरदर्प से कहता है–

"क्या है वह क्षुद्र नर, डरते हो उसको
तुम हे नृपेन्द्र? इस किंकर के रहते
पाओगे समर में जो, फैलेगा जगत में
तो यह कलंक पिता, वृत्रहा हँसेगा हा!
रुष्ट होंगे अग्निदेव। राघव को रण में
मैं दो बार पहले हरा चुका हूँ हे पितः,
एक बार और मुझे आज्ञा दो कि देखूँ मैं,
बचता है वीर इस बार किस यत्न से?"

जिस बल से मदमत्त मातंग शुण्ड द्वारा विशालकाय वनस्पति को पकड़ कर खींचता है, मेघनाद के हृदय का यह उत्साह उसी पाशव बल से उत्पन्न है। किन्तु राक्षसराज समझ चुका है कि जिस दशा में वह पड़ा है उसमें पाशवबल से विजय

की आशा नहीं। होती तो पहले ही विजय हो चुकी होती। ऐसा होता तो कुम्भकर्ण जैसा वीर क्या युद्ध में मारा जाता? वह मन ही मन समझ रहा है कि उसके पापाचार से क्रुद्ध होकर विधाता ने लंकापुरी के विनाश करने को हाथ बढ़ाया है। ऐसी दशा में देवानुग्रह के बिना और गति नहीं। इसी से वह मेघनाद से कहता है कि यदि तुम्हें लड़ने की नितान्त इच्छा हो तो पहले इष्ट देवता का पूजन करके तब राघव से लड़ना। अब सन्ध्या भी हो गयी है। मैं तुम्हें सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित करता हूँ।

इसके बाद वह यथाविधि मेघनाद का अभिषेक करता है। वन्दीजन आनन्द-गीत गाते हैं। वह गीत बहुत ही समयोचित और आशा-पूर्ण है। इसी स्थान पर पहला सर्ग समाप्त होता है।

द्वितीय सर्ग

द्वितीय सर्ग का अभिनय क्षेत्र सुरलोक है और देव एवं देवीगण उसके अभिनेता हैं। रामायण में श्रीरामचन्द्र ईश्वरावतार होने पर भी लंका युद्ध में देवताओं ने उनकी प्रत्यक्ष सहायता किं वा सहकारिता नहीं की। होमर के इलियड काव्य का अनुकरण करके मधुसूदन ने मेघनाद-वध में देवताओं से अभिनय कराया है। महादेव और पार्वती के अनुग्रह से लक्ष्मण के लिए इन्द्र कर्तृक अजेयास्त्र लाभ द्वितीय सर्ग का वर्णनीय विषय है। मधुसूदन की प्रतिभा इस सर्ग में वाल्मीकि की अपेक्षा होमर द्वारा ही विशेष अनुप्राणित है। ग्रीक पुराणों के जूपिटर और उनकी पत्नी इसमें महादेव-पार्वती के रूप में परिकल्पित हुए हैं और सौन्दर्य्य की अधिष्ठात्री देवी आफ्रोदिति (Aphrodite) एवं निद्रा-देव समनस (Somnus) यथाक्रम से रति और कामदेव का स्थान अधिकृत किये हुए हैं।

आरम्भ में सन्ध्या का मनोहर वर्णन है। उसके बाद स्वर्ग का सुन्दर दृश्य सामने आता है। उसमें भी ग्रीक स्वर्ग की छाया पड़ रही है। इन्द्र देवताओं के साथ आनन्द-सभा में विराजमान है। ऐसे ही समय में रक्ष-कुल राजलक्ष्मी वहाँ आकर मेघनाद के अभिषेक की सूचना देती है। यदि मेघनाद निकुम्भला-यज्ञ पूरा करके युद्ध में प्रवृत्त होगा तो रामचन्द्र की रक्षा असम्भव हो जायगी। इसे सुनकर इन्द्र बहुत उद्विग्न होता है और इन्द्राणी को साथ लेकर हर-पार्वती के पास कैलास पर्वत पर जाता है। यहाँ मधुसूदन ने कैलास का अच्छा वर्णन किया है। परन्तु देव-चरित चित्रित करने में टैसो और मिल्टन प्रभृति पाश्चात्य कवियों ने जो भूल की है, मधुसूदन भी उसी प्रमाद में पड़ गये। देव और मानवीय भावों के एकत्र समावेश से उनकी देव-प्रकृति-वर्णना स्थान-स्थान पर विरुद्ध गुणवाली हो गयी है। देवराज और शची देवी दोनों ने पार्वती से रामचन्द्र की रक्षा करने की प्रार्थना की। किन्तु पार्वती ने कहा कि राक्षस कुल देवादिदेव महादेव से रक्षित है। वे इस समय तपस्या में मग्न हैं। इसी से लंका की यह दुर्दशा है। मैं कैसे रावण का अनिष्ट कर सकती हूँ। इसी समय वहाँ सुगन्ध फैल जाती है,

शंख, घंटा आदि की ध्वनि छा जाती है और दुर्गा का आसन डोल उठता है। पार्वती विस्मित होती हैं। विजया सखी गणना करके उन्हें बताती है कि रामचन्द्र लंका में तुम्हारी पूजा कर रहे हैं। भक्तवत्सला का हृदय द्रवित हो जाता है। वे योगासन शृंग पर महादेव के पास जाने के लिए तैयार होती हैं। सौन्दर्य्य की अधिष्ठात्री देवी रति उनका शृंगार कर देती है। मोहिनी रूप धारण कर और महादेव की समाधि भंग करने के लिए कामदेव को साथ लेकर वे महादेव के पास जाती हैं।

द्वितीय सर्ग की यह सब घटना रामायण में नहीं पाई जाती। इलियड के चौदहवें सर्ग के साथ कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का सम्मिश्रण करके मधुसूदन ने यह कल्पना की है। इलियड के चौदहवें सर्ग में होमर ने लिखा है कि ट्रायवासियों पर जूपिटर का अनुग्रह देख कर एकान्त ईश्वर परायणा जूनो कौशल पूर्वक कार्य्यसाधनार्थ मनोहर वेष-भूषा और वीनिस का विश्वविमोहन कटिबन्ध धारण करके आइडा (Ida) पर्वत पर जूपिटर के पास गयी। जूपिटर पत्नी का मोहन रूप और वेष-भूषा देख कर उसके आलिंगन-पाश में बद्ध होकर उसी दशा में निद्रित हो गया। क्रुद्ध स्वभाव वाली जूनो ने यही उपयुक्त अवसर समझ कर अभागे ट्रायवासियों का सर्वनाश संघटित किया था। इलियड की इसी घटना के साथ कुमारसम्भव के मदन-दहन वृत्तान्त को परिवर्तित रूप में मिला कर मधुसूदन ने मेघनाद-वध के दूसरे सर्ग की रचना की है। किन्तु खेद की बात है कि वे कुमारसम्भव के गौरी-शंकर की मर्य्यादा की उपलब्धि न कर सके। मेघनाद-वध के गौरी-शंकर ग्रीक पुराण के कामुक जूपिटर और जूनो की अपेक्षा उच्चतर होने पर भी कालिदास ने कुमारसम्भव में उनका जो महान चित्र अंकित किया है, मधुसूदन के ग्रन्थ में उसकी छाया भी नहीं पाई जाती। महादेव जिस समय ध्यान-मग्न होते हैं उस समय सहस्र कामदेव भी उनकी तपस्या में विघ्न नहीं डाल सकते। कुमारसम्भवकार ने, ध्यानावस्था में, काम के द्वारा उनका तपोभंग नहीं कराया। उनके कथनानुसार उस समय शिवजी ध्यान से निवृत्त हो चुके थे। उसी समय पार्वती उनकी पूजा के लिए यहाँ आयीं और उन्होंने उन्हें आशीर्वाद दिया—

"पावे तू ऐसा पति जिसने
देखी नहीं अन्य नारी।"

(—कुमारसम्भव सार)

उसी समय कामदेव ने उन पर बाण छोड़ा। कालिदास का अंकित शिवजी का चित्र जैसा महान है वैसा ही स्वाभाविक है। कामदेव के प्रहार करने पर उनकी अवस्था जो कालिदास ने लिखी है उसका अनुवाद नीचे कुमारसम्भव सार से उद्धृत किया जाता है—

"राकापति को उदित देखकर

क्षुब्ध हुए सलिलेश-समान,
कुछ कुछ धैर्य्य-हीन होकर के
संयमशील शम्भु भगवान–
लगे देखने निज नयनों से
सादर, साभिलाष, सस्नेह,
गिरिजा का विम्बाधरधारी
मुखमण्डल शोभा का गेह॥''

किन्तु–

''महाजितेन्द्रिय थे इस कारण
महादेव ने तदनन्तर,
अपने इस इन्द्रिय-क्षोभ को
बल पूर्वक विनिवारण कर।
मनोविकार हुआ क्यों, इसका
हेतु जानने को सत्वर,
चारों ओर सघन कानन में
प्रेरित किये विलोचन वर॥''

कुछ कुछ धैर्यहीन होकर और बलपूर्वक विनिवारण कर में कितना कठोर आत्मसंयम भरा हुआ है! मधुसूदन के हर-ध्यान-भंग में इसका अंश भी नहीं। क्षण भर पहले जो महादेव 'मग्न तपःसागर में वाह्यज्ञानशून्य थे' वे कामदेव के बाण छोड़ते ही 'शिहिर उठे' और 'हो गये अधीर!'

मधुसूदन ने केवल महादेव के ही चरित के महत्त्व को नष्ट नहीं किया, पार्वती के चरित को भी उन्होंने हीन कर डाला है। कुमारसम्भव में महादेव के तपोभंग के सम्बन्ध में पार्वती सर्वदा निर्दोष हैं। बहुत ही पवित्र भाव से महादेव की पूजा करने वे आयी थीं। उन्हें कामदेव की ख़बर तक न थी। किन्तु मेघनाद-वध की पार्वती ने अपना उद्देश सिद्ध करने के लिए पृथ्वी में सर्वापेक्षा जघन्य और अस्वाभाविक उपाय से स्वामी का ध्यान भंग किया है। जो स्वयं तपस्विनी स्त्रियों में अग्रगण्या और संसार में सहधर्म्मिणी नाम की आदर्श स्वरूपा हैं उनका इस रूप में चित्रित करना मधुसूदन को उचित न था। ग्रीक पुराणों की जूनो को आदर्श मानने से ही उनसे ऐसी भूल हुई है।

जो हो, ग्रीक देवी जूनो के समान उनकी अभिलाषा भी पूरी हुई। महादेव ने प्रसन्न होकर मेघनाद को मारने के लिए अपने रुद्रतेज से निर्मित शस्त्रास्त्र लक्ष्मण के पास भेजने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा से माया के यहाँ से इन्द्र उन्हें ले आया और चित्ररथ के द्वारा उसने उन्हें लक्ष्मण के पास भेज दिया। यहीं दूसरा सर्ग समाप्त

होता है। कल्पना की छटा और वर्णन शक्ति के गुण से यह सर्ग अन्यान्य सर्गों की अपेक्षा निकृष्ट नहीं। किन्तु जिस उद्देश से कवि ने नाना देशीय कवियों के काव्य-समूह से उपादान संग्रह करके अपना काव्य लिखा है वह उद्देश इससे सिद्ध नहीं होता। शैव कुलोत्तम रावण का नाश करने के लिए महादेव की कृपा की आवश्यकता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन्द्र का मायादेवी के यहाँ जाना वहाँ से अस्त्र लाना और उन्हें चित्ररथ के द्वारा भिजवाना आदि घटनाएँ नितान्त आडम्बरपूर्ण और अस्वाभाविक हैं। जिस अवस्था में लक्ष्मण से मेघनाद का वध कराया गया है उसके लिए रुद्रतेज से निर्मित अस्त्रों की आवश्यकता ही क्या थी? युद्ध के लिए ही देवास्त्रों का प्रयोजन हो सकता है, हत्या के लिए नहीं। लक्ष्मण को जब नरहन्ता के रूप में ही चित्रित करने की कवि की इच्छा थी तब उन्हें रुद्रतेज से बने हुए अस्त्र न दिलाना ही अच्छा था। सच तो यह है कि देव और देवियों में से किसी भी प्रधान पात्र का चरित इस सर्ग में ऊँचे आदर्श पर चित्रित नहीं किया गया। महादेव और महादेवी के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। इन्द्र और इन्द्राणी का चरित भी निर्दोष नहीं। इन्द्र के चरित में कापुरुषता और शची देवी के चरित में जिघांसा और भक्तद्रोहिता दिखाई देती है। अप्रधान पात्रों के चरितों में कोई विशेष बात नहीं। इसलिए उनके विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है।

तृतीय सर्ग

तीसरे सर्ग में इन्द्रजित की पत्नी प्रमीला का लंका-प्रवेश वर्णित है। प्रमीला का चरित ही मेघनाद-वध में नूतन है और उसी से मधुसूदन की मेघनाद-वध-रचना का उद्देश सफल हुआ है। महर्षि वाल्मीकि ने राक्षसों को जिस रूप में चित्रित किया है उससे उन पर हमारी सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती। किन्तु उनके चरित का एक मधुर अंश भी है। राक्षसराज सीतापहारक होने पर भी गृहस्थ है। पति, पिता, ससुर और राजा है। इन रूपों में उसके चरित से जिन कोमल भावों के प्रकट होने की सम्भावना हो सकती है, रामायण में उनका उल्लेख नहीं है, यह भी कहा जा सकता है। इसी कारण हम उसके गुणों की कल्पना ही नहीं करते। किन्तु मधुसूदन ने उसके पारिवारिक जीवन की झलक भी हमें दिखाई है। मेघनाद-वध का रावण अतुल ऐश्वर्य्यशाली, परम प्रतापी और विलक्षण वीर है। वह सीतापहारक भी है, मधुसूदन इसका उल्लेख नहीं भूले हैं। किन्तु इसी के साथ वह स्नेहवान पिता, गौरवशाली सम्राट् और निष्ठावान भक्त भी बतलाया गया है। चित्रांगदा का चित्र शोकाकुला जननी और अभिमानिनी पत्नी का उत्कृष्ट उदाहरण है। मन्दोदरी स्नेहप्रवणहृदया माता एवं सास तथा स्वामी और पुत्र के गौरव से गौरवान्विता महारानी की आदर्श मूर्ति है। किन्तु इनकी अपेक्षा ग्रन्थ के नायक मेघनाद और उसकी पत्नी प्रमीला के चरित्र से ही मधुसूदन राक्षस-परिवार पर पाठकों की अनुकम्पा का उद्रेक प्रकट कराने में अधिक समर्थ हुए हैं। उनका

मेघनाद स्वदेशवत्सल वीर है, स्नेहशील भाई है, माता-पिता का भक्त पुत्र हैं, निष्ठावान भक्त है और है पत्नीगतप्राण निष्कपट प्रेमी। प्रमीला उसके ही अनुरूप पत्नी है। वह वीरत्व में भैरवी है; किन्तु कोमलता में आदर्श कुलवधू। मृदुल लता की तरह स्वामी का अवलम्बन करके ही वह जीती है। किन्तु समय पड़ने पर स्वामी की उपयुक्त सहधर्मिणी होने का प्रमाण भी वह देती है। मेघनाद-वध लिखते समय मधुसूदन ध्यानपूर्वक टैसो काव्य का अध्ययन करते थे। सम्भवतः प्रमीला-चरित की कल्पना करने के लिए वे उसी से प्रेरित हुए थे। हम देखते हैं, पहले अंक में प्रमीला वन-देवी की तरह पति के साथ प्रमोदोद्यान में क्रीड़ा करती है। उसका वह चित्र सौन्दर्य्य में अतुलनीय है। टैसो के काव्य के सोलहवें सर्ग से कवि ने उसे ग्रहण किया है। पहले सर्ग में प्रमीला और मेघनाद को प्रमोदोद्यान में देख कर आर्मिडा (Armida) और राइनाल्डो (Rinaldo) की याद आती है। आर्मिडा की प्रमोदपुरी की तरह प्रमीला की पुरी भी माया-निर्मित जान पड़ती है। महावीर राइनाल्डो जिस तरह आत्मविस्मृत होकर आर्मिडा के साथ उसके उद्यान में वास करता था, वीर वर मेघनाद भी उसी प्रकार इन्द्रिय-सुख-मग्न होकर प्रमीला के विहार-वन में वास करता था, पहले इसी भाव से मधुसूदन दूसरे अंक की रचना करना चाहते थे। किन्तु उससे प्रमीला के चरित्र के उत्कर्ष की हानि होगी, यह सोच कर उन्होंने वह विचार छोड़ दिया।

टैसो के काव्य से मधुसूदन प्रमीलाचरित-निर्माण करने के लिए प्रणोदित हुए थे; तथापि उसकी गठन-प्रणाली उनकी बिलकुल निज की है। इसी कारण प्रमीला उनकी कल्पना का मौलिक चित्र है। प्रथम सर्ग में प्रमीला अश्रुपूर्णलोचना और पति को बिदा देने में अनिच्छा रखने वाली है। उसके चरित्र के इस अंश में कोई नूतनता नहीं। कोमला कुलवधू के लिए जो स्वाभाविक बात है उसी को कवि ने दिखाया है। किन्तु कुलवधूसुलभ कोमलता के साथ वीरांगना के शौर्य्य का सम्मिलन ही प्रमीला के चरित का नयापन है। तृतीय सर्ग में कवि ने उसी का प्रतिपादन किया है। मेघनाद विषादिनी पत्नी से शीघ्र लौट आने को कह कर गया था। किन्तु घटना-क्रम से वह शीघ्र न लौट सका। उसके आने में विलम्ब होता देखकर पतिप्राणा पत्नी के प्राण व्याकुल होने लगे। जिस युद्ध में प्रमीला के सहस्र सहस्र आत्मीय मारे जा चुके हैं, उसी कालरण में उसका स्वामी गया है। उसके लौटने में देर होती देखकर वह कैसे स्थिर रह सकती है? हेमचन्द्र ने ठीक कहा है—

"जिसका पति योद्धा होता है
उसका हृदय धैर्य खोता है;
कह सकता है कौन कि कितना वह सदैव रोता है।
इसे जानते हैं कितने जन,
और सोचते हैं कितने मन,

कि इस विश्व में वीर-वर-वधू होना कैसा होता है?"

अश्रुसिक्ताप्रमीला—

"जाती कभी मन्दिर के भीतर है सुन्दरी,
आती फिर बाहर है व्याकुल वियोगिनी;
होती कातरा है ज्यों कपोती शून्य नीड़ में!
चढ़ कर उच्च गृह-चूड़ा पर चंचला
दूर लंका ओर कभी एक दृष्टि लाती है
अविरल अश्रु-जल अंचल से पोंछ के।"

इसी दशा में दिन बीत जाता है और कालभुजंगिनी-सी रात उसे डसने के लिए आती है। सखियों के समझाने से उसे सान्त्वना नहीं मिलती। उपवन के फूलों पर ओस की बूँदों की तरह उसके अश्रु शोभा पाते हैं। भावी विपत्ति की छाया प्रगाढ़ रूप में उसके हृदय पर पड़ रही है। सूर्यमुखी के सामने जाकर वह निराशा पूर्वक उससे पूछती है—

"देख के मैं रात-दिन छवि जिस रवि की
जीती हूँ, छिपा है आज अस्ताचल में वही;
क्या मैं फिर पाऊँगी, उषा के अनुग्रह से
पावेगी सती, तू यथा, प्राणाधार स्वामी को?"

पति के विषय में विपत्ति की आशंका होने पर पृथ्वी में ऐसी कोई विपत्ति नहीं जिससे कि पतिव्रता पत्नी के प्राणों को भय हो। स्वामी की विपत्ति से भीता होकर वह वासन्ती सखी से कहती है—"चलो सखि, हम सब लंकापुर को चलें।"

वासन्ती क्या जानें कि स्निग्ध वारि-धारा के साथ कादम्बिनी अपने हृदय में वज्र भी धारण करती है और कलनादिनी निर्झरणी गिरिशृंग को भी उत्पाटित करके ले जाती है। इसीलिए वह विस्मय पूर्वक कहती है—लंका में हमें घुसने कौन देगा? अलंघ्य जलराशि-सी राघव की सेना उसे चारों ओर घेरे हुए है।

वासन्ती की बात सुन कर तेजस्विनी प्रमीला कहती है—

"क्या कहा सहेली, जब गिरि-गृह छोड़ के
सरिता सवेग जाती सागर की ओर है
शक्ति किसकी है तब रोके गति उसकी?
मैं हूँ दैत्य-बाला और रक्षःकुल की वधू
रावण ससुर मेरे, मेघनाद स्वामी हैं;
डरती हूँ क्या मैं सखि, राघव भिखारी को?

लंका में प्रविष्ट हूँगी आज भुज-बल से,
कैसे नर-रत्न मुझे रोकते हैं, देखूँगी।''

प्रमीला का जो उद्यान वेणु और वीणादि के झंकारों से मुखरित रहता था वह मुहूर्त ही मात्र में समर-कोलाहल से परिपूर्ण हो गया! प्रमीला की संगिनी दैत्य बालाएँ वीर-देश से सज्जित होकर घोड़ों पर सवार हो गयीं। प्रमीला का कोमल शरीर भी कठिन वीर-वेश से सुशोभित होने लगा। पीठ पर बाण-पूर्ण तूण, उरु देश में खर-शाण खंग और हाथ में तीक्ष्ण त्रिशूल धारण करके वह घोड़े पर सवार हुई। अकस्मात् शत वज्राघात्त की भाँति शत शरासन-टंकार और शत शंख-ध्वनि से लंका का पश्चिम-द्वार काँप उठा। और की बात ही क्या, महावीर हनूमान भी प्रमीला की वीर सज्जा देखकर स्तम्भित हो गये। वे उग्र भाव छोड़कर प्रमीला की दूती को रामचन्द्र के समीप ले गये। दूती ने उनसे युद्ध करने या लंका का मार्ग छोड़ देने के लिए कहा। रघुवंशियों के लिए पतिदर्शनोत्सुका पतिव्रता के साथ युद्ध करना क्या सम्भव है? रामचन्द्र ने हनूमान को शिष्टाचार पूर्वक मार्ग छोड़ देने की आज्ञा दी। साध्वी की मनस्कामना सिद्ध हो गयी। तेज की प्रभा से चारों ओर उजेला और युद्ध के बाजों के नाद से रात्रि की निस्तब्धता भंग करती हुई अपनी सखियों की सेना के साथ प्रमीला ने लंका में प्रवेश किया। रामचन्द्र की सेना चित्र में लिखी-सी होकर विस्मय पूर्वक वह दृश्य देखती ही रह गयी। स्वयं रामचन्द्र के मन में आया कि यह स्वप्न है अथवा इन्द्रजाल? लक्ष्मण की सहायता के लिए माया देवी आने वाली थीं, क्या यह उन्हीं की माया है? कैलास-धाम में भगवती आश्चर्य्य के साथ प्रमीला की वीरता देखने लगीं। लंकावासी वह अद्‌भुत दृश्य देखने के लिए चारों ओर से दौड़ कर आने लगे। सबने उसका जयजयकार किया।

''प्रेमानन्द पूर्ण प्रिय-मन्दिर में सुन्दरी
दैत्यनन्दिनी यों हुई प्राप्त कुछ देर में,
खोया हुआ रत्न पा के मानों बची फणिनी।''

प्रमीला का लंका-प्रवेश मेघनाद-वध का एक बहुत ही उत्कृष्ट अंश है। सूक्ष्मभाव से प्रत्यालोचना करने पर इसमें कोई कोई त्रुटि लक्षित होगी। वीर रस के साथ उसके 'व्यभिचारी' शृंगार रस का सम्मिलन कर देने से स्थान स्थान पर इसके सौन्दर्य की हानि हुई है। किन्तु ऐसा होने पर भी यह अतुलनीय है।

प्रमीला-चरित ही मेघनाद-वध में एक नूतन और मधुसूदन के कल्पना-कानन का सर्वोत्तम पुष्प है। जो देश शताब्दियों से पराधीनता से पिस रहा है उसके किसी कवि की कल्पना से प्रमीला के समान वीरांगना का उद्भव होना अत्यन्त आश्चर्य्य की बात है। संसार में कितने ही कवियों की कल्पना वीर रमणी की महिमा वर्णन

करने के लिए उद्दीपित हुई है; किन्तु अन्य किसी कवि ने ऐसा अपूर्व चित्र नहीं बना पाया। वर्जिल की कैमिला (Camilla) टैसो की क्लोरिंडा (Clorinda) गिल्डिप (Guildippe) और एरमिनिया (Erminia) एवं बाइरन की मेड ऑफ सारागोसा (Maid of Saragosa) ये सब प्रमीला से स्वतन्त्र हैं। कुलवधू की कोमलता ने, पतिप्राणा के आत्म-विसर्जन ने और वीरांगना के वीरत्व ने एक संग मिलकर प्रमीला के चरित्र को साहित्य-संसार में अतुलनीय बना दिया है। हनुमान से प्रमीला की बातचीत सुनकर जान पड़ता है, सौन्दर्य्य और ज्योति के सम्मिलन से उद्‌भूत हुई बिजली के साथ उसकी तुलना की जानी चाहिए, और किसी चीज़ से नहीं। अन्य देशों में यह चित्र उद्‌भवनीय नहीं। प्रमीला की कोमलता, पतिपरायणता और वीरता अलग अलग पाई जा सकती है; किन्तु इकट्ठे रूप में ये सब बातें भारत-रमणी को छोड़ अन्यत्र नहीं मिल सकतीं। पद्मिनी और दुर्गावती का क्षेत्र भारत ही प्रमीला के उत्पन्न होने के लिए उपयुक्त हो सकता है। जिस प्रमीला ने राघव की सेना को त्रस्त करके लंका में प्रवेश किया था वही सास के भय से तटस्थ होकर स्वामी से कहती है—

"हाय नाथ, × × × सोचा था कि आज मैं
जाऊँगी तुम्हारे संग पुण्य यज्ञशाला में,
तुमको सजाऊँगी वहाँ मैं शूर-सज्जा से;
क्या करूँ परन्तु निज मन्दिर में वन्दिनी
करके रक्खा है मुझे सास ने यों। फिर भी
रह न सकी मैं बिना देखे पद युग्म ये।"

इसीलिए कहना पड़ता है कि वीरांगना के शौर्य्य के साथ कुलवधू की ऐसी कोमलता अन्य देश में अलभ्य है। वोडिसिया और जोन ऑफ आर्क के देश में कैमिला और क्लोरिंडा ही आदर्श हैं। पद्मिनी और दुर्गावती के देश में प्रमीला ही आदर्श हो सकती है।

पाश्चात्य कवियों के काव्यों से मधुसूदन को प्रमीला-चरित चित्रित करने की प्रेरणा हुई है; किन्तु उसका आदर्श कल्पित करने में उन्हें अपने देश के कवियों से ही सहायता मिल सकती थी। प्रमीला नाम भी उन्होंने वंगीय कवि काशीरामदास कृत महाभारत के अश्वमेध पर्व से लिया है। काशीरामदास की प्रमीला ने यज्ञ का घोड़ा पकड़ लिया था। उसके साथ हज़ारों स्त्रियों की सेना थी। रामचन्द्र के वाक्यों से मेघनाद-वध की प्रमीला की तरह अर्जुन के वाक्यों से महाभारत की प्रमीला भी युद्ध से विरत हुई थी। उसने अर्जुन को अपना परिचय देते हुए कहा था—मुझे कोई नहीं जीत सकता। देवता भी मेरे भय से काँपते हैं। पार्वती के वरदान से मैं किसी को नहीं डरती। शस्त्र धारण करके कोई मेरी पुरी में नहीं आ सकता।

इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि काशीरामदास की प्रमीला ही मेघनाद-वध की

प्रमीला की मूल आदर्श-प्रतिमा है। मेघनाद-वध में मधुसूदन ने इस बात का संकेत भी कर दिया है–

> ''जैसे नारि-देश में परन्तप महाबली
> यज्ञ के तुरंग-संग पार्थ जब आये थे
> देवदत्त शंख का निनाद तब सुनके
> क्रुद्ध होके वीर वनिताएँ रण-रंग से
> सज्जित हुई थीं, सजी वैसे ही यहाँ भी वे।''

प्रमीला-चरित के विषय में काशीरामदास की तरह अपने बाल्यबन्धु, पद्मिनी उपाख्यान के लेखक, बाबू रंगलाल बन्द्योपाध्याय के निकट भी मधुसूदन ऋणी हैं। पद्मिनी के चरित से उन्हें प्रमीला का चरित-चित्रण करने में यथेष्ट सहायता मिली है। किन्तु उन्होंने उस चित्र को और भी मनोहारी बना दिया है।

देश, काल और अवस्था ने भी उनके प्रमीला-चरित का विकास करने में यथेष्ट सहायता दी है। मेघनाद-वध की रचना के थोड़े ही दिन पहले सिपाही-विद्रोह की अभिनेत्री झाँसी की लक्ष्मीबाई के वीरत्व ने भारत-सन्तानों को चमत्कृत कर दिया था। जिस समय मधुसूदन के हृदय में प्रमीला के चरित की छाया पड़ रही थी उस समय लक्ष्मीबाई का चरित भी हम लोगों की आलोचना का विषय हो रहा था।

सारांश, मधुसूदन ने देवशिल्पी विश्वकर्म्मा की तरह अपने काव्य की नायिका की प्रतिमा देशी और विदेशी कवियों की कल्पना का तिल तिल अंश लेकर बनाई है। जिस प्रकार तिलोत्तमा सुरांगनाओं में अग्रप्रगण्या हुई थी, उसी प्रकार प्रमीला शूरांगनाओं में शिरोमणि है।

प्रमीला का लंका-प्रवेश इस प्रकार आडम्बर और विस्तार के साथ वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी, इस विषय में कुछ कहना आवश्यक है। कहा जा सकता है कि प्रमीला के लंका-प्रवेश से और इस काव्य के मूल उपाख्यान से क्या सम्बन्ध? यह एक शरद का बादल आया और उड़ गया, इसका क्या अर्थ हुआ? इसे जानने के लिए पाठकों को एक बार नवें सर्ग की ओर दृष्टि डालनी पड़ेगी। वह सागरतीरवर्ती महाश्मशान की चिता, वह फुल्ल किंशुक तुल्य रक्ताक्त मेघनाद का शवशरीर, वह विशदवस्त्रधारी राक्षसराज और वह अश्रुसिक्त रक्षोवंश बालागण; एक बार स्मरण कीजिए और इसी के साथ उस आलुलायितकुन्तला, पुष्पमाल्याभरणा, अश्रुपूर्णनयना, दीना विधवा की ओर एक दृष्टि डालिए। क्या यही वह विद्युल्लतारूपिणी प्रमीला है, जिसने एक दिन रघुसैन्य को त्रस्त करके पतिपददर्शनार्थ लंका में प्रवेश किया था? यह अश्रुमुखी विधवा क्या वही प्रमीला है? उस मूर्तिमती समर-लक्ष्मी का अन्त में क्या यही परिणाम हुआ? उसकी समर-सज्जा, उसकी संगिनी वीर-बालाएँ और उसकी वामीश्वरी वड़वा इस समय भी मौजूद हैं। परन्तु हाय! नियतिचक्र का कैसा

भयानक आवर्तन हो गया है। पाठक, तृतीय सर्ग की प्रमीला की वह रण-सज्जा आपने देखी है, उस भैरवीमूर्ति का दर्शन आपने किया है और सखियों के सामने उसका उत्साहपूर्ण भाषण सुना है। अब एक बार नवम सर्ग की प्रमीला की यह अवस्था भी देखिए। फिर सोचकर बताइए कि तृतीय सर्ग की प्रमीला का दृश्य शरद के बादल की तरह आपके हृदय से उड़ जाता है या नहीं। मध्याह्न के आकाश की उज्ज्वलता देखे बिना सायंकाल की घन-घटा का रूप कैसे समझ में आ सकता है? पूर्णिमा के सौन्दर्य्य का अनुभव किये बिना अमावस्या के घने अन्धकार की उपलब्धि कैसे हो सकती है? मेघनाद-वध के नवम सर्ग का विषादभाव अनुभव करने के लिए तृतीय सर्ग की बड़ी आवश्यकता है। यदि प्रमीला साधारण स्त्री की तरह चित्रित की जाती तो पाठक हृदय का जो भाव लेकर मेघनाद-वध समाप्त करते, तृतीय सर्ग-वर्णिता प्रमीला को देखकर उन्हें तदपेक्षा सौगुने अधिक विषाद के साथ ग्रन्थ पूरा करना पड़ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि राक्षस-परिवार के साथ सहानुभूति का उद्रेक करना मेघनाद-वध का अन्यतम उद्देश था। राक्षसराज के असंयम रूप दावानल से कितनी कोमल कुलांगनाएँ, कितने सुरभित और सुन्दर सुमन भस्मीभूत हुए थे, कवि ने प्रमीला के चरित से उसी का एक दृष्टान्त दिया है। संसार में केवल आत्मकृत कार्य्य के लिए ही मनुष्य दण्ड और पुरस्कार नहीं पाता; सामाजिक जीवन में औरों के किये हुए कार्य्य के फल भी उसे भोगने पड़ते हैं। लंका-युद्ध के लिए रावण ही अपराधी है। किन्तु उसके साथ सम्बन्ध होने के कारण कितने निर्दोष नर-नारियों को दारुण यन्त्रणा भोगनी पड़ी, प्रमीला उसका उदाहरण है : जिस गम्भीर भँवर में लंका की नाव पड़ी थी, उससे रूप, यौवन, बाहुबल और निर्दोषिता, किसी की भी अव्याहति न थी। प्रमीला निरपराधिनी कुल-बधू, गुरुजनों में भक्ति रखने वाली रमणी के श्रेष्ठ धर्म्म पातिव्रत में अग्रगण्या थी और थी भगवती की प्रिय उपासिका। किन्तु उस दावानल से कोई भी उसे न बचा सका! शौर्य्य में, कहा जा सकता है कि, वह स्वामी की मृत्यु का बदला भी ले सकती थी; किन्तु नियति ने उसे कुलबधू करके उसके हाथ-पैर ऐसे कठिन बन्धन से बाँध दिये थे कि स्वामी के लिए भी वह एक अँगुली तक न उठा सकती थी। प्रमीला की बड़ी इच्छा थी कि स्वामी के साथ यज्ञागार में जाकर वह उसे युद्ध-सज्जा में सज्जित करे। वीरांगना के लिए ऐसी इच्छा स्वाभाविक है। प्रमीला वहाँ उपस्थित रहती तो सम्भवतः लक्ष्मण मेघनाद को न मार पाते। किन्तु उसकी इच्छा पूर्ण न हुई। उसकी स्नेहमयी सास ने उसे रोक लिया—

> "× × × रह मेरे साथ बेटी, तू,
> प्राण ये जुड़ाऊँगी निहार यह तेरा मैं—
> चन्द्रमुख। × × ×"

सुशीला कुलबधू के लिए सास का अनुरोध किं वा आदेश अमान्य नहीं हो

सकता। प्रमीला को वीर्य्यशालिनी अथवा कुलबधू के रूप में चित्रित करने के लिए कवि ने नाना विषयों से उसके चरित्र की मनोहारिता प्रकट करने का सुयोग पाया है। टैसो के काव्य की क्लोरिंडा एवं गिल्डिप की भाँति उसे स्वाधीना और रामचन्द्र के साथ युद्धपरायणा करने से कवि कभी वह सुयोग न पाता। ऐसी दशा में तेजस्विता के साथ प्रमीला के चरित में कोमलता के सम्मिलन से जो अपूर्व मनोहारिता आ गयी है वह कभी न आ सकती। भुवनविजयी ससुर और वासवविजयी पति के रहते हुए शत्रु-संहार करने के लिए प्रमीला का अस्त्र धारण करना सर्वथा लज्जाकर और अस्वाभाविक होता। इसीलिए कवि ने उसे पति-पद-दर्शनोत्सुका वीरांगना के रूप में चित्रित किया है, रण-रंगिणी के रूप में नहीं।

बहुतों की राय में मेघनाद-वध काव्य में तीसरा सर्ग ही सर्वोत्कृष्ट है। किन्तु दुर्भाग्य की बात है कि मेघनाद-वध का सर्वप्रधान दोष भी इसी सर्ग से आरम्भ होता है। राक्षसों के साथ एकान्त सहानुभूति के कारण कवि ने इसमें रामचन्द्र के चरित को हीन कर दिया है। दूसरे सर्ग से रामचन्द्र का आविर्भाव होता है। द्वितीय सर्ग के रामचन्द्र विनीत, धर्मानुरागी और देवपरायण हैं। चित्ररथ के साथ बातचीत करने में उनके चरित की कोमलता और मधुरता का स्पष्ट परिचय मिलता है। तीसरे सर्ग में कवि ने उन गुणों के साथ उनमें भीरुता दोष का आरोप किया है। आर्य्यरामायण के रामचन्द्र विनय और कोमलता की मूर्ति होने पर भी भीरु न थे। महापुरुषों के लिए भीरुता की अपेक्षा गुरुतर दोष दूसरा नहीं होता। रोग, शोक, विपत्ति, चाहे जो हो, पर्वत की भाँति अटल निर्भीक भाव धारण करना ही उनका लक्षण होता है। भवभूति ने अपने नाटकों में रामचन्द्र के चरित्र का यही प्रधान लक्षण प्रकट करके दिखाया है। परन्तु मधुसूदन ने उन्हें विनयी, धर्म्मपरायण और उदार स्वभावसम्पन्न करके भी भीरुता के दोष से दूषित कर दिया है। नृमुण्डमालिनी की रण-प्रार्थना किं वा मार्गमुक्तिकरण की प्रार्थना पर रामचन्द्र ने जो उत्तर दिया है उसका प्रथम अंश बहुत सुन्दर है। वे कहते हैं—

"× × × सुनो तुम हे सुभाषिते,
करता अकारण विवाद नहीं मैं कभी।
मेरा शत्रु रावण है, तुम कुल बालाएँ,
कुलबधुएँ हो; फिर किस अपराध से
वैर-भाव रक्खूँगा तुम्हारे साथ मैं, कहो?
लंका में प्रविष्ट हो सहर्ष बिना शंका के।"

यह कहना उनके समान महापुरुष के ही योग्य है। किन्तु इसके बाद ही वे कहते हैं कि हमारी ओर से प्रमीला से कहना—

"युद्ध के विना ही हार मानता हूँ उनसे"

यह उक्ति रामचन्द्र के उपयुक्त नहीं। विनय प्रशंसनीय गुण अवश्य है परन्तु उसके पीछे आत्मसम्मान खो बैठना कभी पुरुषोचित नहीं कहा जा सकता। इसके बाद रामचन्द्र विभीषण से कहते हैं–

"× × × मित्र, देख इस दूती की
आकृति मैं भीत हुआ मन में, विसार के
तत्क्षण ही युद्ध-साज; मूढ़ वह जन है
छेड़ने चले जो इन सिंहिया की सेना को।"

इसे सुनकर फ़ौरन मालूम हो जाता है कि रामचन्द्र ने अपनी स्वाभाविक उदारता किं वा स्त्री जाति पर आदर-भाव के कारण प्रमीला के साथ उदार व्यवहार नहीं किया है, उससे डर कर ही, विना लड़े, मार्ग छोड़ दिया है। उनके चरित में इस प्रकार भीरुता का आरोप करने से काव्य के सौन्दर्य्य की बहुत हानि हुई है। पहले ही राक्षसों के प्रति अतिरिक्त सहानुभूति के भाव ने मधुसूदन को रामचन्द्र का महत्वानुभव करने में अक्षम रक्खा था, तिस पर काशीरामदास के महाभारत की प्रमीला के साथ अर्जुन के व्यवहार का उन्होंने जो आदर्श लिया है वह भी उन्नत नहीं। वहाँ अर्जुन भी कापुरुष की तरह दिखाये गये हैं। आदर्श को उन्नत न करके अन्धे की तरह उसका अनुकरण करने से ही मधुसूदन भ्रम में पड़ गये। प्रमीला के चरित के साथ रामचन्द्र के चरित की महत्ता की रक्षा होने से मेघनाद-वध का तीसरा सर्ग सर्वांग सुन्दर होता। किन्तु खेद है कि ऐसा नहीं हुआ।

चतुर्थ सर्ग

मध्याह्न के तेजोपरान्त सन्ध्या की सुस्निग्ध छाया जैसी तृप्ति-दायिनी होती है, मेघनाद-वध के तीसरे सर्ग के अनन्तर चौथे सर्ग की कथा भी वैसी ही प्रीतिदायिनी है। चिरकाल से जिनका अनुपम चरित हिन्दू नर-नारियों के प्राणों को अमृताभिषिक्त कर रहा है, चौथे सर्ग में उन्हीं देवी अथवा मूर्तिमती पवित्रता के दर्शन हमें पहले पहल होते हैं। महायुद्ध के समय सीता देवी कारागार में बन्द थीं। किन्तु उस दशा में भी मधुसूदन ने उनकी शोकमलिन मुखश्री में जिस मधुरता का सन्निवेश किया है, वह भूलने की चीज़ नहीं! चतुर्थ सर्ग में हम लंकापुरी को आनन्द में मग्न पाते हैं। जिसके पराक्रम से इन्द्र भी डरता है उसी मेघनाद को राक्षसराज ने फिर सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया है; फिर आशामुग्ध लंकावासी क्यों न आनन्द में निमग्न हों? कवि ने अपने स्वाभाविक नैपुण्य से आनन्दोत्सव-पूर्ण लंकापुरी का चित्र खींचा है। उस आनन्दमयी पुरी के केवल एक उपवन में उत्सव न था। शोक की घनी

छाया ने मानों रात के अँधेरे को दुगना करके उसे आवृत कर रक्खा था। उस स्थान में मानों सभी निस्तब्ध थे। पक्षियों के कण्ठ में भी मानों शब्द न था। घन निविड़ पत्र-पुंज को भेद कर चन्द्रमा की किरणें भी वहाँ पहुँचने में असमर्थ थीं। किन्तु जैसे अन्धकारमय वन में एक मात्र फूल प्रस्फुटित होकर उसे सुशोभित करता है वैसे ही उस आलोक-शून्य उद्यान में एक स्निग्धोज्ज्वल देवी-मूर्ति चारों ओर उजेला करके विराजमान थी। राशि राशि कुसुम वृन्तच्युत होकर उसके चारों ओर गिर रहे थे, पवन उसके दुःख से दुःखित होकर बीच बीच में उच्छ्वसित हो उठता था और दूरस्थिता प्रवाहिणी उसकी दुःख-कथा वीचि-रव से कहती हुई समुद्र की ओर दौड़ी जा रही थी। देवी का मुख मलिन था। आँसुओं की धारा चुपचाप उसके कपोलद्वय भिगो रही थी। किन्तु उसी मुख-मण्डल से एक ऐसी अपूर्व ज्योति निकलकर उस स्थान को समुज्ज्वल कर रही थी कि वह कहने में नहीं आती।

उस वन की यह अधिष्ठात्री देवी कौन थी, क्या इसके कहने की आवश्यकता है? दुरन्त चेरी-वृन्द अशोक वनस्थिता सीता-देवी को छोड़कर मेघनाद का अभिषेकोत्सव देखने अन्यत्र चला गया था, तो भी सीता देवी अकेली न थीं। उस शत्रुपुरी में भी उनकी दुःख-भागिनी एक संगिनी भी थी। विभीषण की पत्नी सरमा उन्हें सान्त्वना देने के लिए बीच बीच में उनके पास आ जाती थी। वह उनके ललाट में सिन्दूर की बिन्दी लगा देती थी और उनके मुख से उनकी अतीत-कथा सुन कर परितृप्त हुआ करती थी।

रामायण में भी सीता और सरमा का कथोपकथन पाया जाता है किन्तु छाया और शरीर में जो अन्तर है वही उसमें और इसमें कहने से भी अत्युक्ति न होगी। मेघनाद-वध का सीता-सरमा-संवाद सम्पूर्ण मौलिक है। जिस वृत्तान्त की छाया लेकर भवभूति ने अपने अमर ग्रन्थ के सर्वोत्तम अंश की रचना की है, मेघनाद-वध के सीता-सरमा-संवाद में उसी का वर्णन है। उत्तर रामचरित के सिवा रामचन्द्र के दण्डकारण्य-वास का ऐसा गार्हस्थ्यचित्र अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। सरमा के अनुरोध से सीता देवी उसे अपने सुख-दुःख-पूर्ण पूर्व-जीवन का हाल सुनाती हैं। कहते कहते उनका हृदय अधीर हो जाता है। किन्तु वर्षा-जल-पूर्ण नदी जैसे दोनों किनारों को प्लावित करके शान्ति लाभ करती है, समदुःखभागिनी से अपने अतीत की कथा वर्णन करके वे भी शान्ति प्राप्त करती हैं। हाय! जैसे वृक्ष-शाखा पर नीड़ बना कर कपोत-कपोती सुखपूर्वक रहते हैं, वैसे ही रामचन्द्र के साथ सीता देवी भी पंचवटी में वास करती थीं। राज-कन्या और राज-वधू होने पर भी वे दण्डक वन में राजप्रासाद की अपेक्षा अधिक सुख पाती थीं। अरण्य प्रदेश को राज्य और अरण्यचारी जीवों को प्रजा रूप में प्राप्त करके वे परितृप्त थीं। वनदेवी की भाँति उनके दिन आनन्द में बीत रहे थे। दण्डक जिसका भाण्डार है उसे अभाव किस बात का? वन-रत्न-पुष्प-समूह उनकी कुटी के चारों ओर खिले रहते थे। वन-वैतालिक पिकवर प्राभातिक गान से

नित्य उन्हें जगाते थे और वन-नर्तक मयूर उनके द्वार पर नित्य आनन्द-नृत्य करते थे। वे अपने हाथों से कितने वन-विहंगों को आहार प्रदान करती थीं। कितने मृगशावकों का प्रतिपालन करती थीं। राजगृह के विलासों में अभ्यस्ता राज-वधू सरला वन-बाला के समान अकृत्रिम वन्य विभूषणों से विभूषित होकर क्या ही आनन्द पाती थीं। सरसी उनकी आरसी और कुवल शिरोभूषण न हो रहे थे। जिस समय वे वन के कुसुमों से सजती थीं, रामचन्द्र आदर पूर्वक उन्हें वनदेवी कहा करते थे। ये सब बातें क्या भूलने की हैं? वे कभी छाया को सखीभाव से सम्बोधन, कभी कोकिल के गान की प्रतिध्वनि और मृगियों के साथ खेला करती थीं। उनके पाले हुए लता और वृक्ष जब मंजरित होते थे तब उनका आनन्दोत्सव होता था। अरण्यचारिणी होने पर भी लता-वृक्षों का विवाह करके वे गार्हस्थ्य सुख का अनुभव किया करती थीं। कुसुमित वन-भूमि में, ज्योत्स्नाधौत नदी किनारे और सहकारच्छायाशीतल पर्वत-शिखर पर रामचन्द्र के साथ घूमने में उन्हें कितना आनन्द आता था! कैलासपुरी में महादेव की बाईं ओर बैठी हुई पार्वती के समान रामचन्द्र के मुख से वे कितनी मधुर कथाएँ सुना करती थीं। वह अमृतमयी वाणी शत्रुपुरी के अशोकवन में भी मानों उनके कानों में गूँज रही है। निष्ठुर विधातः, सीता क्या वह संगीत फिर न सुन सकेगी?

किन्तु विधाता ने सुख-भोग करने के लिए उन्हें नहीं सिरजा। उनके सुख-चन्द्रमा के लिए राहुच्छायारूपिणी शूर्पणखा ने दण्डक वन में आकर उनका सर्वनाश किया! राजकन्या और राज-वधू होने पर भी उन्हें वनवास देकर ही विधाता को मानों सन्तोष नहीं हुआ। बुरी घड़ी में उन्होंने स्वामी से मायामृग माँगा। बुरी घड़ी में मारीच का आर्तनाद सुनकर उन्होंने लक्ष्मण को तिरस्कार पूर्वक वहाँ भेजा। रावण ने सुयोग समझकर उनका हरण कर लिया। वे बहुत रोईं-चिल्लाईं परन्तु कोई रक्षा न कर सका। केवल जटायु ने उनके लिए प्राणदान करके अपना वीर-जन्म सार्थक किया। राक्षसराज का विमान उन्हें लेकर लंका की ओर को चला। देखते देखते नीलजलधि उनके सामने आ गया। राक्षसराज ने उन्हें लाकर अशोक वन में वन्दिनी कर रक्खा।

हाय! राजकन्या और राजबधू होकर उनके समान दुःख किसने भोगा है? दैव, क्या उनके कारागार का द्वार कभी न खुलेगा?

सीता और सरमा के संवाद रूप में कवि ने इसी प्रकार रामायण की कितनी ही घटनाओं का संक्षेप में वर्णन किया है। जटायु के साथ राक्षसराज के युद्ध के समय मूर्च्छिता सीता देवी के स्वप्नप्रदर्शन में भावी घटनाओं को बड़ी सुन्दरता और कुशलता से आभास दिया गया है। धार्मिक जटायु जब रावण की वज्रगम्भीर स्वर से ललकारता है तब उसे पढ़कर रोमांच हो आता है एवं शैल-पृष्ठ पर कालमेघ के समान जटायु की भीममूर्ति मानों सामने आ जाती है। मेघनाद-वध का प्रूफ देखते देखते मधुसूदन ने अपने मित्र राजनारायण से कहा था—"राजनारायण, क्या मेघनाद-वध हमें अमर न कर देगा?" मधुसूदन की वह आशा निष्फल नहीं हुई। मेघनाद-वध

ने निस्सन्देह उन्हें अमर कर दिया।

केवल वर्णना के माधुर्य्य और गाम्भीर्य्य के लिए ही सरमा और सीता का संवाद प्रशंसनीय नहीं। उसके साथ साथ सीता-चरित के उत्कर्ष-साधन के लिए ही इसकी अधिक प्रशंसा है। महर्षि वाल्मीकि ने सीता का जो चरित-चित्रण किया है उसे सर्वांग पूर्ण कह सकते हैं। किन्तु उनके सीता-चरित्र में भी एक त्रुटि दिखाई देती है, उसे मेघनाद-वध के सीता-चरित में मधुसूदन ने दूर करने की चेष्टा की है। मारीच का आर्तनाद सुन कर लक्ष्मण के प्रति सीता का जो अनुयोग रामायण में वर्णित है, उसे पढ़कर हृदय व्यथित होने लगता है। जो भाई के प्रेम के कारण राज-सुख-भोग और पतिप्राणा पत्नी को छोड़ने में भी कुण्ठित नहीं हुए और उनके पीछे पीछे घोर वन में चले आये, जिनकी दृष्टि भ्रातृजाया के चरण-नूपुरों से ऊपर की ओर कभी नहीं गयी, उन पवित्र-जीवन ब्रह्मचारी लक्ष्मण के विषय में क्या ऐसा विचार करना सीता देवी के लिए कभी उचित कहा जा सकता है कि वे पाप-कामना करके उनके अनुगामी हुए हैं—

''सुदुष्टस्त्वं वने राम मेक मेकोनु गच्छसि।
मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरते न वा॥''

वाल्मीकि।

लक्ष्मण के समान देवर क्या भाभी के समीप इस प्रकार की आशंका का कारण हो सकता है? सीता के लिए उस दशा में लक्ष्मण का तिरस्कार करना अस्वाभाविक नहीं। किन्तु बहुत दिनों का विश्वास एक दिन के व्यवहार से अकस्मात् इस प्रकार सन्देह में बदल जाय, यह बात स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। जो लोग कहते हैं कि देवकार्य्य-सम्पादन करने के लिए सरस्वती से प्रेरित होकर ही सीता देवी ने लक्ष्मण से ऐसी बातें कही थीं, उनसे हमें कुछ नहीं कहना है। मेघनाद-वध के राम और सीता को मानव और मानवी भाव में देखकर उनकी प्रकृति के विषय में जो कुछ कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है, वही कहा गया है। मधुसूदन ने सीता के मुँह से ऐसी अनुचित कोई बात नहीं कहलाई। उनकी भर्त्सना कठोर होने पर भी सीता की उच्च प्रकृति के अयोग्य नहीं होने पाई। सीता-चरित के सम्बन्ध में केवल शिष्टता और सुरुचि के लिए ही मधुसूदन की प्रशंसा नहीं है। शाण पर चढ़ कर जिस प्रकार मणि और भी उज्ज्वल हो जाती है, उसी प्रकार मधुसूदन के हाथ से सीता का चरित और भी उज्ज्वल हो गया है। मेघनाद-वध में केवल दो बार हमें सीता देवी के दर्शन होते हैं। पहली बार मेघनाद के अभिषेक और दूसरी बार उसकी मृत्यु के बाद। पहली बार की अपेक्षा दूसरी बार का चित्र और भी उज्ज्वलतर है। पहली बार सरमा उनके शरीर को आभरण-हीन देख कर आभरण छीन लेने के लिए जब रावण की निन्दा करती है तब सीता देवी सरमा से कहती हैं—

"कोसती हो व्यर्थ तुम लंकापति को सती,
आभूषण आप ही उतार मैं ने फेंके थे
जब था वनाश्रम में पापी ने हरा मुझे।"

आततायी शत्रु को भी व्यर्थ निन्दा से बचाने की यह चेष्टा सीता देवी के चरित्र के योग्य ही है। दूसरी बार सरमा ने आकर उन्हें मेघनाद की मृत्यु और प्रमीला के सती होने का समाचार सुनाया। दैव के अनुग्रह से अपने कारागार के द्वार खुलने का उपक्रम देखकर उन्होंने उसे धन्यवाद भी दिया; किन्तु साथ ही साथ राक्षस-परिवार की दुर्दशा देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठा। वे स्वयं निरपराधिनी हैं। फिर भी विधाता ने उन्हें राक्षस-वंश की काल रात्रि स्वरूपिणी क्यों किया? उन्हीं के पीछे मेघनाद और निरपराधा प्रमीला चितानल में जलते हैं, यह देख कर उनका मन अधीर हो उठा। वे सजलनेत्रों से सरमा से कहती हैं–

"कुक्षण में जन्म हुआ मेरा सखि सरमे,
सुख का प्रदीप मैं बुझाती हूँ सदैव ही
जाती जिस गेह में हूँ हाय! मैं अमंगला!
मेरे दग्ध भाल में लिखा है यही विधि ने
× × × सखी, यहाँ
देखो मरा इन्द्रजित दोष से अभागी के
और मरे रक्षोरथी कौन जानें कितने?
मरती है आज दैत्यवाला, विश्व में है जो
अद्वितीया तेजस्विनी, अद्वितीया सुन्दरी;
हायरे, वसन्तारम्भ में ही यह कलिका
खिलती हुई ही सखि, शुष्क हुई सहसा!"

अत्याचारी राक्षस-कुल पर इस प्रकार की अनुकम्पा आर्य्य रामायण की सीता देवी के स्वभाव में नहीं देखी जाती। यह मधुसूदन की ही कल्पना है। मेघनाद-वध की सीता और सरमा का संवाद साधारण पाठकों के निकट प्रायः उपेक्षित रहता है; किन्तु मेघनाद-वध की रचना का यह एक उत्कृष्ट अंश है। जिस देवी के चरित से अंकित होने के कारण ही रामायण का इतना गौरव है, मेघनाद-वध में उसकी कथा न रहने से वह अंगहीन रहता। मधुसूदन के लिए सीता देवी के सम्बन्ध में इससे अधिक कहना सम्भव न था। सीता देवी उस समय कारागार में बन्द थीं। किन्तु उस अवस्था में भी मधुसूदन ने उनकी प्रकृति में गुणों का जितना समावेश किया है वह बहुत ही सुन्दर है। मेघनाद-वध के राम और लक्ष्मण के चरित्रों का अच्छा चित्रण उनसे न हो सका, परन्तु उनके सीता-चरित ने उनके काव्य का गौरव रख

लिया है। जो कहते हैं कि प्रकृत गौरव का अनुभव करने में अक्षम होने के कारण ही मधुसूदन ने राम-लक्ष्मण को ऐसे रूप में चित्रित किया है, उनका कहना सब सच नहीं। यदि ऐसा होता तो हम लोग मेघनाद-वध में सीता देवी को और वीरांगना में रुक्मिणी देवी को उस रूप में न देख सकते जिसमें वे दिखाई गई हैं।

पंचम सर्ग

मेघनाद-वध के पाँचवें सर्ग में पृथ्वी और स्वर्ग, दोनों स्थानों के दृश्य दिखाई देते हैं। माया देवी के कौशल से लक्ष्मण ने स्वप्न देखा कि उनकी माँ सुमित्रा देवी उन्हें लंका के उत्तर की ओर वाले वन में जाकर लंका की अधिष्ठात्री महामाया की पूजा करने का आदेश दे रही हैं। देवानुग्रह लाभ करने में अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है, यह विश्वास सभी समाजों में बद्धमूल है। मधुसूदन ने इसी विश्वास के कारण देवी-पूजा को जाते हुए लक्ष्मण को अनेक प्रलोभनों और विभीषिकाओं में डाला है। पहले ही उन्हें महादेव का सामना करना पड़ा है। मेघनाद-वध में गम्भीर भावोद्दीपक जितने दृश्य हैं उनमें से यह अन्यतम है। लक्ष्मण के वीरोचित भाव देख कर महादेव ने उनका मार्ग छोड़ दिया। इसके अनन्तर उन्हें डराने के लिए कभी मायामय सिंह का और कभी दावानल का आविर्भाव किया गया है। किन्तु वे निर्भीक वीर विचलित नहीं हुए। अकस्मात् कुंजवन-विहारिणी देवांगनाओं की कण्ठ-ध्वनि उन्हें सुन पड़ी और भूपतित तारकाओं के समान वे ज्योतिर्मयी जल-क्रीड़ा करती हुई दिखाई दीं। उन्होंने चारों ओर से आकर लक्ष्मण को घेर लिया। इस अंश को पढ़ कर टैसो के जेरूजालम-उद्धार का पन्द्रहवाँ सर्ग याद आता है। वीर वर राइनाल्डो को खोजने के लिए गये हुए दूतों को जल-क्रीड़ा-परायणा अप्सराओं ने जो कुछ कहा था, उसी के आदर्श पर मधुसूदन ने लक्ष्मण के प्रति कहलाया है—

"× × × स्वागत है रघुकुलरत्न का,

× × ×

अमरी हैं देव, हम; सब मिल तुमको
वरती हैं, चल के हमारे साथ नाथ हे!
हमको कृतार्थ करो और क्या कहें भला?
युग युग मानव कठोर तप करके
पाते सुख-भोग हैं जो, देंगी वही तुमको
गुणमणि, रोग, शोक आदि कीट जितने
काटते हैं जीवन-कुसुम को जगत में,
घुस नहीं सकते हैं वे हमारे देश में
रहती जहाँ हैं चिरकाल हम हर्ष से।"

किन्तु वीर ब्रह्मचारी के मातृ सम्बोधन से लज्जित होकर वे क्षण मात्र में अदृश्य हो गयीं। इसी प्रकार सारे विघ्नों को अतिक्रम करके महावीर लक्ष्मण ने यथा विधि देवी की पूजा की। उनकी कामना सफल हुई। कठोर साधना से प्रसन्न होकर महामाया ने आकाशवाणी द्वारा उन्हें यथेष्ट वर प्रदान किया। पक्षियों ने प्रभातिक संगीत के मिस से इस आनन्द की सर्वत्र घोषणा की।

वीर वर मेघनाद साध्वी प्रमीला के साथ जहाँ फूल-शय्या पर सो रहा था, उस स्थान पर भी पक्षियों का यह आनन्द-गीत गूँजने लगा। वे दोनों भी जाग पड़े। उनकी निद्राभंग-वर्णना बहुत मनोहारिणी है। पाराडाइज़ लास्ट के पाँचवें सर्ग में आदम और इव के निद्रा-भंग को आदर्श मान कर कवि ने इसे लिखा है। किन्तु रचना-सौन्दर्य्य के कारण यह मौलिक जान पड़ती है। पाश्चात्य कवियों का आदर्श अपने देशवासियों के सामने उपस्थित करने के लिए ही मधुसूदन विदेशीय भावों का इस प्रकार अनुकरण किं वा स्वांगीकरण (assimilation) करते थे। भाषापहरण करना उनका उद्देश्य न था। उनकी इस अनुकरण-दक्षता के सम्बन्ध में बाबू राजनारायण वसु और महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने ठीक कहा है–

"Whatever passes through the crucible of the author's mind receives an original shape."

लेखक के रासायनिक मस्तिष्क से जो कुछ भी निर्गत होता है वह मौलिक रूप धारण कर लेता है।

वास्तव में गृहीत विषयों को उन्होंने ऐसा नया आकार दिया है कि वे सब उनकी निज की सृष्टि जान पड़ते हैं। मधुसूदन ने जिन जिन स्थानों पर दूसरे काव्यों से भाव ग्रहण किये हैं, उनका हमने उल्लेख किया है। यदि किसी को दूसरे के भावापहारक समझकर उन पर अश्रद्धा हो तो मेघनाद-वध के उन स्थलों को मूल काव्यों से मिलाकर देख लेना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें ज्ञात हो जायगा कि अनेक स्थलों पर किसके अस्पष्ट आदर्श से मधुसूदन की कल्पना ने कैसे सुन्दर चित्र अंकित किये हैं।

सुप्तोत्थित मेघनाद युद्ध में जाने के पूर्व जननी से विदा और आज्ञा लेने प्रमीला के साथ गया। पुत्रवत्सला माता एवं पतिप्राणा पत्नी से मेघनाद का विदा माँगने वाला दृश्य बहुत सुन्दर है। पहले ही कहा जा चुका है कि रामायण में राक्षस परिवार के कोमल भाव सम्पन्न अंश का उल्लेख नहीं, मधुसूदन ने ही उसे अपने काव्य में प्रकट किया है। पुत्र की कल्याण-कामना से जननी का आहार-निद्रा छोड़ कर शिवाराधन करना, मातृभक्त पुत्र का उससे विदा माँगने के लिए पत्नी-सहित आना और प्रगाढ़ स्नेहशील दम्पति का परस्पर गद्गद भाव से विदा होना, राक्षसोचित भाव नहीं, मानवहृदय की कोमलता उसमें भरी हुई है। प्रमीला के प्रति मन्दोदरी का व्यवहार एवं मेघनाद और प्रमीला का परस्पर विदा होना इस काव्य में सवपिक्षा मधुर गार्हस्थ्य

भावों से परिपूर्ण है। पहले प्रमीला के चरित की आलोचना करते समय उसके तत्कालीन भावों की चर्चा की जा चुकी है। यह विदा अन्तिम विदा है, इसे मेघनाद और प्रमीला कोई नहीं जानता था। प्रमीला ने उस समय पति के कल्याण के लिए भगवती से प्रार्थना की–

> ''रक्षा करो रक्षोवर की माँ, इस युद्ध में
> आवृत्त अभेद्य वर्म्म-तुल्य करो वीर को।
> आश्रिता तुम्हारी यह लतिका है हे सती,
> जीवन है इसका माँ, इस तरुराज में,
> जिसमें कुठार इसे छू न सके, देखना।''

साध्वी का अपना कुछ नहीं, स्वामी के गौरव से ही वह गौरवान्विता है और उसी के तेज से तेजस्विनी। मेघनाद से उसने कहा था–

> ''सुनती हूँ, चन्द्रकला उज्ज्वला है रवि का
> तेज पाके, वैसे ही निशाचर रवे, सुनो,
> दीखता अँधेरा है तुम्हारे बिना दासी को।''

इन बातों से मधुसूदन ने साध्वीचरित के आत्मविसर्जन का जो सुन्दर परिचय प्रदान किया है, उसकी तारीफ़ नहीं की जा सकती।

दूसरे सर्ग की आलोचना करते समय कहा जा चुका है कि देव और मानवीय भावों का एकत्र समावेश करने में वर्जिल, टैसो और मिल्टन प्रभृति कवियों ने जो भूल की है, मधुसूदन भी उसी भ्रम में पड़ गये हैं। प्रमीला की प्रार्थना से देवराज को डरा हुआ देख कर मधुसूदन ने उसे वायु के द्वारा विपरीत दशा में उड़ा दिया है। प्रार्थना स्थूल, इन्द्रियग्राह्य सामग्री नहीं, इसका उन्होंने विचार नहीं किया। करते भी तो क्या होता। सत्य-रक्षा करने में पुराणों की रक्षा न थी और पुराणों की रक्षा करने में सत्य की रक्षा न थी! सब देशों के पौराणिक काव्यों में यह त्रुटि पाई जाती है।

मेघनाद-वध काव्य में कवि ने मेघनाद के चरित्र के सम्बन्ध में कुछ विशेषत्व प्रदर्शित किया है। अतएव उस विषय में दो-एक बातें कहने की आवश्यकता है। मेघनाद की प्रकृति का प्रधान लक्ष्य है उसकी भयशून्यता। पिता, माता और पत्नी सब के साथ बातचीत करने में उसका वह गुण प्रकाशित हो रहा है। लंका के युद्ध में सहस्र सहस्र वीर मारे जा रहे थे किन्तु उसके हृदय में कुछ भी उद्वेग न था। वीरवर वीरबाहु के मरने पर स्वयं राक्षसराज विस्मित हो गया था किन्तु मेघनाद के हृदय में विस्मय का भाव भी न आया था। वीरबाहु उसके निकट एक बालक मात्र था। राम ने उसी बालक को मारा है, इसमें विस्मय की कौन-सी बात है? इसीलिए हम उसके मुँह से सुनते हैं–

"मेरा शिशु बन्धु वीरबाहु, उसे दुष्ट ने
मार डाला, देखूँगा कि कैसे वह मुझको
करता निवारित है? माता, पद-धूलि दो।"

जिन राम को उसने रात्रि-रण में मारा था, वे फिर जीवित हो गये और उसका अनिष्ट साधन कर रहे हैं, यह सुनकर उसने पिता से जो कुछ कहा था वह पहले सर्ग की आलोचना में उद्धृत किया जा चुका है। जननी से विदा माँगने के समय भी उसकी यही भीति-शून्यता व्यक्त होती है—

"क्या है वह तुच्छ राम? डरती हो उसको?
× × ×
× × × देवि, तुम अपने
मन्दिर में लौट जाओ; आके फिर शीघ्र ही
रणविजयी हो पद-पद्म ये मैं पूजूँगा।
पा चुका हूँ तात का निदेश, तुम आज्ञा दो,
जननि, तुम्हारा शुभाशीष प्राप्त होने से
रोक सकता है कौन किंकर को रण में?"

पत्नी के निकट उसके सान्त्वना वाक्य और भी निर्भीकता-व्यंजक हैं। रामचन्द्र के साथ युद्ध करना उसके निकट बालकों की क्रीड़ा मात्र है! वह प्रमीला से कहता है—

"× × × अभी लौट यहाँ आऊँगा
लंकाअलंकारिणि, मैं राघव को मारके।"

जब तक निराशा अथवा दुःख का अनुभव मनुष्य को नहीं होता तब तक उसके चित्त में चिन्ता अथवा भय का संचार नहीं होता। मेघनाद के जीवन में निराशा और चिन्ता कभी हुई ही न थी। इसलिए वह निर्भय, आत्मशक्ति में अटल प्रत्ययशील था। त्रिभुवनविजयी राजराजेश्वर पिता, स्नेहप्रवणहृदया राज्ञी माता, पतिगतप्राणा वीर्य्यवती पत्नी, अतुल ऐश्वर्य्य सम्पन्न लंका का यौव राज्य एवं सर्वोपरि इष्टदेव का प्रसाद प्राप्त करके मेघनाद शालवृक्ष की तरह उन्नत मस्तक था। रामचन्द्र के युद्ध ने बवण्डर रूप में उपस्थित होकर उसे भूमिसात् कर दिया; किन्तु विनत नहीं कर पाया। राक्षसराज भी वीर था, मेघनाद भी वीर था। अवस्था भेद से ही दोनों में तादृश पार्थक्य उत्पन्न हुआ था। परन्तु वीरोचित भयशून्यता के लिए ही मेघनाद की प्रशंसा नहीं। उसका हृदय जैसे एक ओर पाषाण की तरह कठोर था वैसे ही दूसरी ओर कुसुमवत् कोमल भी था। वह स्वदेशवत्सल, मातृ-पितृ-भक्त, अनुजों के प्रति स्नेहवान, यहाँ तक कि आततायी शत्रु के प्रति भी शिष्टाचार परायण था। लक्ष्मण ने जब उसे मारने के लिए तलवार उठाई तब उसने उनसे कहा था—

"लो आतिथ्य सेवा तुम शूर-सिंह पहले
मेरे इस धाम में जो आ गये हो, ठहरो!
रक्षोरिपु तुम हो, अतिथि तो भी आज हो।"

मेघनाद की यह निर्भीकता और महाप्राणता पष्ठ सर्ग में बहुत अच्छी तरह प्रकाशित हुई है। यज्ञागार में तपोनिष्ठ मेघनाद आदर्श क्षत्रिय वीर-सा दिखाई देता है। मधुसूदन ने ट्राय-राजकुमार हेक्टर को मेघनाद के आदर्श रूप में ग्रहण किया है, इसीलिए उसका चरित इतना उन्नत हुआ है।

षष्ठ सर्ग

मेघनाद-वध की मूल घटना षष्ठ सर्ग का वर्णनीय विषय है। विभीषण और माया देवी की सहायता से लक्ष्मण द्वारा मेघनाद का वध इस सर्ग में वर्णन किया गया है। काव्य के नायक और प्रतिनायक इसी सर्ग में एक साथ दिखाई देते हैं। दोनों ही परस्पर समकक्ष और प्रतिद्वन्द्वी हैं। जिसने भुज-बल से वृत्र-विनाशी देवराज को भी युद्ध में पराजित किया है, वह काव्य का नायक है; एवं जो त्रिपुरान्तकारी साक्षात् रुद्रदेव को भी युद्ध के लिए ललकारने में आगा-पीछा नहीं करते, वे काव्य के प्रतिनायक हैं। इन दोनों, अतुल पराक्रम, वीरों को इकट्ठा करके कवि ने उनके चरित-सामंजस्य की किस प्रकार रक्षा की है, यह जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है, किन्तु दुर्भाग्य-वश रक्षोवंश की ओर अधिक अनुराग रखने के कारण कवि ने इस सर्ग में राम-लक्ष्मण को इस भाव से चित्रित किया है कि उसे देख कर मर्माहत होना पड़ता है। इस सम्बन्ध में मेघनाद-वध का षष्ठ सर्ग ही सब से अधिक अपकृष्ट है। कवि अपने काव्य के इस अंश का संशोधन करने के लिए जीवित नहीं, यह और भी परिताप की बात है।

षष्ठ सर्ग के आरम्भ में लक्ष्मण देवी की पूजा करके शिविर में लौट आये हैं। भगवती का प्रसाद प्राप्त करके उनका हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो रहा है। अग्रज के सामने देवीपूजन का उन्होंने जो विवरण दिया है, उससे अच्छी तरह उसका परिचय मिलता है। हृदय का उत्साह रोकने में असमर्थ से होकर दृप्त सिंह-शावक की भाँति सगर्व वे श्रीरामचन्द्र से कहते हैं–

"आज्ञा है तुम्हारी अब क्या हे प्रभो, दास को?
बीत रही रात देव, काम नहीं देर का।
आज्ञा दो कि जाऊँ अभी, मारूँ मेघनाद को।"

लक्ष्मण का यह वीरत्व-पूर्ण उत्साह सर्वथा प्रशंसनीय है। किन्तु इसी के साथ कवि ने रामचन्द्र से बहुत कापुरुषता का व्यवहार कराया है। और की तो बात ही

क्या, स्वयं सीता के उद्धार की आशा छोड़ कर वे वन को लौट जाने के लिए तैयार हैं; किन्तु मेघनाद के साथ लड़ने की लक्ष्मण को आज्ञा देने के लिए नहीं। लक्ष्मण और विभीषण उन्हें समझाते हैं तो भी उन्हें साहस नहीं होता। विभीषण अपने स्वप्न की बात सुना कर कहता है कि राजलक्ष्मी ने प्रत्यक्ष होकर उसे लंका का राजसिंहासन देने का वर प्रदान किया है, तो भी उनका डर नहीं छूटता, वे स्त्रियों की तरह विलाप करने लगते हैं। और कभी वन को आते समय अयोध्या के राजमहल में रोती हुई ऊर्म्मिला की याद करते हैं, कभी इस बात का उल्लेख करते हैं कि सुमित्रा ने किस प्रकार लक्ष्मण को उन्हें सौंपा था। अन्त में आकाश-वाणी होती है कि हे रामचन्द्र, तुम्हें क्या देव वाक्य में अविश्वास करना उचित है? तुम देवकुल प्रिय हो। शायद इतने से भी उन्हें सन्तोष न होता, इसलिए देववाणी उन्हें शून्य की ओर देखने के लिए कहती है। आकाश में दिखाई पड़ता है कि एक मोर और साँप का युद्ध हो रहा है। किन्तु उसमें विजय साँप की ही होती है। मयूर मारा जाता है। कवि ने यह मयूर और साँप का युद्ध इलियड काव्य के बारहवें सर्ग से परिवर्तित रूप में ग्रहण किया है। विभीषण फिर रामचन्द्र से कहता है कि यह देख सुन कर भी क्या आपका भय नहीं छूटता? तब कहीं वे लक्ष्मण को उसके साथ जाने देने के लिए राजी होते हैं और देव-अस्त्रों से उन्हें अपने हाथों सजाते हैं। किन्तु इतना होने पर भी उनका मन आश्वस्त नहीं होता। वे भाई को विभीषण के हाथ सौंपते हुए कहते हैं—

> "जाओ मित्र, देखो, किन्तु सावधान रहना,
> सौंपता है राघव भिखारी तुम्हें अपना
> एक ही अमूल्य रत्न। रविवर, बातों का
> काम नहीं, बस, यही कहता हूँ आज मैं—
> जीवन-मरण मेरा है तुम्हारे हाथ ही।"

इस प्रकार, किसी तरह अग्रज की आज्ञा पाकर, गुल्मावृत्त व्याघ्र या नदी-गर्भस्थ नक्र की तरह, लक्ष्मण मेघनाद को मारने के लिए, विभीषण के साथ चले। उनके स्पर्श से लंका का दुर्भेद्य सिंहद्वार खुल गया। कवि ने अपने स्वाभाविक नैपुण्य से लंका का प्रातःकालीन दृश्य, नागरिक लोगों का कथोपकथन एवं मेघनाद के यज्ञागार का शोभापूर्ण वर्णन किया है। लक्ष्मण के उस मन्दिर में प्रवेश करते ही उनके अस्त्रों की झनझनाहट और पैरों की आहट से मेघनाद का ध्यान टूट गया। उसने आँखें खोल कर और उन्हें इष्टदेव समझ कर उनके चरणों में प्रणाम किया। लक्ष्मण ने अपना परिचय देकर उसे युद्ध के लिए ललकारा। किन्तु विस्मित मेघनाद को उनके लक्ष्मण होने का किसी प्रकार विश्वास न हुआ। विश्वास न होने की बात ही थी। लंका के उन अजेय वीरों के व्यूह को और दुर्लंघ्य प्राचीर को अतिक्रम करके किसकी मजाल है जो उसके यज्ञागार में प्रवेश करे? मेघनाद ने फिर भी उन्हें इष्टदेव समझा

और पुनर्वार प्रणाम करके अभीष्ट वर माँगा। किन्तु जब लक्ष्मण ने उसे मारने के लिए खंगोत्तोलन किया तब उसका भ्रम दूर हो गया। क्षण भर के लिए आश्चर्य्यचकित और उद्विग्न होकर उसने उनकी ओर देखा। भय-शून्यता मेघनाद के चरित का मुख्य लक्षण है, यह पहले कहा जा चुका है। उसके इस समय के व्यवहार से उसका स्पष्ट परिचय पाया जाता है। रामायण का मेघनाद मायावी योद्धा है। माया-युद्ध में ही उसका वीरत्व है। माया की सीता का छेदन करके उसने रामचन्द्र पर विजय पाने की चेष्टा की थी। किन्तु मधुसूदन के मेघनाद के पास माया नहीं, कपट नहीं। लक्ष्मण को तलवार उठाये देख कर वह प्रकृत क्षत्रिय वीर की तरह कहता है—

"रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही
तो हे महाबाहो, मैं तुम्हारी रण-लालसा
मेटूँगा अवश्य घोर युद्ध में। भला कभी
होता है विरत इन्द्रजित रण-रंग से?
लो आतिथ्य सेवा तुम शूर-सिंह पहले
मेरे इस धाम में जो आ गये हो, ठहरो।
रक्षोरिपु तुम हो, अतिथि तो भी आज हो,
सज लूँ ज़रा मैं वीर-साज से। निरस्त्र जो
वैरी हो प्रथा है नहीं शूर वीर-वंश में
मारने की उसको; इसे हो तुम जानते,
क्षत्रिय हो तुम, मैं कहूँ क्या और तुमसे?"

यहाँ तक कवि ने लक्ष्मण को मेघनाद का उपयुक्त प्रतिद्वन्द्वी दिखाया है। किन्तु यहीं से उनके चरित में कालिमा-लेपन करना आरम्भ कर दिया है। इसके बाद महाप्राण मेघनाद की उदारता और निर्भीकता जैसी प्रशंसनीय है, 'क्षुद्रमति' लक्ष्मण की कापुरुषता और नृशंसता वैसी ही निन्दनीय। लक्ष्मण ने प्रतिपक्षी की वीरोचित और न्याय्यप्रार्थना स्वीकार नहीं की। उन्होंने निरस्त्र दशा में ही उसकी हत्या की। कवि ने केवल वीरोचित औदार्य्य और महत्त्व में ही लक्ष्मण को कापुरुष के समान चित्रित नहीं किया है, वरन शारीरिक बल में भी उन्हें शिशु की अपेक्षा निकृष्ट कर दिया है। क्रुद्ध मेघनाद के द्वारा फेंके गये शंख-घंटा आदि पूजोपकरणों से भी आत्मरक्षा करने का सामर्थ्य उनमें न था। इसीलिए—

"× × × महामाया ने
सब को हटाया दूर, फैला कर हाथ यों—
सोते हुए बालक के ऊपर से जननी
मच्छड़ हटाती है हिला के कर-कंज ज्यों।"

इससे भी कवि को सन्तोष नहीं हुआ। जिस समय रिक्तहस्त मेघनाद लक्ष्मण पर झपटा उस समय भी देवास्त्र धारी लक्ष्मण का रक्षण करने के लिए देव-माया का प्रयोजन हुआ। माया देवी के कौशल से मेघनाद ने देखा कि कालदण्डधारी यम, शूलपाणि महाकाल और गदाचक्रधारी विष्णु प्रभृति देव-गण उसके चारों ओर खड़े हैं। मन्त्रमुग्ध की भाँति वह निश्चल भाव से खड़ा हो गया और उसी दशा में लक्ष्मण ने खंगाघात करके उसे धराशायी कर दिया। जिस दुर्जय दर्प से वह राम-लक्ष्मण को तृण-तुल्य समझता था, उसके अन्तकालीन आर्तनाद से भी वह व्यक्त होता है। एक ओर इलियड के मुमूर्ष वीर हेक्टर का अभिसम्पात और दूसरी ओर रामायण के मेघनाद की भर्त्सना सम्मिलित करके कवि ने लक्ष्मण और विभीषण के प्रति मेघनाद की अन्तिम वाक्यावली की रचना की है। अन्त में जनक-जननी के चरणों का स्मरण करके मेघनाद ने आँखें मूँद लीं। राक्षसराज के पाप का प्रायश्चित्त रूप 'लंका का सरोजरवि' अकाल में ही अस्त हो गया।

इस प्रकार इन्द्रजित का वध किं वा उसकी हत्या करके लक्ष्मण श्रीरामचन्द्र के समीप लौट आये। वर्णनीय विषय परिस्फुट करने के लिए ही कविजन उपमा-अलंकारों का प्रयोग करते हैं। दुर्भाग्य-वश मधुसूदन ने यहाँ पर जिन दो उपमाओं का प्रयोग किया है, उनसे लक्ष्मण का नर-हन्तापन और भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है। पहले उन्होंने व्याघ्री की अनुपस्थिति में व्याघ्र-शिशु को मारने वाले किरात से लक्ष्मण की उपमा दी है। उससे भी परितुष्ट न होकर निद्रितपाण्डवशिशुहन्ता, ब्राह्मण कुलांगार, कापुरुष अश्वत्थामा के साथ उनकी तुलना की है। किन्तु इसके बाद हम देखते हैं कि रामचन्द्र उस नरघाती का अभिनन्दन करते हैं—

''पाया आज सीता को तुम्हारे भुजबल से
हे भुजबलेन्द्र, तुम धन्यवीर-कुल में।''
इत्यादि।

अभिनन्दन बहुत सुन्दर है; किन्तु लक्ष्मण ने जो अनुपम वीरत्व प्रदर्शित किया था, वह उन्हें अविदित न था। रामचन्द्र के इस अत्यधिक अभिनन्दन किये जाने पर, यदि उन्हें आत्मसम्मान का कुछ भी ज्ञान होता तो वे समझते कि बड़े भाई उन पर व्यंग्यवृष्टि कर रहे हैं। जो हो, लक्ष्मण के हाथ से मेघनाद का वध कराना कवि को अभीष्ट था सो पूरा हो गया। रामचन्द्र की सेना जयोल्लास करने लगी और सुप्तोत्थित लंकापुरी वह विकट शब्द सुन कर चौंक उठी।

मेघनाद-वध का षष्ठ सर्ग ही सारे काव्य में सबसे निकृष्ट है। मधुसूदन जिस कारण से इस सर्ग की इस प्रकार रचना करने के भ्रम में पड़े हैं, उसके विषय में दो एक बातें लिखी जाती हैं। पहला कारण राक्षस-वंश पर उनकी अत्यधिक सहानुभूति है और दूसरा कारण वाल्मीकि को छोड़कर होमर को आदर्श रूप मान कर उसके

अनुकरण की चेष्टा है। राक्षस वीरों के वीरत्व ने मधुसूदन को ऐसा मुग्ध कर दिया था कि उनके प्रतिपक्षी भी वीर हैं, इसे वे एक बार ही भूल गये थे। उनका धार्मिक विश्वास भी उनके भ्रम का एक कारण था। जातीय धर्म्म में विश्वास रहने से जो महापुरुषद्वय चिरकाल से हिन्दुओं के हृदयाराध्य हो रहे हैं उन्हें वे इस रूप में चित्रित न करते। किन्तु होमर का अनुकरण ही इस भ्रम का सबसे मुख्य कारण है। महर्षि वाल्मीकि का चरित सन्निवेश ऐसा सुन्दर है कि श्रीरामलक्ष्मण को अतुल्य पराक्रमी वीर जानकर भी हम राक्षसराज और मेघनाद को उनके अयोग्य प्रतिद्वन्द्वी नहीं मानते। किन्तु होमर का आदर्श भिन्न है। ग्लैडस्टन ने होमर के विषय में कहा है कि ग्रीकों पर उनका इतना पक्षपात था कि उन्होंने एक भी प्रसिद्ध ग्रीक वीर का ट्रायवासियों से न्याय्य युद्ध में वध नहीं कराया। पैट्रोक्ल्स को हेक्टर अवश्य मारता है; किन्तु विजय का प्रधान निदर्शन रूप उसके शव पर अधिकार करने में कोई समर्थ नहीं होता। ग्लैडस्टन ने लिखा है–

"It is a cardinal rule with Homer, that no considerable Greek Chieftain is ever slain in fair fight by a Trojan. The most noteworthy Greek, who falls in bettlel, is Tlepolemos; and sarpedon, who kills him, is leader of the Lycians, a race with whom Homer betrays peculiar sympathy. The threadbare victory of Hector is further reduced by the success of the Greeks in recovering the body of Patroclos."

क्षुद्रमति ट्रायनिवासी ग्रीक वीरों को न्याय्य युद्ध में मारें अथवा अतिक्रम करें, इलियड का कवि इसे किसी तरह सहन नहीं कर सकता। जो हेक्टर अन्यान्य स्थलों पर महावीर के रूप में चित्रित किया गया है, वही जिस समय अपने प्रतिद्वन्द्वी आक्लिस के सामने आता है उस समय कवि उसे विकलांग-सा चित्रित करता है। मधुसूदन के लिए होमर का अविकल अनुसरण करना सम्भव न था किन्तु जहाँ तक उनसे हो सका लक्ष्मण और मेघनाद के सम्बन्ध में उन्होंने पक्षपात किया। ''क्षुद्रनर'' लक्ष्मण उनके इन्द्रविजयी महावीर को न्याय्य युद्ध में वध करें, कवि के लिए यह मानों असह्य था। इसी से उन्होंने लक्ष्मण को एक बालिका की अपेक्षा भी दुर्बल बना डाला। और सब स्थानों में लक्ष्मण भय-शून्य रहें साक्षात् रुद्रदेव को भी युद्ध के लिए आह्वान करने में द्विधा न करें, किन्तु मेघनाद को देखते ही एक साथ मन्त्रमुग्ध की भाँति अवसन्न हो जाते हैं। मेघनाद के अस्त्रप्रहार की तो बात ही जाने दीजिए, उसके फेंके हुए शंख, घंटा प्रभृति पूजा के सामान्य पदार्थों से, नहीं नहीं, उसके खाली हाथ के वार से भी आत्मरक्षा करने में वे असमर्थ हैं! नायक का गौरव बढ़ाने के लिए प्रतिनायक को भी गौरवयुक्त रखना पड़ता है, जान पड़ता है, मेघनाद-वध के कवि को इस बात का भी स्मरण नहीं रहा है। आर्य्य रामायण का अनुसरण करने से उसे इस भ्रम में न पड़ना पड़ता। आर्य्य रामायण के लक्ष्मण ने तस्कर की तरह घर

में घुसकर निरस्त्र शत्रु की हत्या करना तो दूर, इन्द्रजित को अपने साथ प्रच्छन्न रूप से युद्ध करते देखकर उसे इसके लिए धिक्कार देते हुए कहा था—

> ''अन्तर्धान गतेनाजौ यत्वयाचरितस्तदा,
> तस्कराचरितो मार्गो नैष वीर निषेवितः।
> यथा बाणपथंप्राप्य स्थितोस्मि तव राक्षस,
> दर्शस्वाद्यतं तेजो वाचात्वं किंविकथ्यसे॥''

अर्थात् रणक्षेत्र में अन्तर्हित होकर तू जो कुछ करता है वह चोरों के योग्य है, वीरों के योग्य नहीं। जैसे मैं तेरे बाण-पथ में स्थित हूँ वैसे ही तू भी वैसा ही तेज दिखला; अनर्थक बकता क्यों है?

रामायण में वर्णित लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध वर्णन पढ़कर शरीर रोमांचित हो उठता है। किन्तु मधुसूदन की पक्षपातिता और अनुकरणेच्छा ने ही उन्हें अपने भ्रम के सम्बन्ध में अन्ध रक्खा उन्होंने बाबू राजनारायण वसु को लिखा था कि—''मैं ऐसी कठोर सावधानता से मेघनाद-वध की रचना कर रहा हूँ कि कोई फ्रेंच समालोचक भी उसमें दोष न निकाल सकेगा।'' सुतराम् उनका यह दोष स्वेच्छाकृत नहीं। किन्तु स्वेच्छाकृत हो, या अनिच्छाकृत हो, यह सर्ग उनके काव्य का सदैव कलंक होकर वर्तमान रहेगा।

सप्तम सर्ग

अति मनोहर प्रभात-वर्णन के साथ मेघनाद-वध का सप्तम सर्ग आरम्भ होता है। लंका का गौरव-रवि सदा के लिए अस्त हो गया है; किन्तु प्रकृति का भ्रूक्षेप भी उधर नहीं। दिनमणि सदा की भाँति उज्ज्वल आलोक से संसार को उद्भासित करके उदित हुए हैं। कुसुम-कुन्तला पृथ्वी मोतियों की माला पहन कर पूर्व की ही भाँति हर्ष से हँसने लगी है। निकुंज-समूह भी पहले की तरह विहंग-कुल के कूजन से मुखरित हो उठा है। प्रकृति के संगीत, हास्य और उल्लास में कभी परिवर्तन नहीं होता। पुत्रशोक कातरा मन्दोदरी एवं पतिविरहविधुरा पतिव्रता प्रमीला किसी के दुःख में प्रकृति की सहानुभूति नहीं; प्रकृति का नियम ही ऐसा है। मेघनाद की मृत्यु का संवाद उस समय भी लंका में प्रचारित नहीं हुआ था। साध्वी प्रमीला अन्य दिवस की भाँति उस दिन भी सबेरे स्नान करके वेशविन्यास करने में प्रवृत्त हो रही थी। किन्तु क्या जानें, साध्वी के हाथ का कंकण उसे कड़ा मालूम होता था। कण्ठमाला पहनते समय कण्ठ में भी पीड़ा होने लगी। न जानें, कैसी एक अस्फुट रोदनध्वनि उसके कानों में प्रवेश करके प्राणों को व्याकुल करने लगी। अधीर होकर वह वासन्ती सखी से—

> ''बोली—क्यों पहन नहीं सकती हूँ सखि, मैं

आभूषण? और नगरी में सुनती हूँ क्यों
रोदन-निनाद दूर हाहाकार शब्द हा!
बामेतर नेत्र बार बार नाचता है क्यों?
रोये उठते हैं प्राण! आलि, नहीं जानती
आज मैं पड़ूँगी हाय! कौन-सी विपत्ति में?
यज्ञागार में हैं प्राणनाथ, तुम उनके
पास जाओ, रोको उन्हें, युद्ध में न जावें वे
शूरशिरोरत्न इस दुर्दिन में। स्वामी से
कहना कि पैरों पड़ रोकती है किंकरी।''

प्रमीला के चरित की मधुरता के लिए मधुसूदन की हमने यथेष्ट प्रशंसा की है। सारे ग्रन्थ में, सर्वत्र ही, वे इस माधुरी की रक्षा करने में समर्थ हुए हैं। जो प्रमीला राघव के सैन्य समुद्र में कूदने से नहीं डरती, वही दाईं आँख फड़कने से डर जाती है। भारतीय रमणी के लिए ये दोनों ही बातें स्वाभाविक हैं। प्रमीला की तरह अतुल वीर्य्यवती के मुँह से—

''कहना कि पैरों पड़ रोकती है किंकरी।''

यह पंक्ति कहला कर कवि ने उसके स्वभाव का विनयमधुर भाव क्या ही सुन्दरता से परिस्फुट किया है। आधुनिक भारत में प्रमीला के समान रमणी के पाये जाने की सम्भावना नहीं; किन्तु भविष्य में यदि कोई वैसी कोमलतामयी वीरांगना उत्पन्न होगी तभी इस देश के नारी-हितैषियों की आशा सार्थक होगी। पद्मिनी और दुर्गावती के देश के कवि ने अपने देश के लिए उपयुक्त और अति मनोहर चित्र अंकित किया है।

मेघनाद की मृत्यु का संवाद धीरे-धीरे लंका में फैल रहा था; किन्तु इसे राक्षसराज को सुनाने का किसी को साहस न होता था। कैलास-धाम में महादेव मेघनाद की मृत्यु से विषण्ण हो रहे थे। भक्त की विपत्ति से भक्तवत्सल का हृदय व्यथित हो रहा था। उन्होंने भगवती से कहा—

''× × × शूल यह जो शुभे,
देखती हो तुम इस हाथ में, हा! इसके
घोराघात से भी घोर होता पुत्र शोक है।
रहती सदैव वह वेदना है, उसको
हर नहीं सकता है सर्वहर काल भी।
रावण कहेगा क्या स्वपुत्र-नाश सुन के
सहसा मरेगा यदि रुद्रतेजो दान से

रक्षा मैं करूँगा नहीं सर्वशुभे, उसकी।"

इसके बाद महादेवी ने वीरभद्र को लंका में जाकर राक्षसराज को रुद्र-तेज प्रदान करने की आज्ञा दी। वीरभद्र का लंका में आना और रावण के साथ साक्षात् करना अत्यन्त गम्भीर भावोद्दीपक है। महादेव के आदेश से—

"भीमबली वीरभद्र व्योम-पथ से चला,
प्रणत सभीत हुए व्योमचर देख के
चारों ओर; निष्प्रभ दिनेश हुआ दीप्ति से
होता है सुधांशु ज्यों निरंश उस रवि की
आभा से। भयंकरी त्रिशूल-छाया पृथ्वी पै
आ के पड़ी करके गभीर नाद सिन्धु ने
वन्दना की भूमि भव-दूत की। महारथी
राक्षसपुरी में अवतीर्ण हुआ शीघ्र ही,
थर थर काँपी हेमलंका पद-भार से,
काँपती है जैसे वृक्ष-शाखा जब उस पै
बैठता है पक्षिराज वैनतेय उड़के।"

महर्षि प्रणीत रामायण में इन्द्रजित के मरने पर सीता देवी को हननोद्यत राक्षसराज जिस प्रकार उन्मत्त और नृशंस की तरह चित्रित हुआ है, मेघनाद-वध में उसका चिह्न भी नहीं। वीरभद्र के आविर्भाव से लंकेश्वर का हृदय आशा और उत्साह से परिपूर्ण हो गया। संयत-चित्त से उसने राक्षस सैनिकों को युद्ध के लिए सज्जित होने की आज्ञा दी। कवि ने अपने स्वाभाविक नैपुण्य से राक्षस वीरों की रणसज्जा का वर्णन किया है। प्रथम सर्ग में चित्रांगदा के साथ बातचीत करने में मधुसूदन ने राक्षसराज के चरित का एक अंश मात्र प्रदर्शित किया है। सातवें सर्ग में मन्दोदरी के साथ बातचीत करने में उसका दूसरा अंश प्रदर्शित किया है। पहले सर्ग में राक्षसराज अनुतप्त और आत्मग्लानि से ज्ञानशून्य है। किन्तु सातवें सर्ग में उसका व्यवहार दूसरे प्रकार का है : मेघनाद जैसे पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर भी वह स्थिर और संयत है। पुत्रशोककातरा मन्दोदरी को सान्त्वना देने के लिए वह कहता है—

"× × × रक्षः कुलेन्द्राणि, हुआ वाम है
आज हम दोनों पर दैव! किन्तु फिर भी
जीवित हूँ अब भी जो मैं, सो बस उसका
बदला चुकाने के लिए ही! शून्य गृह में
लौट जाओ देवि, तुम, मैं अनीकयात्री हूँ,
रोकती हो मुझ को क्यों? रोने के लिए हमें

गृहणि, पड़ा है चिरकाल × × ×
× × × लौट जाओ, जाऊँ मैं समर में,
क्रोधानल क्यों यह बुझाऊँ अश्रुजल से?''

इस कथन से उसके हार्दिक भावों का अनुमान किया जा सकता है। राक्षसों के प्रति उसके उत्साह वाक्य भी इसके बहुत उपयुक्त हैं। प्रथम सर्ग में युद्ध-वर्णन के साथ कवि ने एक नयी घटना की उद्धावना की है। लंका-युद्ध में देव-गण की प्रत्यक्ष सहकारिता आर्य्य रामायण में नहीं। इलियड के इक्कीसवें सर्ग के अनुकरण पर कवि ने उसे मेघनाद-वध में सम्मिलत किया है। रामचन्द्र की सहायता के लिए देवराज इन्द्र, कार्तिकेय प्रभृति देवसेनानायकों को साथ लेकर पृथ्वी पर आया है। इस ओर राक्षसराज और रघुराज दोनों ही तुमुल युद्ध का आयोजन कर रहे हैं। इससे पृथ्वी देवी डर कर विष्णु की शरण में गयीं। भक्तवत्सल भगवान ने पृथ्वी को रसातल जाने से बचाने के लिए गरुड़ को देव-तेज हरण करने की आज्ञा दी। महारुद्र ने रावण को इसके पहले ही अपने तेज से पूर्ण कर दिया था। सुतराम् उसकी विजय अनिवार्य्य थी। बुझता हुआ दीपक जैसे क्षण भर के लिए पूर्ण प्रभा से प्रज्वलित होकर अन्धकार सागर में डूब जाता है, रावण का भाग्य-प्रदीप भी चिरनिर्वापित होने के लिए वैसे ही, मुहूर्त भर के लिए, प्रज्वलित हो उठा।

मेघनाद-वध के एक मात्र इसी सर्ग में युद्ध का चित्र अंकित पाया जाता है। रामायण में वर्णित शक्तिशेल का वृत्तान्त इलियड में वर्णित घटनाओं से मिला कर मधुसूदन ने इस सर्ग की रचना की है। षष्ठ सर्ग में लक्ष्मण जैसे कापुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं, सप्तम सर्ग में उसका निदर्शन भी नहीं। इस सर्ग में नवयौवनदृप्त सिंह-शावक के समान रण-क्षेत्र में स्थित लक्ष्मण का विक्रम देखकर विस्मित होना पड़ता है। लंकेश्वर तुमुल युद्ध में, कार्तिकेय, इन्द्र, हनूमान और सुग्रीव प्रभृति को पराजित करके लक्ष्मण के सामने पहुँच कर वज्रगम्भीर स्वर से कहता है—

''× × × अरे, इतनी
देर में तू लक्ष्मण, क्या मेरे हाथ आया है
रण में रे पामर? कहाँ है अब वृत्रहा
वज्री? कहाँ वर्हिध्वज तारकारि स्कन्द हैं
शक्तिधर? और कहाँ तेरा वह भाई है
राघव? सुकंठ कहाँ? पामर, वता मुझे
कौन बचावेगा इस कालासन्न रण में?
जननी सुमित्रा और उर्मिला बधू को तू
याद करले रे अब मरने के पहले!
मांस तेरा दूँगा अभी मांसलोभी जीवों को;

रक्त-स्रोत सोख लेगी पृथ्वी इस देश की।
कुक्षण में दुर्मति, हुआ था सिन्धु-पार तू,
चोर-तुल्य होकर प्रविष्ट रक्षोगेह में
रक्षोरत्न तू ने हरा—जग में अमूल्य जो!"

क्षत्रिय वीर लक्ष्मण का प्रत्युत्तर भी इसके उपयुक्त है—

"क्षत्रकुल में है जन्म मेरा, कभी रण में
रक्षोराज, काल से भी डरता नहीं हूँ मैं,
फिर किस कारण डरूँगा भला तुझ से?
कर ले जो साध्य हो सो, पुत्रशोक से है तू
व्याकुल विशेष आज, तेरा शोक मेटूँगा
भेज तुझे तेरे उस पुत्र के ही पास मैं।"

इसके बाद रावण के साथ लक्ष्मण का युद्ध-वर्णन पढ़कर, उन्होंने अक्षत्रिय के समान मेघनाद की हत्या की है, इसका स्मरण भी हमें नहीं रहता। उनके अनुपम वीरत्व से हम मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु वीरत्व, विक्रम कुछ भी आज उनकी रक्षा न कर सका। देवबल से वलवान रावण की शक्ति के आघात से लक्ष्मण पृथ्वी पर गिर पड़े। महादेव के आदेश से लक्ष्मण का मृत शरीर छोड़ कर उल्लास पूर्वक राक्षसराज ने लंकापुरी में प्रवेश किया।

सप्तम सर्ग की भाषा, उसका वर्णनीय विषय एवं उसकी आनुषंगिक घटनाएँ, सभी सुन्दर हैं। बावू रमेशचन्द्र दत्त ने इसी सर्ग को इस काव्य में सर्वोत्तम* कहा है। किन्तु वीर रस के वर्णन के लिए यह प्रशंसनीय होने पर भी रामचन्द्र के चरित के सम्बन्ध में कवि ने पहले की ही तरह इसमें भी भूल की है। रामचन्द्र को रण क्षेत्र में देखकर रावण ने कहा है—

"चाहता नहीं मैं आज सीतानाथ तुमको,
एक दिन और तुम इस भव-धाम में
जीते रहो, निर्भय, निरापद हो! है कहाँ
अनुज तुम्हारा वह नीच, छद्मसमरी?
मारूँगा उसे मैं, तुम अपने शिविर में
लौट रघुश्रेष्ठ, जाओ। × × ×"

---

* The seventh book is in many respects the sublimest in the work, and perhaps, the sublimest in the entire range of Bengali Literature.

Literature of Bengal, Page 183.

आततायी शत्रु के इन गर्वित और व्यंग्यपूर्ण वचनों पर द्विरुक्ति मात्र न करके रामचन्द्र वहाँ से हट गये। उनके समान महापुरुष के लिए यह बात कभी स्वाभाविक नहीं कही जा सकती। जिसने पत्नी के सतीत्व-नाश का प्रयासी होकर उनके मर्म में शेलाघात किया है और जो उनके प्रियतम भ्राता के प्राणनाश के लिए रक्तपिपासु व्याघ्र के समान उसी की ओर दौड़ रहा है, ऐसा कौन है जो मनुष्य-हृदय लेकर उसके उचित दण्ड-विधान की चेष्टा करने से पराङ्मुख होगा? रामचन्द्र के समान महापुरुष की बात जाने दीजिए, साधारण मनुष्य भी क्या ऐसी अवस्था में उदासीन रह सकेगा? हम पहले ही कह चुके हैं कि मधुसूदन ने जब कभी रामचन्द्र की चर्चा की है तभी वे इसी प्रकार भ्रम में पड़ गये हैं। उनके रामचन्द्र में विनय और कोमलता का अभाव नहीं; किन्तु कोमलता के साथ दृढ़ता का सामंजस्य ही रामचन्द्र के चरित्र का गौरव है, वे इस बात का विचार नहीं रख सके हैं। उनके रामचन्द्र प्रमीला का वीरत्व देख कर डर जाते हैं, भाई को युद्ध में भेजते समय रोने लगते हैं एवं आततायी शत्रु को युद्ध में सामने पाकर भी उससे लड़ने में विमुख रहते हैं। राम और लक्ष्मण के चरित के सम्बन्ध में मधुसूदन मेघनाद-वध की रचना करते हुए जिस भ्रम में पड़े हैं, वह हमेशा उनके काव्य का कलंक होकर रहेगा।

अष्टम सर्ग

शक्तिशेलाहत वीर लक्ष्मण का पुनर्जीवन लाभ अष्टम सर्ग का वर्णनीय विषय है। रामायण की मूल कथा विद्यमान रख कर कवि ने इसमें इलियड और डिवाइन कमेडी के कवियों का अनुसरण किया है। उस दिन के उस भयंकर युद्ध की समाप्ति के साथ ही सूर्य्य अस्त हो गया था और रात्रि-समागम से रणक्षेत्र के चारों ओर सैकड़ों अग्निपुंज प्रज्वलित हो रहे थे। लक्ष्मण के पार्श्व में रामचन्द्र मृतप्राय पड़े थे। उनके शोक में सब सैनिक शोकाकुल थे। कवि ने कुशलता के साथ अत्यन्त हृदयद्राविणी भाषा में, रामचन्द्र का शोकोच्छ्वास वर्णन किया है। किन्तु सीमातिरिक्त दीर्घ होने से उसका सौन्दर्य्य कुछ कम हो गया है। रामचन्द्र के समान सत्वगुणाश्रित पुरुष से हम शोक की अवस्था में भी अपेक्षाकृत दृढ़ता और संयम की प्रत्याशा रखते हैं।

कैलासधाम में भक्तवत्सला का हृदय रामचन्द्र के दुःख से दुःखित है। महादेव ने उनके उपरोध से माया देवी को लंकापुरी में भेजा। रामचन्द्र ने माया देवी के साथ प्रेतपुरी में जाकर राजा दशरथ से भेंट की और उनसे लक्ष्मण के जीवन-लाभ का उपाय अवगत किया। ये सब बातें मूल रामायण में नहीं; इसके कहने की आवश्यकता नहीं। इलियड के षष्ठ सर्ग के अनुकरण पर कवि ने इसकी रचना की है। वीरवर इनिस की तरह रामचन्द्र ने भी गभीर सुरंग के मार्ग से प्रेतपुरी में जाकर अपने परलोकवासी पिता के साथ साक्षात् किया है। इलियड के प्रेत नगर के बाहर जैसा भीषणकाय कामरूपी मूर्ति-समुदाय का वर्णन है, मेघनाद-वध के इस सर्ग में भी वैसा

ही वर्णन है। इलियड-वर्णित "Acheron" आकिरन वा "Styx" यहाँ वैतरणी के रूप में और उसकी "Sybil" साइबिल माया देवी के रूप में चित्रित की गई है। "Styx" के नाविक "Charon" कैरन के इनिस को मार्ग देने में असम्मत होने पर साइबिल ने जैसे उसे अपना मायादण्ड दिखाया था, मायादेवी ने भी वैसे ही वैतरणी-रक्षक यमदूत को मार्ग देने में अनिच्छुक देखकर शिव का त्रिशूल दिखलाया था। इनिस के समान रामचन्द्र ने भी अपने पूर्व-परिचित अनेक व्यक्तियों को प्रेतपुरी में देखा था। इन सब घटनाओं के अतिरिक्त कामुक नर-नारियों का अतृप्ति जनित दण्ड, वज्रनख मांसाहारी पक्षियों का पापियों की आँतों को विदीर्ण करना और प्रेत-क्रिया हुए बिना यमपुरी में जाने का निषेध आदि और भी अनेक बातें कवि ने पाश्चात्य कवियों के काव्यों से लेकर अष्टम सर्ग में रक्खी हैं।

स्वर्ग और नरक-वर्णन पाश्चात्य और प्राच्य दोनों देशों के कवियों को प्रिय लगता है। वर्जिल, दान्ते और मिल्टन प्रभृति अनेक पाश्चात्य महाकवियों ने इसके लिए प्रशंसा प्राप्त की है। उन्हीं के अनुकरण पर मधुसूदन ने मेघनाद-वध में स्वर्ग और नरक के चित्र अंकित किये हैं। परलोक के अन्धकार गर्भ में जो बातें छिपी हैं उन्हें जानने के लिए स्वभावतः ही मनुष्य के हृदय में आकांक्षा उत्पन्न होती है। उसी की पूर्ति के लिए, जान पड़ता है, स्वर्ग और नरक के अस्तित्व की कल्पना की गयी है। स्वर्ग पुण्यवानों के पुरस्कारों और नरक पापियों के दण्ड पाने का स्थान है, यह विश्वास भी उस कल्पना का एक बड़ा कारण है किन्तु मनुष्य समाज के ज्ञान की जितनी ही उन्नति होती है उतना ही इस कल्पना पर लोगों का विश्वास कम होता जाता है। पाराडाइज़ लास्ट की जिस नरक-वर्णना ने एक समय मिल्टन के समकालीन पण्डितों को भीत और विस्मित कर दिया था वह इस समय विद्यालय के बालकों को केवल कौतुक-जनक जान पड़ती है। गन्धकाग्निमय किं वा तुषारहृदपूर्ण नरक के दिन चले गये, इस समय कुछ और ही आवश्यक है। कहते हैं, किसी ईसाई धर्मप्रचारक ने श्रोताओं के हृदय में किसी प्रकार नरक का डर उत्पन्न न होते देखकर कहा था कि नरक ऐसा स्थान है कि वहाँ समाचार पत्र नहीं होते। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर मेघनाद-वध का अष्टम सर्ग असार कल्पना के सिवा और कुछ न होगा; किन्तु पाठकों को स्मरण रखना होगा कि मधुसूदन ने कोई वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं लिखा, पौराणिक काव्य लिखा है।

मधुसूदन ने स्वर्ग और नरक दोनों का वर्णन किया है। किन्तु नरक-वर्णन की अपेक्षा स्वर्ग-वर्णन में उन्होंने अधिक पारदर्शिता प्रदर्शित की है। उनका स्वर्ग दूसरे स्थानों पर जैसा काम्य वस्तुओं के उपभोग का स्थान मात्र है, इस स्थान पर भी वैसा ही है, निष्काम, धार्मिक पुरुषों की शान्ति और उन्नति का क्षेत्र नहीं। मनुष्य के लिए पृथ्वी और स्वर्ग दोनों ही उपभोग्य हैं। इसलिए वे सर्वत्र यहाँ तक कि ब्रह्मलोक में भी, इन्द्रियपरितृप्ति की सामग्री खोजते हैं। इन्द्रिय सुख ही साधारण मनुष्य के

सुख की चरमसीमा है। मधुसूदन इसी चिरप्रचलित और सर्व जनव्यापी संस्कार के परे नहीं जा सके हैं। इसी कारण उनके स्वर्ग में उपभोग्य सामग्री का ही आधिक्य है। किन्तु जो सुख इन्द्रिय जनित नहीं, एवं उस अमृतपुरुष में मग्न होकर देव-गण जिस स्वर्ग का उपभोग करते हैं, मधुसूदन के स्वर्ग में उसका उल्लेख भी नहीं पाया जाता। उनके नरक-वर्णन में वीभत्स रस की ही प्रधानता है। उनके नारकीय दृश्य डिवाइन कमेडी (Divine comedy) के नरक-वर्णन की भाँति हमें भीत और स्तम्भित नहीं करते, हमारे हृदयों में वीभत्स रस का ही उद्दीपन करते हैं। मधुसूदन ने इस सर्ग में वर्णना-नैपुण्य और कवि शक्ति प्रदर्शित करने में कसर नहीं की; किन्तु हमारी राय में स्वर्ग और नरक-वर्णन के बदले वे और किसी विषय में अपनी कवित्वशक्ति और अपना परिश्रम लगाते तो वह अधिक फलप्रद होता। मेघनाद-वध उन्नीसवीं शताब्दी की रचना है, इसीलिए हम ऐसा कह रहे हैं; यदि कवि पौराणिक युग में उत्पन्न होता तो इसके कहने की आवश्यकता न होती। ऐसा होता तब तो स्वर्ग और नरक वर्णन के लिए जान पड़ता है, मेघनाद-वध एक महापुराण के रूप में परिणत होता।

नवम सर्ग

जो विषाद-संगीत मेघनाद-वध के प्रथम सर्ग में शुरू हुआ था वह नवम सर्ग में समाप्त हो गया। बहुत लोग इस काव्य को वीर रस-प्रधान ही समझते हैं; परन्तु वास्तव में वीर रस की अपेक्षा करुण रस की ही इसमें प्रधानता है। इसे पढ़ने पर पाठकों के हृदय में स्थायी रूप से जो भाव उत्पन्न होता है उसके अनुसार इसे करुण रस प्रधान कहना ही युक्ति-संगत है। राक्षसों के परिजनों की आँखों से जो अश्रुधारा प्रवाहित होती है, वह उनके वीर-हृदय की शोणित-रेखा को धो डालती है। हाहाकार में युद्ध का कोलाहल डूब जाता है। बहुत लोग मधुसूदन को वीर रस का ही वर्णन करने में कुशल समझते हैं; किन्तु अशोक वनवासिनी, मूर्तिमती विरह-व्यथा-रूपिणी जानकी और श्मशान-शय्या पर स्वामी के पद-प्रान्त में बैठी हुई नवविधवा प्रमीला का चित्र देखकर कौन कहेगा कि मधुसूदन केवल वीर रस के ही कवि हैं? मधुसूदन के अपने निज के जीवन की भाँति उनका मेघनाद-वध भी करुण रसात्मक है।

जिस कराल रजनी में, लंका के रणक्षेत्र में भाई का मृत शरीर गोद में लिये रामचन्द्र बैठे थे, लक्ष्मण के पुनर्जीवन-लाभ के साथ उसका सबेरा हुआ था। उस समय उनकी सेना का आनन्द-कोलाहल, समुद्र के कल्लोलनाद को भी पराजित करके, शोक के मारे पृथ्वी पर पड़े हुए राक्षसराज रावण के कानों में प्रविष्ट हुआ। उसने, मन्त्री से, लक्ष्मण के पुनर्जीवन का संवाद सुना। पुत्रघाती शत्रु का मर कर भी न मरना पुत्र-शोक से भी अधिक मर्मभेदी होता है; किन्तु उस मर्मभेदी संवाद से इस बार रावण मूर्च्छित नहीं हुआ। संसार की सब आशाएँ लुप्त हो जाने पर निराशा

ही मनुष्य को आशा प्रदान करती है। राक्षसराज आज उसी निराशा से आशान्वित है। उसके भाग्य-दोष से जब स्वयं काल ही अपना धर्म्म भूल गया तब उसे आशा कहाँ? उसने समझ लिया कि राक्षसों का गौरव-रवि सचमुच हमेशा के लिए अन्धकार से आवृत्त हो गया। कुल-गौरव पुत्र का प्रेतकर्म्म सम्पन्न करने की इच्छा से उसने अपने मन्त्री को रामचन्द्र के समीप भेजकर एक सप्ताह के लिए सन्धि की प्रार्थना की। उदार हृदय रामचन्द्र ने दुर्दैव-ग्रस्त शत्रु की यह विनती मान ली। यह विषय आर्य्य रामायण में नहीं। इलियड के आदर्श पर मधुसूदन ने इसकी कल्पना की है। किन्तु इलियड के कवि जिस दृश्य की कभी कल्पना भी नहीं कर सकते, मेघनाद-वध के कवि ने उसे प्रदर्शित करने का सुयोग प्राप्त किया है। भारत-ललना पति के पद-प्रान्त में वैठकर वहुधा किस सहास्य वदन से चितानल में अपने शरीर और प्राणों की आहुति दे देती थी। साध्वी प्रमीला के चितारोहण से कवि ने इसे प्रदर्शित किया है। भारतीय सहगमनप्रथा और ग्रीस देशीय अन्त्येष्टि क्रियाकालीन समर-सज्जा, दोनों को मिलाकर कवि ने इस अंश की रचना की है।

तीसरे सर्ग की आलोचना में कहा जा चुका है कि जो प्रमीला चरित के मनोहारित्व की उपलब्धि करना चाहें वे नवम सर्ग पढ़ें। श्मशानस्थिता प्रमीला की विषादमूर्ति देखे बिना तीसरे सर्ग की उस रणरंगिणी मूर्ति की गम्भीरता का अनुभव नहीं हो सकता। ऐसा चित्र दुर्लभ है। कवि के वर्णन कौशल से वह कल्पना जनित दृश्य प्रत्यक्ष की भाँति हमारे नेत्रों के सामने आ जाता है। लंका का समुद्र कूलवर्ती वह श्मशान, उसी श्मशान में अश्रुपूर्णलोचनी रक्षोबालाएँ और उनके बीच में निष्प्रभा शशिकला की भाँति प्रमीला हमें प्रत्यक्ष-सी दिखाई देती है। यही क्या वह प्रमीला है? मत्तमातंगिनी की भाँति दर्प-पूर्वक जो एक दिन राघव के सैनिकों को दलित करके पतिपूजा के लिए लंका में प्रविष्ट हुई थी, यही क्या वह प्रमीला है? प्रमीला की वे रणप्रिया सखियाँ, वह भीषण समर-सज्जा और वह अग्नि-शिखा-स्वरूपिणी बड़वा आज श्मशान भूमि में भी उसके पीछे पीछे आई हैं। किन्तु प्रमीला की वह विद्युल्लता-सदृशी प्रभा आज कहाँ है? प्रमीला के मुख में वाक्य नहीं, अधरों पर हास्य नहीं, नयनों में ज्योति नहीं। उसके ललाट में सिन्दूर बिन्दु है, कण्ठ में पुष्पमाला है, हाथों में सधवा के चिह्न हैं। वह पति के पद-प्रान्त में बैठी है—

> ''मौनव्रत धारण किये है विधु-वदनी,
> मानों देह छोड़कर उड़ गये प्राण हैं
> पति के समीप, जहाँ पति है विराजता;
> वृक्षवर सूखे तो स्वयंवरा लता-बधू
> सूखती है आप। × × ×''

किन्तु क्या केवल प्रमीला की दशा में ही ऐसा परिवर्तन हुआ है? जिस रावण

ने देव, नर, सभी को पराजित करके पुत्रघाती शत्रु को प्राण दण्ड दिया था, उस दिन की वह रोमांचकारी घटना पाठकों को याद है। राक्षसनाथ नवोदित दिवाकर की भाँति, सोने के पहियों वाले रथ में बैठकर लंका के पुर-द्वार से बाहर निकल रहा है, वह दृश्य कैसा सुन्दर और कैसा विस्मयजनक है। कवि ने लिखा है—

''पुष्पक में बैठा हुआ रक्षोराज निकला,
घूमें रथ-चक्र घोर घर्घर निनाद से
उगल कृशानु-कण, हींसे हय हर्ष से;
चौंधा कर आगे चली रत्नसम्भवा विभा,
ऊषा चलती है यथा आगे उष्णरशिम के,
जब उदयाद्रि पर एक चक्र रथ में
होता है उदित वह। देख रक्षोराज को
रक्षोगण गरजा गभीर-धीर नाद से।''

उसकी रुद्रतेजोमयी मूर्ति देखकर—

''भागी रघु-सेना वन-जीवन यथा देख के
मदकल नाग भागते हैं ऊर्ध्व श्वास से;
किं वा जब वज्रानलपूर्ण घोर नाद से
भीमाकृति मेघ उड़ता है वायु-पथ में,
देख तब जैसे उसे भागते हैं भय से
भीत पशु-पक्षी सब ओर! × × ×''

और आज श्मशान भूमि में एक दूसरा ही दृश्य है—

''निकला पदव्रज निशाचरेन्द्र सुरथी
रावण,—विशद वस्त्र-उत्तरीय धारके,
माला हो धतूरे की गले में यथा शम्भु के;
चारों ओर मन्त्रि-दल, दूर नत भाव से
चलता है। मौन कुर्वरेन्द्र आर्द्रनेत्र हैं;
मौन हैं सचिव, मौन अन्य अधिकारी हैं;
रोते हुए, पीछे पुर-वासी चले जाते हैं
बालक, जरठ, युवा नर तथा नारियाँ।
× × ×
सिन्धु के किनारे सब मन्द मन्द गति से
चलते हैं, आँसुओं से भीगते हुए तथा
हाहाकार-द्वारा देश पूर्ण करते हुए।''

सौभाग्यलक्ष्मी प्रियतम पुरुष के लिए एक दिन में ही ऐसा परिवर्तन क्या सम्भव है? किन्तु विधाता की लीला कौन समझ सकता है। राक्षसराज की अवस्था कहने से नहीं जानी जा सकती, वह अनुभव से ही समझ में आ सकती है। (परन्तु परमेश्वर ऐसा अनुभव किसी को न करावे—अनुवादक)

वर्णना के गुण से मेघनाद-वध का यह अंश सर्वोत्तम एवं सुनिपुण चित्रकार की चित्र रचना के उपयुक्त है। उसी सागरकूलवर्ती श्मशान में मेघनाद और प्रमीला का पवित्र शरीर भस्मीभूत करने के लिए चन्दन की चिता तैयार हुई थी। आलुलायित कुन्तला, कृतस्नाना साध्वी ने परिधेय अलंकार एक एक करके उतार कर सखियों को बाँट दिये। इसके बाद फूलशय्या की भाँति चिता पर चढ़, प्रफुल्ल मुख से पति-पद-प्रान्त में वह बैठ गई। कण्ठ और केशपाश में फूल-माला शोभित है। चिता के चारों ओर राक्षस-वीर आँखों में आँसू भरे हुए खड़े हैं। प्रमीला की संगिनी सखियों के हाहाकार से वह स्थान प्रतिध्वनित हो रहा है और इन सब के बीच में त्रिभुवन विजयी राक्षसराज पाषाणमूर्ति बना हुआ खड़ा है। यह दृश्य कितना गम्भीर, कितना हृदयभेदी है? मेघनाद-सदृश पुत्र एवं प्रमीला-सदृश पुत्रवधू को चिताग्नि में आहुति देने के लिए वह आया है। उसके मन के भाव क्या वर्णन करके बताये जा सकते हैं? चितारोहण करने के पूर्व प्रमीला की अपनी सखियों से विदा लेने की बातें एवं परलोकगत वीर पुत्र को सम्बोधन करके रावण का वह मर्म्मभेदी विलाप सुनकर पाषाणहृदय मनुष्य भी गद्‌गद हो जायगा। ऐसा स्वाभाविक और हृदयद्रावक विलाप बहुत ही विरल है। चिता पर चढ़ने के पहले प्रमीला कहती है—

> ''प्यारी सखियो, लो, आज जीव-लीला-लोक में
> पूरी हुई मेरी जीव-लीला! दैत्य-देश को
> तुम सब लौट जाओ! और सब बातें ये
> कहना पिता के चरणों में। तुम वासन्ती,
>
> × × ×
>
> मेरी जननी से कहनां कि इस दासी के
> भाग्य में लिखा था जो विधाता ने, वही हुआ!
> दासी को समर्पित किया था पिता-माता ने
> जिनके करों में, आज संग संग उनके
> जा रही है दासी यह; एक पति के बिना
> गति अबला की नहीं दूसरी जगत में।
> और क्या कहूँ मैं भला? भूलना न मुझ को,
> तुम सब से है यही याचना प्रमीला की।''

विधातः, अभागे रावण को क्या यही सुनाने के लिए जीवित रक्खा था? इसके

सामने रामचन्द्र के शाणित शरों की तीक्ष्णता क्या चीज़ है? वाणी से हृदय के भाव प्रकट करने की शक्ति उसमें न थी अथच आत्मसंयम की क्षमता भी वह न रख सका? धीरे धीरे पुत्र और पुत्र बधू की चिता के सामने जाकर बोला—

"मेघनाद, आशा थी कि अन्त में ये आँखें मैं
मूँदूँगा तुम्हारे ही समक्ष, तुम्हें सौंप के
राज्य-भार, पुत्र, महायात्रा कर जाऊँगा!
किन्तु विधि ने हा!—कौन जानता है उसकी
लीला! भला, कैसे उसे जान सकता था मैं?—
भंग किया मेरा सुख-स्वप्न वह आज यों!
आशा थी कि रक्षःकुलराजसिंहासन पै
देखकर तुमको ये आँखें मैं जुड़ाऊँगा,
रक्षःकुल-लक्ष्मी, राक्षसेश्वरी के रूप में
बाईं ओर पुत्र-बधू! व्यर्थ आशा! पूर्व के
पाप-वश देखता हूँ आज तुम दोनों को
इस विकराल काल-आसन पै! क्या कहूँ?
देखता हूँ यातुधान-वंश-मान-भानु मैं
आज चिर राहू-ग्रस्त! की थी शम्भु-सेवा क्या
यत्न कर मैं ने फल पाने के लिए यही?
कैसे मैं फिरूँगा—मुझे कौन बतलावेगा—
कैसे मैं फिरूँगा हाय! शून्य लंका धाम में?
दूँगा सान्त्वना क्या मैं तुम्हारी उस माता को,
कौन बतलावेगा मुझे हे वत्स? पूछेगी
मन्दोदरी रानी जब कह यह मुझसे—
'पुत्र कहाँ मेरा? कहाँ पुत्र-बधू मेरी है?
रक्षःकुलराज, सिन्धु-तीर पर दोनों को
किस सुख-संग कहो, छोड़ तुम आये हो?'
किस मिस से मैं उसे जाके समझाऊँगा—
कहके क्या उससे हा! कहके क्या उससे?
हा सुत, हा वीर श्रेष्ठ! चिररणविजयी!
हाय बधू, रक्षोलक्ष्मि! रावण के भाल में
विधि ने लिखी है यह पीड़ा किस पाप से
दारुण?"

राक्षसराज के अपराधी होने में सन्देह नहीं। उसका अपराध भी निस्सन्देह असामान्य था। किन्तु कवि ने उसके प्रायश्चित्त का जो वर्णन किया है वह भी उस

अपराध से कम नहीं। नवम सर्ग के पुत्र-शोक से कातर राक्षसराज को देखने से उसका अपराध भूल जाता है और उसकी दुरवस्था पर सहानुभूति प्रकट करने की इच्छा होती है। पहले कहा जा चुका है कि राक्षस-वंश पर सहानुभूति उत्पन्न करना ग्रन्थकार का प्रधान उद्देश है। कवि का जो उद्देश है वह इस सर्ग में सफल हुआ है। रावण के घोर विद्वेषी भी उसके इस दुःख में आँसू बहाये बिना न रह सकेंगे। शोक-जर्जरित राक्षसराज के व्यवहार में कवि ने मानवहृदय का एक गूढ़ तत्त्व भी दिखलाया है। पहले सर्ग की आलोचना में उसकी चर्चा की गई है। मनुष्य कितना ही अपराधी क्यों न हो, वह बहुधा अपना अपराध नहीं समझता। विधाता के न्यायदण्ड से दण्डित होने पर ही आर्तनाद करके वह कहा करता है—"विधातः, किस अपराध पर मुझे तू यह दण्ड देता है!"

इस समय भी रावण यही कहता है—

"× × × रावण के भाल में
विधि ने लिखी है यह पीड़ा किस पाप से?"

इस प्रकार आत्मवंचना ही मानव-प्रकृति का धर्म्म है। किन्तु राक्षसराज आत्मवंचक और असंयमी होने पर भी अपने इष्टदेव में भक्ति परायण है। उसके मर्मभेदी आर्तनाद ने कैलासपुरी में भक्तवत्सल का हृदय व्यथित कर दिया। उन्होंने मेघनाद और प्रमीला को अपने समीप लाने का आदेश अग्निदेव को दिया। इरम्मद रूपी अग्नि के स्पर्श से चिता जल उठी। स्वदेशवत्सल, पितृ-मातृ-भक्त, वीर मेघनाद एवं पतिगतप्राणा पतिव्रता प्रमीला का भौतिक शरीर देखते देखते भस्म हो गया। किन्तु उन दोनों की अमर आत्माएँ दिव्य देह धारण करके, देव-रथ में बैठ कर, ऊर्ध्वलोक को चली गईं। विस्मित लंकावासियों ने इस दृश्य को प्रत्यक्ष देखा। चिता स्थल पर एक अति सुन्दर मठ बनवाया गया। चिता-भस्म समुद्र में डाल दी गई और चिताभूमि गंगाजल से धो दी गई। इसके बाद—

"स्नान कर सागर में लौटा जब लंका को
राक्षस-समूह आर्द्र आँसुओं की धारा से,
मानों दशमी के दिन प्रतिमा विसर्ज के;
सात दिन-रात लंका रोती रही शोक से!"

कवि ने अश्रु-जल के साथ अपना काव्य आरम्भ किया था और अश्रु-जल के साथ ही उसे पूरा किया। वीरबाहु के शोक से कातर राक्षसराज के आर्तनाद से ग्रन्थ आरम्भ हुआ था और प्रमीला के चितारोहण से समाप्त हुआ। इसका आदि, मध्य और अन्त सभी विषाद से पूर्ण है। इसी से हम कहते हैं कि वीर रस की अपेक्षा करुण रस की ही इसमें प्रधानता है।

अब साधारण तौर पर इसके गुण-दोष के विषय में दो एक बातें कह कर यह समालोचना समाप्त की जायगी।

किसी किसी की राय में मेघनाद-वध का प्रधान दोष यही है कि—"इसमें पुण्यवानों की अपेक्षा पापियों का चित्र अधिक उज्ज्वल रूप में चित्रित किया गया है। इंगलैण्ड के कवि मिल्टन ने जैसे शैतान वा पापपुरुष को ही अपने काव्य का नायक बनाया है, मधुसूदन ने भी वैसे ही राम-लक्ष्मण को छोड़ कर पापाचारी रावण और उसके परिवार को ही अपने काव्य का नायक-नायिका बनाया है। पापाचारी के प्रति जब कवि की इतनी सहानुभूति है तब नीति की ओर दृष्टि रखकर विचार करने से सहस्र गुण होने पर भी उसका काव्य निन्दनीय है।" ये बातें कुछ अंश में सच हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु हमारी राय में पापी पर सहानुभूति रखते हुए भी मधुसूदन ने पाप से कभी सहानुभूति नहीं दिखलाई। जिस असदाचार के लिए राक्षसराज साधु-समाज में घृणर्ह है, कवि ने कहीं भी उसका समर्थन नहीं किया। उलटा उन्होंने पद पद पर यही प्रदर्शित किया है कि वह आत्मवंचक था और उसी के पापाचार के फल से राक्षस-वंश का सर्वनाश हुआ है। मेघनाद-वध पढ़ कर किसी के मन में रावण के अनुचित कर्म्म का अनुकरण या समर्थन करने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। एक ओर हम लोग जैसे राक्षस-वंश का ऐश्वर्य्य, सौभाग्य बाहुबल एवं रूप-गुण देखकर विस्मित होते हैं, दूसरी ओर वैसें ही उसकी अविमृश्यकारिता का शोचनीय परिणाम देखकर संत्रस्त और उपदिष्ट होते हैं! सुतराम् बुरे दृष्टान्त का समर्थन करने से जो अनिष्ट की सम्भावना हो सकती है, मेघनाद-वध से उसकी कोई आशंका नहीं। धन, मान, गौरव, बाहुबल, और इष्टदेव की प्रगाढ़ भक्ति होने पर भी पापाचार के फल से मनुष्य का कैसा परिणाम हो सकता है, इस काव्य में उसका बहुत सुन्दर वर्णन है। यह ठीक है कि इसमें पापाचारी राक्षसराज को स्वयं कोई दण्ड नहीं दिया गया है; किन्तु दण्ड और कहते किसे हैं? मेघनाद के समान पुत्र और प्रमीला के समान पुत्रबधू को चितानल में समर्पण करके रावण जो क्लेश पाता है, रामचन्द्र के बाणों से हृदय विदीर्ण होने पर क्या वह उससे अधिक क्लेश भोग करता? "धर्म्म की जय, अधर्म्म की पराजय" जब मेघनाद-वध काव्य का उपदेश और परिणाम है तब राक्षसराज के ऊपर कवि की सहानुभूति रहने पर भी—नीति की ओर दृष्टि रखकर विचार करने से—इसके द्वारा किसी अनिष्ट की आशंका नहीं की जा सकती।

किसी किसी का कहना है कि—"कवि ने जब अपने काव्य में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का ही अधिक पक्षपात किया है तब यह कभी जातीय समादर का पात्र नहीं हो सकता। मेघनाद-वध जातीय समादर का पात्र होगा या नहीं, इसका विचार भावी पीढ़ी ही करेगी। किन्तु अनार्यों के ऊपर सहानुभूति रखने के कारण हम मधुसूदन की प्रशंसा ही करेंगे। रामायणकार महर्षि ने भारत के जिस युग में जन्म ग्रहण किया था, उनके ग्रन्थ में उसी के उपयुक्त भाव प्रतिबिम्बित हुए थे। उस समय भी अनार्य्यों

पर आर्य्यों का विद्वेष था। वैदिक ऋषियों के निश्वास निश्वास में अनार्य्यों पर जो विष उद्गीरित हुआ था, रामायण में उसी की आंशिक अभिव्यक्ति पाई जाती है। मधुसूदन ने जिस युग में जन्म लिया है, उनका ग्रन्थ उसी के अनुरूप है। इस समय आर्य्य और अनार्यों में वह पूर्व-विद्वेष और जेता एवं जित भाव नहीं। इस समय आर्य्य और अनार्य्य दोनों एक ही शृंखला से शृंखलित हैं। आर्य्य-प्रपीड़ित होने से अनार्यों पर ही इस समय लोगों की सहानुभूति पाई जाती है। इस दशा में मधुसूदन का उद्योग सर्वथा समयोपयोगी है। इसीलिए, जान पड़ता है, भविष्य में वे अधिक आदर के अधिकारी होंगे। सच तो यह है कि महर्षि ने एक पहलू दिखाया है, मधुसूदन ने दूसरा। जान पड़ता है, किसी भावी महाकवि के द्वारा इन दोनों का सामंजस्य दिखाया जायगा। (तथास्तु)

मतामत

मेघनाद-वध काव्य की जितनी अनुकूल और प्रतिकूल आलोचनाएँ निकली हैं, उन सबका संग्रह किया जाय तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जाय। जिन लोगों ने पहले इसके विषय में विपरीत मत प्रकट किया था उनमें से बहुतों ने बाद में उसे बदल दिया है। नीचे कतिपय विद्वानों के अभिमत उद्धृत किये जाते हैं।

महाकाव्य किंवा एपिक

माइकेल मधुसूदन दत्त ने मेघनाद-वध को महाकाव्य माना है—

"वीर रस मग्न महा गीत आज गाऊँगा।"

यह पंक्ति लिख कर उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि वे महाकाव्य लिख रहे हैं। हमारे आलंकारिकों ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं वे इसमें घटित नहीं होते, परन्तु मेघनाद-वध के टीकाकार **श्रीयुत ज्ञानेन्द्रमोहन दास** इसे पश्चिमीय ढंग का महाकाव्य (Epic) मानते हैं। उन्होंने लिखा है, ग्रीक पण्डितों के मतानुसार एक असाधारण एवं महोच्च और गुरु गम्भीर विषय न होने से भी एपिक काव्य लिखा जा सकता है। दृश्य काव्योचित आख्यान वस्तु एवं नाटकीय चरित लेकर एपिक का आरम्भ है। एपिक के लेखक को कथावस्तु के लिए पद पद पर इतिहास के अनुकरण की भी आवश्यकता नहीं। पौराणिक आख्यान, जनश्रुति एवं लौकिक संस्कार अनेक समय एपिक में बाधक होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु कवि इन सबकी एक साथ उपेक्षा नहीं कर सकता। कारण, एपिक का आख्यान और उसके चरित्र स्वदेशीय होने ही चाहिए। पक्षान्तर में इतिहास के साथ एपिक का सम्बन्ध सत्यमूलक होने पर भी कवि उसमें यथेच्छ कल्पना मिश्रित करके सम्पूर्ण कथाभाग अपने इच्छानुसार लिख सकता है। एपिक-वर्णित चरित्र ऐतिहासिक होने पर भी उनमें इतिहास-वर्णित बातें भले ही न हों; किन्तु ऐसी असाधारण क्षमता और ऐसी महोच्च गुणावली उनमें अवश्य होनी चाहिए, जिसके साथ लौकिक संस्कार जड़ित हों। सच हो या झूठ, जो कुछ घटित हो चुका है। उसका यथायथ वर्णन करना एपिक का लक्षण नहीं, किन्तु घटनाओं

में कोई ऐसी बात अवश्य होनी चाहिए जो अभूतपूर्व, चिरविस्मयकर, चिरगौरवमय और हृदयोन्मादक हो; जो कवि को वस्तुतः मतवाला बना दे और अनिर्वचनीय दैवशक्ति से अनुप्राणित कर दे। कवि उस घटनावली का अवलम्बन करके कल्पना के राज्य में भ्रमण करे, उसके चर्म्म-चक्षु बन्द हो जायँ और उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाय, हृदय-कपाट खुल जायँ, वह स्वर्ग, मर्त्य और पाताल के कितने ही दृश्य देख कर आनन्द से उन्मत्त हो जाय और एपिक के पृष्ठों पर अपनी कल्पनाओं की छवि अंकित करे। वह ऐतिहासिक कथा लिखने नहीं बैठता, किन्तु कल्पना के रंगमंच पर जो जो घटनाएँ अभिनीत होती देखता है, उन सबको उपकरण स्वरूप ग्रहण करके रसभावात्मक एक अभिनव दृश्य काव्य की रचना करता है। कवि की कल्पना और चरित्रों के विकास करने की शक्ति पर एपिक का उत्कर्ष एवं स्थायित्व अवलम्बित रहता है। महा पण्डित एरिस्टाटल ने आख्यान वस्तु की अपेक्षा काव्यान्तर्गत चरित्र-चित्रण को ही प्रधानता दी है। वे कहते हैं, यदि चरित्र का नाटकीय अभिनय न हो तो एपिक केवल इतिहास किंवा अद्भुत उपन्यास में परिणत हो जाता है।

मेघनाद-वध काव्य में प्राच्यमहाकाव्यों के लक्षण न मिलने पर भी एपिक के उपरिलिखित लक्षणों का समावेश होने से वह प्रतीच्य महाकाव्य एपिक की श्रेणी के अन्तर्गत आ जाता है। श्रीयुत ज्ञानेन्द्रमोहन दास की यही राय है।

इसी सम्बन्ध में **श्रीयुत ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर** की राय है—प्रसिद्ध अँगरेज़ी आलंकारिक Hugh Blair ने लिखा है—किसी महदनुष्ठान की प्रवृत्ति करना एपिक काव्य का सामान्य लक्षण है। मनुष्य की पूर्णता के सम्बन्ध में हम लोगों की कल्पना की वृद्धि करना किंवा हम लोगों के आश्चर्य्य अथवा भक्ति-भाव का उद्रेक करना ही एपिक का उद्देश है। वीरोचित क्रियाकलाप एवं उन्नत चरित-चित्रण के बिना यह कभी सम्भव नहीं। क्योंकि मनुष्य मात्र उन्नत चरित्र के ही पक्षपाती और भक्त होते हैं। जिस रचना से वीरत्व, सत्यनिष्ठा, न्याय, विश्वस्तता, बन्धुत्व, धर्म्म, ईश्वर-भक्ति उदारता प्रभृति ऊँचे भाव अति उज्ज्वल रूप में वर्णित होकर हमारे मनश्चक्षुओं के समक्ष आ जायँ और इस प्रकार सज्जनों के प्रति हमारी प्रीत आकृष्ट हो, उनके संकल्प और सुख-दुःख में हम लोगों की उत्सुकता और ममता उत्पन्न हो, हमारे मन में लोकहित कर उदार भावों का आविर्भाव हो, इन्द्रिय कलुषित, हीन कार्य्यों की चिन्ता दूर होकर हमारे मन निर्मल हों एवं उन्नत और वीरोचित महदनुष्ठान में योग देने के लिए हमारे हृदय अभ्यस्त हों, वही रचना एपिक काव्य कही जा सकती है।

विशेष रूप से आलोचना करने पर एपिक काव्य तीन भागों में विभक्त करके देखा जा सकता है। प्रथमतः काव्यगत विषय किंवा कार्य्य के सम्बन्ध में द्वितीयतः कर्ता किंवा पात्रों के सम्बन्ध में और तृतीयतः कवि के आख्यान और वर्णना के सम्बन्ध में।

एपिक कवितागत कार्य्य के तीन लक्षण होने आवश्यक हैं—कार्य्य एक हो, महान हो और उपादेय हो।

हमारे आलंकारिकों ने महाकाव्य के जो लक्षण दिये हैं वे ठीक इसी प्रकार के नहीं हैं तथापि उनके दिये लक्षण से किसी प्रकार यूरोपीय एपिक का सार मर्म्म निकाला जा सकता है। किन्तु हमें एपिक की दृष्टि से मेघनाद-वध काव्य पर विचार करना चाहिए।

पहले देखा जाय कि मेघनाद-वध का कार्य्य एक है या नहीं। आरिस्टाटल कहते हैं, कार्य्य की एकता एपिक काव्य के लिए नितान्त प्रयोजनीय है। क्योंकि घटनाएँ परस्पर लम्बमान एवं एक उद्देश की सिद्धि के लिए उन्मुख होने पर उनसे पाठकों का जितना मनोरंजन हो सकता है उतना इधर उधर विक्षिप्त और परस्पर निरपेक्ष घटनाओं के वर्णन से कभी नहीं हो सकता। आरिस्टाटल और भी कहते हैं, यह एकत्व एक जन मनुष्य के कार्य्य-कलाप में बद्ध होने से ही न चलेगा, अथवा किसी निर्दिष्ट काल की घटना का वर्णन कर देना ही यथेष्ट न होगा; किन्तु रचना के विषय में ही एकत्व रहना आवश्यक है। सब बड़े-बड़े एपिक काव्यों से एकत्व की ही उपलब्धि होती है। इटली में इनियसों का वाससंस्थापन--वर्जिल के काव्य का विषय है। उसके काव्य में यही उद्देश आद्योपान्त जाज्वल्यमान है। अडिसी का एकत्व भी इसी प्रकार का है। अर्थात् यूलिसिस का स्वदेश में प्रस्थागमन और पुनर्वास ही उसका उद्देश है। एलिथिस का क्रोध और तदुद्भुत फलाफल ही इलियड काव्य का विषय है। अक्रिस्तानों से जेरूसलेम का उद्धार टैसो के और स्वर्ग से आदम का बहिष्कार मिल्टन के काव्य का विषय है। इन सब काव्यों में कथा की एकता अक्षुण्ण भाव से रक्षित हुई है। किन्तु मेघनाद-वध में मेघनाद का वध साधन किंवा शक्तिशेलाहत लक्ष्मण का पुनर्जीवन-लाभ इन दोनों में से कौन-सा काव्यगत विषय है, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कवि ने मेघनाद-वध-साधन करके ही अपने काव्य की समाप्ति नहीं की है। उसके बाद भी लक्ष्मण के शक्तिशेल की घटना लाई गयी है और रामचन्द्र को नरक-परिभ्रमण कराकर बहुत-सी बातें व्यर्थ बढ़ाई गयी हैं। अतएव आरिस्टाटल के मतानुसार इस काव्य में कार्य्य की एकता का विलक्षण व्याघात हुआ है।

द्वितीयतः देखा जाय कि मेघनाद-वध में वर्णित कार्य्य वृहत् और महत् है या नहीं। कार्य के वृहत् और महत् होने पर उसी के साथ उस कार्य्य के कर्त्ता अर्थात् नायक का भी महाशक्ति सम्पन्न महापुरुष होना स्वयं सिद्ध है। किन्तु कवि ने राम किंवा लक्ष्मण को अपने काव्य का नायक न करके रावण और मेघनाद को नायक के रूप में निर्वाचित किया है। इससे उसके काव्य के महत्त्व और गौरव की विशेष हानि हुई है। रावण किंवा इंद्रजित पाशव वीरत्व के ही आदर्श हैं। किन्तु जिस वीरत्व के साथ क्षमा, दया, न्याय, वात्सल्य और भक्ति मिश्रित रहती है उसी वीरत्व गुण से भूषित उन्नत चरित्र महापुरुष ही महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। मेघनाद-वध काव्य का नायक कौन है, यह काव्य के नाम मात्र से हम नहीं जान सकते। क्योंकि

मेघनाद-वध नाम से मेघनाद भी इसका नायक हो सकता है और मेघनाद का वध साधन करने वाले लक्ष्मण भी इसके नायक हो सकते हैं। तब असल नायक किस स्थान पर पहचाना जा सकता है? उस स्थान पर, जहाँ कवि मेघनाद और लक्ष्मण को एक साथ सामने लाता है। किन्तु उस स्थान पर कवि ने लक्ष्मण को चोर की तरह यज्ञागार में प्रविष्ट कराकर उनसे अन्याय पूर्वक, निरस्त्र, मेघनाद की हत्या कराई है और मेघनाद को उदारता और वीरता से भूषित करके नायक रूप में विचित्र किया है। लक्ष्मण जीत कर भी हारे और मेघनाद हार कर भी जीत गया। कौन कह सकता है कि इस विषय में कवि को पूरी स्वाधीनता होनी उचित है—जिसे चाहे वह नायक बना ले और अपने पात्रों को जैसा चाहे चित्रित करे। इस विषय में Blair ने जो कुछ कहा है वह बहुत ठीक है। वे कहते हैं, सब पात्रों को सच्चरित्र किया जाय, ऐसी बात नहीं, स्थान विशेष में असम्पूर्ण चरित्र, और यही क्यों, पापिष्ठ चरित्र की भी अवतारणा की जा सकती है। किन्तु जो काव्य के केन्द्रस्थल हैं, उन नायकों के चरित्र पढ़कर जिसमें पाठकों के मन में घृणा और अवज्ञा का उद्रेक न होकर विस्मय, प्रीति और भक्ति का संचार हो, इस भाव से रचना करना कवि का एकान्त कर्त्तव्य है। विशेषतः मधुसूदन के लिए यह दोष अत्यन्त अमार्जनीय है। अपनी चीज़ जो जिस तरह रखना चाहे, उसको कोई नहीं रोक सकता। किन्तु जिस वस्तु पर एक मात्र कवि का अधिकार नहीं, जो सारे भारतवर्ष की सम्पत्ति है, उसे अस्तव्यस्त करने का उन्हें क्या अधिकार? मूल ग्रन्थ में जो चरित्र उज्ज्वल रूप में चित्रित हैं उन्हें कवि और भी उन्नत रूप में अंकित करें, इसकी उन्हें पूरी स्वाधीनता है; किन्तु उन्हें हीन करने का उनको क्या अधिकार है? विशेषकर जो प्रत्येक भारतवासी के आदर के आधार—चिराराध्य देवता हैं—उन्हीं राम-लक्ष्मण को इस प्रकार हीन करके दिखलाना क्या सहृदय जातीय कवि को उचित है? राम-लक्ष्मण के रहते हुए मेघनाद को किसी तरह नायक नहीं किया जा सकता—महाकाव्य के लिए उपयुक्त इतने महच्चरित रामायण में क्या, महाभारत को छोड़ कर संसार के किसी काव्य में पाये जायँगे कि नहीं, इसमें सन्देह है। उन्हें छोड़ कर रावण और मेघनाद का नायक बनाया जाना तो कोई अर्थ ही नहीं रखता।

चरित्र-चित्रण में मधुसूदन ने विशेष निपुणता नहीं दिखाई। उनका रावण भी वीर और विलासी है एवं मेघनाद भी वीर और विलासी है। भेद इतना ही है कि एक पिता है, दूसरा पुत्र। सारे काव्य में प्रमीला का चरित्र ही ऐसा है जो विशेष निपुणता के साथ अंकित किया गया है। देव-देवियों का चरित्र-चित्रण करते समय मधुसूदन ने बहुधा उनके गाम्भीर्य्य की रक्षा नहीं की। अतएव देखा जाता है कि मेघनाद-वध का कार्य्य महान होने पर भी तत्सम्पर्कीय पात्रों के चरित्र का महत्त्व वैसा अच्छा नहीं विकसित हुआ। ऐसा वृहत्कार्य्य सम्पादित करने के लिए जिस सरंजाम की आवश्यकता होती है वह इसमें यथेष्ट है, इसमें सन्देह नहीं। स्वर्ग, मर्त्य और

पाताल से, बड़े आडम्बर के साथ उसका आयोजन किया गया है। सरंजाम और कौशल का मेघनाद-वध में अभाव नहीं; परन्तु असली चीज़ चरित्र के महत्त्व का विकास—जो महाकाव्य का जीवन है—वह कहाँ?

अन्त में देखा जाय कि मेघनाद-वध आख्यान और वर्णना के विचार से उपादेय है या नहीं। काव्यगत कार्य्य वृहत् और महत होने से ही उपादेय हो सकता है, यह बात नहीं। कारण, एक मात्र साहस के काम कितने ही वीरोचित क्यों न हों, नीरस और विरक्तिजनक भी हो सकते हैं। किन्तु कविवर माइकेल मधुसूदन दत्त ने अपने काव्य में विचित्र विषयों की अवतारणा करके, देव-देवी प्रभृति अलौकिक सामग्री लाकर, दो एक सुन्दर प्रकरी (Episode) प्रवर्तित करके एवं जिसे एपिक काव्य का धृष्ट प्रवन्ध (Intrigue) कहते हैं,—वह नायकों की विघ्न-बाधा—सब यथास्थान प्रयुक्त करके, अपने काव्य को एक प्रकार से विशेष उपादेय बना दिया है। जो हो, अनेक दोष रहने पर भी मेघनाद-वध काव्य सुख-पाठ्य है, इसमें सन्देह नहीं। विचित्र घटना और भावों के समावेश एवं अमित्राक्षर छन्द के गुण से इतना बड़ा ग्रन्थ पढ़कर हमें क्लान्ति नहीं होती, उलटा आमोद उत्पन्न होता है।

इसी सम्बन्ध में **श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने जो कुछ लिखा है, नीचे, थोड़े में, उसका सार दिया जाता है—

एपिक को लोग साधारणतः मारकाट का व्यापार समझते हैं। जिसमें युद्ध नहीं, वह एपिक कैसा? हम लोग जितने एपिक देखते हैं, सब में युद्ध का वर्णन है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इसी से ऐसी प्रतिज्ञा कर वैठना ठीक नहीं कि युद्ध छोड़कर यदि कोई एपिक लिखे तो हम उसे एपिक ही न समझेंगे। क्या लेकर एपिक काव्य लिखने का आरम्भ हुआ? कवि एपिक क्यों लिखते हैं? इस समय के कवि जैसे—''आओ, एक एपिक लिखा जाय'' कह कर सरस्वती के साथ पहले से ही बन्दोबस्त करके एपिक लिखने बैठ जाते हैं, प्राचीन कवियों में ऐसा 'फ़ेशन' न था।

मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीत काव्य में प्रकाशित किये बिना नहीं रह सकते। इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पनाराज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गम्भीर अन्तर्देश में रहती है, और उसका शिखर मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशों से आ-आकर, लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य। महाकाव्य पढ़ कर हम उसके समय की यथार्थ

उन्नति का अनुमान कर सकते हैं। हम समझ सकते हैं कि उस समय का उच्चतम आदर्श क्या था। किस वस्तु को उस समय के लोग महत्त्व देते थे। हम देखते हैं, होमर के समय में शारीरिक बल को ही वीरत्व कहते थे, शारीरिक बल का ही नाम था महत्त्व। बाहुबलदृप्त एकिलिस ही इलियड का नायक है और युद्ध-वर्णन ही उसका आद्योपान्त विषय है। और, हम देखते हैं, वाल्मीकि के समय में धर्म्म-बल ही यथार्थ महत्त्व गिना जाता था। केवल मात्र दाम्भिक बाहुबल उस समय घृण्य समझा जाता था। होमर देखिए—एकिलिस का औद्धत्य एकिलिस का बाहुबल, एकिलिस की हिंस्राप्रवृत्ति; और रामायण देखिए—एक ओर सत्य के अनुरोध से राम का आत्मत्याग, एक ओर प्रेम के अनुरोध से लक्ष्मण का आत्मत्याग, एक ओर न्याय के अनुरोध से विभीषण का संसारत्याग। राम ने भी युद्ध किया था; किन्तु युद्ध की घटना उनके सम्पूर्ण चरित्र को व्याप्त नहीं कर बैठी, वह उनके चरित्र का एक सामान्य अंश मात्र है। इससे प्रमाणित होता है कि होमर के समय में बल ही धर्म्म माना जाता था और वाल्मीकि के समय में धर्म्म ही बल माना जाता था। अतएव देखा जाता है कि कवि अपने-अपने समय के उच्चतम आदर्श की कल्पना से उत्तेजित होकर ही महाकाव्य की रचना करते हैं और इसी उपलक्ष में घटनाक्रम से युद्ध की अवतारणा होती है; युद्ध-वर्णन के लिए ही महाकाव्य नहीं लिखे जाते।

किन्तु आजकल जो महाकवि होने की प्रतिज्ञा करके महाकाव्य लिखते हैं, वे युद्ध को ही महाकाव्य का जीवन जानते हैं। राशि राशि कर्कश शब्दों का संग्रह करके एक युद्ध का आयोजन करने से ही महाकाव्य लिखने में प्रवृत्त होते हैं। पाठक भी उस युद्ध वर्णन मात्र को महाकाव्य मानकर ,उसका आदर करते हैं।

मेघनाद-वध को हम इससे अधिक और कुछ नहीं कह सकते। महाकाव्य में हम सर्वत्र ही कवित्व के विकास की प्रत्याशा नहीं कर सकते। कारण, किसी बड़ी रचना में सर्वत्र समभाव से प्रतिभा प्रस्फुटित हो ही नहीं सकती। इसीलिए हम महाकाव्य में सर्वत्र चरित्र-विकास, चरित्र-महत्त्व देखना चाहते हैं। मेघनाद-वध में अनेक स्थलों पर कवित्व मिल सकता है; किन्तु चरित्रों का मेरुदण्ड कहाँ? किस अटल अचल का आश्रय लेकर वे चरित्र दण्डायमान हैं? जो एक महान् चरित्र महाकाव्य के विस्तीर्ण राज्य के मध्य भाग में पर्वत की भाँति ऊँचा हो उठता है, जिसके शुभ्रतुषार ललाट पर सूर्य्य की किरणें प्रतिफलित होती हैं, जिसमें कहीं कवित्व का श्यामल कानन, कहीं अनुर्वर पाषाण-स्तूप दिखाई देते हैं, जिसके अन्तर्गूढ़ आग्नेय आन्दोलन के कारण सारे महाकाव्य में भूमिकम्प उपस्थित हो जाता है, वही अभ्रभेदी विराट मूर्ति मेघनाद-वध में कहाँ दिखाई देती है? महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिए और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य्य, महदनुष्ठान होना चाहिए।

हीन, क्षुद्र तस्कर की तरह, निरस्त्र इन्द्रजित का वध करना अथवा पुत्रशोक

से अधीर होकर लक्ष्मण को शक्तिशेलाहत करना ही क्या महाकाव्य का वर्णनीय विषय हो सकता है? मेघनाद-वध काव्य में हम नहीं जानते, किस स्थान पर वह मूल उद्दीपनी शक्ति है जो किसी को महाकाव्य लिखने के लिए स्वतः प्रवृत्त कर सकती है। मेघनाद-वध काव्य में घटना का महत्त्व नहीं, कोई महदनुष्ठान नहीं, वैसा महच्चरित्र भी नहीं। कार्य्य देखकर ही हम चरित्र की कल्पना कर सकते हैं। जिस स्थान पर महदनुष्ठान नहीं, वहाँ किसके सहारे महच्चरित्र रह सकता है? मेघनाद-वध के पात्रों में अनन्य साधारणता नहीं अमरता नहीं। उसका रावण अमर नहीं, उसके राम-लक्ष्मण अमर नहीं और उसका मेघनाद भी अमर नहीं। ये कोई हमारे सुख-दुःख के साथी नहीं हो सकते, हमारे कार्यों के प्रवर्तक-निवर्तक नहीं हो सकते।

जिस प्रकार हम इस दृश्यमान जगत में निवास करते हैं, उसी प्रकार एक और अदृश्य जगत्, अलक्षित भाव से, हमारे चारों ओर रहता है। बहुत दिनों से, बहुत से कवि मिल कर हमारे उस अदृश्य जगत् की रचना करते आ रहे हैं। हम यदि भारतवर्ष में जन्म न लेकर अफ्रिका में जन्म लेते तो जैसे हम एक स्वतन्त्र प्रकृति के लोग होते वैसे ही यदि हम वाल्मीकि, व्यास प्रभृति के कवित्व-जगत् में जन्म न लेकर भिन्न देशीय कवित्व-जगत् में जन्म लेते तो हम भिन्न प्रकृति के लोग होते। हमारे साथ कितने लोग अदृश्य भाव से रहते हैं, इसे हम सदैव जान भी नहीं पाते। निरन्तर उनका कथोपकथन सुनकर हमारा मतामत कितना निर्दिष्ट होता है, हमारे कार्य्य कितने नियन्त्रित होते हैं, इसे हम जान भी नहीं सकते—समझ भी नहीं सकते। इन्हीं सब अमर सहचरों की सृष्टि करना महाकवि का काम है। माइकेल मधुसूदन दत्त ने हमारे इस कवित्व-जगत् में कितने जन नूतन अधिवासियों को भेजा है? यदि नहीं भेजा है तो उनकी किस रचना को महाकाव्य कहा जाय?

एक बात और है—मधुसूदन यदि महच्चरित्र की नूतन सृष्टि नहीं कर सके तो किस महत्कल्पना के वशवर्ती होकर वे दूसरे के द्वारा निर्मित महच्चरित्र का विनाश करने में प्रवृत्त हुए? उनका कहना है—"I despise Ram and his rabble." अर्थात् हम राम को और उनके आततायी दल को तुच्छ समझते हैं। यह उनके लिए प्रशंसा की बात नहीं। इससे यही सिद्ध होता है कि वे महाकाव्य की रचना के योग्य कवि नहीं। महत्त्व देखकर उनकी कल्पना उत्तेजित नहीं होती। अन्यथा किस हृदय से वे राम को स्त्रियों से भी अधिक भीरु और लक्ष्मण को चोरों की अपेक्षा भी हीन करते? देवताओं को कापुरुषों से भी अधम और राक्षसों को देवताओं से भी उत्तम बनाते! (इत्यादि)

मेघनाद-वध महाकाव्य है या नहीं, इस विषय में ऊपर जो कुछ उद्धृत किया गया है, उसके निर्णय का भार पाठकों पर है। पाठक देखेंगे कि जो लोग इसे महाकाव्य नहीं मानते वे भी मधुसूदन की कवित्वशक्ति के क़ायल हैं। मेघनाद-वध चाहे महाकाव्य किंवा एपिक का महदुद्देश सिद्ध न कर सकता हो, किन्तु वर्णना-गुण में वह अपने

कवि को महाकवि कहलाने का अधिकारी अवश्य बनाता है। वह अपने पाठकों को उसी प्रकार उत्तेजित कर सकता है जिस प्रकार एक महाकवि की रचना कर सकती है। वह उसी प्रकार करुणाभिभूत, चकित, स्तम्भित, कौतूहली और अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करता है जिस प्रकार कोई महाकाव्य कर सकता है।

रवीन्द्र बाबू के एक लेख का आशय ऊपर दिया जा चुका है। इसके पूर्व उन्होंने मेघनाद-वध के विषय में एक लेख और लिखा था। उस समय उनकी अवस्था बहुत छोटी—केवल पन्द्रह वर्ष की-थी। उस लेख के विषय में अपनी प्रवीण वयस में उन्होंने स्वयं लिखा है—"जिस समय अन्य क्षमता अल्प रहती है उस समय आघात करने को—आक्षेप करने की—क्षमता विशेष तीक्ष्ण हो उठती है। मैंने भी इस अमर काव्य के ऊपर नखराघात करके अपने को अमर करने का सर्वापेक्षा सुलभ उपाय समझा।"

परवर्ती काल में अपने 'साहित्य' नामक निबन्ध में रवीन्द्र बाबू ने मेघनाद-वध के विषय में जो कुछ लिखा है, नीचे उसका अनुवाद भी दिया जाता है—

"यूरोप से भावों का एक प्रवाह आया है और स्वभाव से ही वह हमारे मन पर आघात करता है। इसी प्रकार के घात-प्रतिघात से हमारा मन जाग उठा है, यह बात अस्वीकार करने से अपनी चित्तवृत्ति पर अन्याय करना होगा। इस प्रकार के भावों के मिलन से एक व्यापार उत्पन्न हो रहा है—कुछ समय के बाद उसकी मूर्ति स्पष्ट देखने का अवसर आवेगा।

यूरोप से आये हुए नूतन भावों के संघात ने हमारे हृदय को सजग कर दिया है, यह बात जब सच है, तब हम उससे लाख विशुद्ध रहने की चेष्टा क्यों न करें, हमारा साहित्य कुछ न कुछ नूतन मूर्ति धारण करके इस सत्य को प्रकाशित किये बिना न रह सकेगा। ठीक उसी पूर्व पदार्थ की पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती—यदि हो तो उस साहित्य को मिथ्या और कृत्रिम कहा जायगा।

मेघनाद-वध काव्य में केवल छन्दोबन्ध और रचना-प्रणाली में ही नहीं, उसके भीतरी भावों और रसों में भी एक अपूर्व परिवर्तन पाया जाता है। यह परिवर्तन आत्मविस्मृत नहीं। इसमें एक विद्रोह है। कवि ने छन्द की बेड़ी काट दी है और राम-लक्ष्मण के विषय में हमारे मन में बहुत दिनों से जो एक बँधा हुआ भाव चला आ रहा था, स्पर्द्धा-पूर्वक उसका शासन भी तोड़ दिया है। इस काव्य में राम-लक्ष्मण की अपेक्षा रावण और मेघनाद बड़े बन गये हैं। जो धर्म्म-भीरुता सर्वदा, कौन कितना अच्छा है और कौन कितना बुरा, केवल सूक्ष्म भाव से इसी का परिमाण करके चलती है, उसका त्याग, दैन्य और आत्मनिग्रह आधुनिक कवि के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाता। वह स्वतःस्फूर्त शक्ति की प्रचण्ड लीला के बीच में आनन्द बोध करता है।

इस शक्ति के चारों ओर प्रभूत ऐश्वर्य है; इसका हर्म्य-शिखर मेघों का मार्ग रोकता है; इसके रथ-रथी-अश्व-गजों से पृथ्वी कम्पायमान होती है; यह स्पर्द्धा द्वारा देवताओं को अभिभूत करके अग्नि, वायु और इन्द्र को अपने दासत्व में नियुक्त

करता है; जो कुछ चाहती है उसके लिए यह शक्ति शास्त्र की, शस्त्र की वा और किसी की बाधा मानने के लिए तैयार नहीं। इतने दिनों का संचित अभ्रभेदी ऐश्वर्य्य चारों ओर नष्ट भ्रष्ट होकर धूलिसात् हुआ जाता है, सामान्य 'भिखारी राघव' से युद्ध करने में उसके प्राणधिक प्रिय पुत्र, पौत्र, आत्मीयस्वजन एक एक करके सभी मर रहे हैं, उनकी माताएँ धिक्कार देकर रो रही हैं, फिर भी जो अटल शक्ति, भयंकर सर्वनाश के बीच में बैठी हुई भी, किसी प्रकार हार नहीं मानना चाहती, कवि ने उसी धर्म्मद्रोही, महादम्भ के पराभव होने पर, समुद्रतीरवर्ती श्मशान में दीर्घ निश्वास छोड़कर, अपने काव्य का उपसंहार किया है। जो शक्ति अत्यन्त सावधानतापूर्वक सब किसी को मान कर चलती है, मन ही मन उसकी अवज्ञा करके, जो शक्ति स्पर्द्धापूर्वक किसी को नहीं मानना चाहती, बिदा के समय काव्यलक्ष्मी ने अपनी अश्रुसिक्त माला उसी के गले में पहना दी है।

यूरोप की शक्ति अपने अद्भुत आयुध और अपूर्व ऐश्वर्य्य के लिए पार्थिव महिमा की चोटी पर खड़ी होकर आज हमारे सामने आविर्भूत हुई है—उसका विद्युत्खचित वज्र हमारे नत मस्तक के ऊपर से घन घन गर्जन करता हुआ चल रहा है; इसी शक्ति-स्तवगान के साथ आधुनिक काल में रामायणी कथा के एक नये बाँधे हुए तार ने भीतर हीं भीतर स्वर मिला दिया है, यह किसी व्यक्ति विशेष के ध्यान में आया? इसका देशव्यापी आयोजन हो रहा है—दुर्बल होने के अभिमान के कारण इसे हम स्वीकार न करेंगे; कह कर भी पद पद पर स्वीकार करने के लिए बाध्य हो रहे हैं,—इसीलिए रामायण का गान करने जाकर भी इसके स्वर की हम उपेक्षा नहीं कर सकते।''

मौलिकता

मधुकरी कल्पना का आह्वान करते हुए मधुसूदन ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है कि उन्होंने भिन्न-भिन्न कवियों के मन रूपी सुमनों से अपने पाठकों के लिए मधु का संग्रह किया है। पाश्चात्य कवियों का बहुत अच्छा अध्ययन उन्होंने किया था। इस कारण उनके काव्य में, स्थान स्थान पर, उनका अनुसरण दिखाई पड़ता है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और भवभूति की अपेक्षा होमर, मिल्टन, टैसो, वर्जिल और दान्ते का उनके काव्य में अधिक प्रभाव पाया जाता है।

असल में मेघनाद-वध का आकार प्राच्य है, किन्तु उसका प्रकार प्रतीच्य है। मेघनाद-वध के टीकाकार श्रीयुक्त ज्ञानेन्द्रमोहनदास ने अपने टीका की भूमिका में मधुसूदन के अनुकरण के कुछ नमूने दिये हैं, वे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

मधुसूदन रामचन्द्र को जहाँ 'देवकुलप्रिय' कहते हैं, वहाँ होमर का 'Favoured of the gods' लिखना याद आता है और जहाँ इन्द्र को वे 'कुलिशप्रहारी' कहते हैं वहाँ 'Cloud-compelling Jove' की याद आती है। उनका 'अभ्रभेदी शैलश्रृंग' 'Heaven-kissing hill' एवं 'अन्तरस्थ विक्रम' मिल्टन के 'Inly' की याद दिलाता

है। ''साँप फुफकारते हैं कुन्तल प्रदो में'' पढ़कर वर्जिल का 'Snake-locks' और टैसो का 'hissing snakes for ornamental hair' स्मरण हो आता है। जब वे कहते हैं कि 'हा! ऐसे—सुमन जैसे मन में भी शोक क्या होता है प्रविष्ट' तब वर्जिल के 'Can such deep hate find place in breasts divine' अथवा मिल्टन के 'In heavenly spirits could such perversion dwell?' पर ध्यान जाता है। ''होगा आज जगत अरावण अराम वा'' कहना कालिदास के ''अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः'' का अनुवाद मालूम होता है। इसी तरह ''छेंकुर का वृक्ष छेद डाला फूल दल से'' यह पंक्ति पढ़ कर कालिदास की ''ध्रुवं स नीलोत्पलपत्र धारया शमीलतां छेत्तु मृषिर्व्यवस्यति'' यह पंक्ति याद आती है।

''प्राची का सुवर्णद्वार फूल-कुल की सखी
कमल-करों से कल ऊषा जब खोलेगी''

इसे पढ़ कर होमर प्रभृति महाकवियों के व्यवहृत भावद्योतक वाक्यों की याद आती है। मिल्टन ने लिखा है—

"Now morn, her rosy steps
in the eastern clime
Advancing, sowed the earth
with orient pearl."

स्पेन्सर पद्महस्ता फूल कुल की सखी उषा को "rosy-fingered morn" कहते हैं। "rhodo—daktulos eos" यह होमर की प्रिय वर्णना है; rhodon ग्रीक भाषा में गुलाब को कहते हैं। ''तुमको पुकारता हूँ फिर मैं श्वेतभुजे,'' इसे पढ़कर मिल्टन का यह कहना याद आता है कि ''yet once more... ... .I come to pluck your berries I'' इसी तरह ''स्वर्ग का सौरभ सभा में सब ओर अहा! छा गया'' पढ़कर होमर का यह वाक्य याद आता है—"A more than earthiy fragrance shed."

इन सब बातों से कुछ लोगों की राय में मेघनाद-वध कवि की मौलिक रचना नहीं। परन्तु क्या मौलिकता का यही लक्षण है कि जो कुछ भी लिखा जाय उसमें किसी दूसरे लेखक की छाया भी कहीं न पड़ने पावे। इस कसौटी पर कसने से संसार के कितने कवि मौलिक कहे जा सकते हैं? तब तो मिल्टन, शेक्सपियर, कालिदास और भवभूति भी मौलिक कवि नहीं कहे जा सकेंगे। परन्तु बात ऐसी नहीं। सामग्री एक ही होती है, किन्तु कोई उससे मन्दिर बनाता है, कोई स्तूप, कोई मसजिद और कोई गिरजा। एक में दूसरे की छाया भी पड़ती है, इससे उसकी मौलिकता नष्ट नहीं होती। देखा यही जाता है कि निर्माता अपना स्वातन्त्र्य रक्षित रख सका है या नहीं। विचारना यही चाहिए कि हज़ारों के बीच कारीगर का अपना व्यक्तित्व प्रकाशित होता

है या नहीं। स्थापत्य शिल्प के विषय में जो बात कही जा सकती है, चित्र-शिल्प के विषय में भी वही बात कही जा सकती है। सब शिल्पों के सम्बन्ध में जो बात है, साहित्य-शिल्प के सम्बन्ध में भी वह घटित होती है।

प्राचीन कवियों को आदर्श रूप में ग्रहण करने से मौलिकता नष्ट नहीं होती, किन्तु उनका अन्ध अनुकरण करने में कृतित्व नहीं। उनकी कल्पना और उनके भाव का अपहरण करने में अपयश है; किन्तु जो पुराने को नया बना सकते हैं, इधर-उधर, फैली हुई सामग्री एकत्र करके उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सकते हैं, सामान्य को लेकर असामान्य रचना कर सकते हैं, जो नवीन आशा, नूतन भाषा, नए उत्साह और अभिनव कौशल से जातीय जीवन में नव प्रवाह का संचार कर सकते हैं, उन्हीं को जगत् के महाकवियों के साथ अपनी प्रतिभा एवं मौलिकता का मुकुट धारण करने का अधिकार है। मधुसूदन के 'राम-रावण' वाल्मीकि के नहीं, उनके 'हर-पार्वती' कालिदास के नहीं, उनकी 'प्रमीला' काशीरामदास की नहीं, और और भी किसी दूसरे की नहीं, उनकी 'सीता' न वाल्मीकि की है न भवभूति की। जिस काव्य के लिए वे बहुत से कवियों के ऋणी हैं, वह वास्तव में उन्हीं का है, और किसी का नहीं। वह उनकी अक्षय कीर्ति है। महाराज यतीन्द्रमोहन ठाकुर, डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु ने, एक बार, 'कविमनसुमन से मधु हरणकारी' मधुसूदन की मौलिकता के विषय में कहा था–

"Whatever passes through the crucible of the author's mind receives an original shape."

अर्थात् ग्रन्थकार के रासायिनिक मस्तिष्क से जो कुछ भी निर्गत होता है, वह मौलिक रूप प्राप्त कर लेता है।

मधुसूदन के जीवन-चरित्र-लेखक श्रीयुत योगीन्द्रनाथ वसु ने इस विषय में लिखा है कि–"जो लोग मेघनाद-वध की मौलिकता में सन्देह करते हैं उन्हें सोचना चाहिए कि कुछ मृत जीवों के कंकालों से अस्थि संग्रह करके एक अभिनव जीव की सृष्टि करना जैसा कठिन काम है, अन्यान्य काव्यों से भाव संग्रह करके एक नवीन काव्य की रचना करना भी वैसा ही है। प्राच्य और प्रतीच्य काव्यों के भाव इस समय भी तो अक्षुण्ण–महासमुद्र की भाँति–मौजूद हैं, किन्तु कौन कह सकता है कि एक जन मधुसूदन के उत्पन्न हुए बिना और एक मेघनाद-वध काव्य लिखा जा सकता है।"

जातीयता

किसी किसी की राय है कि मधुसूदन ने पापी राक्षसों पर अधिक पक्षपात करके राम-लक्ष्मण को उनके आदर्श से गिरा दिया है; अतएव वे जातीय कवि नहीं हो सकते, किन्तु बाबू राजनारायण वसु की राय है कि–मेघनाद-वध में जातीयता का अभाव होने पर भी हम लोगों की जातीय मानसिक प्रवृत्ति का संगठन करने में यह यथेष्ट

सहायता करेगा। कवि के भाव सब जातियों की मनोवृत्ति के उपादान होते हैं और जातीय शिक्षा एवं जातीय महत्त्व साधन करने में वे पूरी सहकारिता करते हैं। वर्णन की छटा, भावों की माधुरी, रस की प्रगाढ़ता, उपमा और उत्प्रेक्षा की निर्वाचन शक्ति एवं प्रयोग की पटुता मधुसूदन के विशेष गुण हैं।

एक मनस्वी लेखक की राय में गूढ़ भाव से मधुसूदन स्वदेश एवं स्वधर्म्म के प्रेम से परिषिक्त थे। वे बंगालियों के जातीय कवि हैं।

किसी किसी की राय है कि उन्होंने राक्षसों का बहुत पक्षपात करके उन्हीं को बढ़ाया है। किन्तु त्रिभुवन विजयी राक्षसों को बड़ा करके असल में उनके विजेता को ही बढ़ाना हुआ। वाल्मीकि रामायण में भी लिखा है कि हनूमान ने पहले पहल रावण को देख कर मन ही मन कहा था–

"अहो रूप महोधैर्य्यमहोसत्वमहोद्युतिः
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता।
यद्यधर्म्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः
स्यादयं सुरलोकस्य स शक्रस्यापि रक्षिता॥"

अर्थात् राक्षसराज का क्या ही रूप है, क्या ही धैर्य्य है, क्या ही पराक्रम है, क्या ही कान्ति है, क्या ही सर्वलक्षण सम्पन्नता है! यदि इसका अधर्म्म इतना बलवान न होता तो यह निशाचरनाथ सुरलोक एवं सुरराज का भी रक्षक हो सकता था।

मेघनाद के मृत्युकाल में माता-पिता के चरणों में प्रणाम करने की बात एवं पति के अमंगल-समाचार सुनने के पहले ही प्रमीला का यह कहना कि–

"× × × क्यों पहन नहीं सकती हूँ सखि, मैं
आभूषण? × × ×"

कवि के हृदय के गम्भीर हिन्दू-भाव और सतीत्व विषयक अत्युच्च हिन्दू आदर्श के प्रति भक्ति-भाव का परिचायक है।

अनार्य्य-प्रीति

असल में, कुछ लोगों को छोड़ कर, मधुसूदन के समालोचकों में दो दल हैं। एक दल है उनका अन्ध भक्त और दूसरा घोर विद्वेषी। खैर, उनकी अनार्य्य-प्रीति के विषय में एक समालोचक की राय इस प्रकार है–

मधुसूदन सहानुभूति और समवेदना के उत्स हैं। एवं यही उनकी विशेषता है। मधुसूदन उदार, अकुतोभय और समवेदना में निर्विचार हैं। वीर कवि वीर के भक्त हैं। व्यथित की वेदना से कवि के प्राण रोते हैं, स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में मधुसूदन की ममता की अमृत नदी वहती है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर भारतवर्ष के समस्त

कवि अयोध्या के राम-लक्ष्मण के साथ सहानुभूति की सृष्टि कर गये हैं। सोने की लंका छार-खार हो गयी, रावण का वंश गया। इसके लिए भारत के किसी कवि का चित्त वेदना से व्यथित नहीं हुआ—किसी ने एक बूँद आँसू गिरा कर नियति के उस विधान को स्निग्ध करने की चेष्टा नहीं की। किन्तु मधुसूदन रावण के परिवार में भी समवेदना और सहानुभूति की अमृतधारा ढाल गये हैं। ऐसा कौन है, जो इन्द्रजित के वीरत्व से मुग्ध न हो? युगयुगान्तर-संचित विराग के हिमाचल को समवेदना के आँसुओं से जो डुबा सकता है, उसकी शक्ति की गम्भीरता का परिमाण कौन करेगा?''

इस प्रकार मधुसूदन की राक्षसों के प्रति सहानुभूति के विषय में भी कई विद्वानों ने लिखा है। मेघनाद-वध के अन्य टीकाकार **श्रीयुक्त दीनानाथ सन्याल, बी.ए.** की राय इस विषय में इस प्रकार है—

''लक्ष्मण के लिए भय, व्याकुलता और कातरता भी वीर रामचन्द्र के लिए अनुचित कही जाती है। सोचना चाहिए कि इस काव्य में राम का वीरत्व दिखाने का अवसर नहीं। कारण, लक्ष्मण कृत मेघनाद का वध एवं रावण कृत लक्ष्मण का शक्तिशेल से विद्ध किया जाना ही इस काव्य का मुख्य वर्णनीय विषय है। सुतराम् राम इस काव्य में सुभ्रातृवत्सल रूप में चित्रित किये गये हैं। अयोध्या छोड़ने के समय जननी सुमित्रा ने लक्ष्मण को राम के हाथ में धरोहर के रूप में ही सौंपा था। अतएव लंका की वनराजि में चण्डी की पूजा करना कितना कठिन व्यापार है, विभीषण के मुख से उसे सुनकर लक्ष्मण के लिए राम की भय-व्याकुलता उनके समान भाई के लिए स्वाभाविक बात है।

अष्टम सर्ग में मूर्च्छित लक्ष्मण को गोद में लिए हुए राम का विलाप भ्रातृ-वत्सलता की विचित्र अभिव्यक्ति है। जिसे सुमित्रा माता ने धरोहर के रूप में राम को सौंपा था, जिसके लिए वे सुमित्रा माता के निकट उत्तरदायी हैं, उसे छोड़ कर सीता के उद्धार से क्या? इसी दायित्व का विचार करके ही राम विलाप करते करते कहते हैं—

> ''× × × लौट चलें, आओ, वनवास को;
> काम नहीं भाग्यहीना, सीता-समुद्धार का''

इस कथन से उनके वीरत्व में आघात नहीं आता; वरन् उनका भ्रातृभाव ही प्रस्फुटित हो उठा है।

निकुम्भला यज्ञागार में लक्ष्मण को मेघनाद के साथ युद्ध में हीन किया गया है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु राम को इस काव्य में हीन किया गया नहीं मालूम होता। वरन् भ्रातृवत्सल राम की भ्रातृवत्सलता अति सुन्दर रूप से दिखाई गयी है।

इसके साथ यह भी कहना पड़ता है कि रामायण में भी राम-लक्ष्मण का चित्र एक बार ही निर्दोष नहीं। वन-वास की आज्ञा के समय पिता के प्रति लक्ष्मण की अयथा घोरतर ऊष्मा पुत्र के लिए सर्वथा अनुचित है एवं स्त्री जाति शूर्पणखा की

नाक काट लेना वीर पुरुष के लिए अनुचित ही हुआ है। राम-कृत वालि-वध-व्यापार वीर चरित्र का आदर्श नहीं। रामायण के लंका-युद्ध में राम-लक्ष्मण सर्वत्र रावण, मेघनाद आदि की अपेक्षा महत्तर भी नहीं देखे जाते। मेघनाद कर्तृक नाग-पाश-बन्धन में बद्ध हुए राम-लक्ष्मण को विष्णु-प्रेरित गरुड़ की सहायता की आवश्यकता हुई है। सच तो यह है कि मनुष्य एवं मनुष्यकृत अन्यान्य कार्यों की तरह काव्य-नाटक भी निर्दोष नहीं होते। वाल्मीकि और व्यास की कृति में भी दोष हैं, कालिदास और भवभूति की कृति में भी दोष हैं, शेक्सपियर और मिल्टन की कृति में भी दोष हैं, होमर और वर्जिल की कृति में भी दोष हैं। दोष किस में नहीं होते? मधुसूदन भी इस नियम के बाहर नहीं; किन्तु गुणों की ओर देखने से कहना पड़ता है कि बँगला में इसके जोड़ का दूसरा काव्य नहीं। शृंगार रस को छोड़ कर वीर और करुणादिक प्रधान और परम उपभोग्य रस इस काव्य में चमत्कार रूप में पाये जाते हैं। वीर और करुण रस में तो इस समय तक यह अद्वितीय है।

नीति-शिक्षा

कुछ लोगों की राय है कि पापियों के प्रति सहानुभूति रहने के कारण मधुसूदन का काव्य नीति-शिक्षा-विहीन है। इसी बात को बढ़ा कर इस तरह भी कहा जा सकता है कि कवि की रचना कान्ता की तरह मन का आकर्षण तो करती है, परन्तु जैसा कहना चाहिए—रामादिवत् प्रवर्तव्यं न रावणादिवत्—नहीं कहती। वरन् उलटा इसके विपरीत संकेत करती है!

बाबू राजनारायण की राय में इसमें नीति-गर्भ-उक्तियाँ न होने के बराबर हैं, जिनका व्यवहार साधारण तौर पर लोकोक्तियों के रूप में किया जा सके। परन्तु मधुसूदन ने पापियों के साथ सहानुभूति प्रकट करके भी पाप को कभी प्रश्रय नहीं दिया। यही नहीं, सारे काव्य में यही प्रदर्शित किया है कि पाप का परिणाम सर्वनाश है। धन, मान, रूप-गुण, विद्या और बाहु-बल, कोई भी पापी की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता। यह ठीक है कि इसमें नीति-गर्भ उक्तियाँ कम हैं, परन्तु जो थोड़ी बहुत हैं वे बहुत ही मनोहारिणी हैं। देखिए, सारण रावण को समझाता है—

> "यह भवमण्डल है मायामय, स्वप्न-सा,
> इसके प्रदत्त सुख-दुःख सब झूठे हैं।
> भूलते हैं मोह-छलना में अज्ञ जन ही।"

रावण कहता है यह ठीक है, मैं भी इसे समझता हूँ। तथापि—

> "मंजु मनोवृन्त पर फूलता है फूल जो
> तोड़े उसे काल तो अधीर मन होता है"

दोनों की बातें कितनी सच हैं?—

अपनों अपनों सपनों सब है
जिय जानत है तऊ मानत ना!

वीरबाहु की मृत्यु पर रावण के मुँह से कवि ने कहलाया है—

"जन्मभूमि-रक्षा-हेतु कौन डरे मृत्यु से?
भीरु है जो मूढ़ डरे धिक उसे धिक है!"

रावण की यह उक्ति भी यथार्थ है—

"होता है सदैव पिता दुःखी पुत्र-दुःख से,"

रामचन्द्र के द्वारा बनवाया हुआ सेतु देखकर रावण ने समुद्र का जो तिरस्कार किया है, उसी प्रकार चित्रांगदा ने रावण से अन्त में, जो कुछ कहा है, कोई नीति-प्रेमी उसे पढ़कर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। सचमुच वे बातें 'लाजवाब' हैं। न तो समुद्र ही उनका उत्तर दे सका है और न रावण ही! पहले रावण का कहना सुनिए—

"नीच भालुओं को बाँध, बाजीगर उनसे
खेल करता है; किन्तु राजपद सिंह के
बाँधे पक्षि-रज्जु से जो, शक्ति यह किसकी?"

चित्रांगदा का कहना है—

"देश-वैरी मारता है रण में जो, धन्य है;
धन्य उसका है जन्म, मानती हूँ आपको
धन्य मैं, प्रसू जो हुई ऐसे वीर सुन्नु की।"

परन्तु—

"× × ×क्या तुम्हारा सोने का
सिंहासन छीनने को राघव है जूझता?
वामन हो चाहे कौन चन्द्र को पकड़ना?
रहता सदैव नत मस्तक भुजंग है,
किन्तु यदि उसपै प्रहार करे कोई तो
फन को उठाके वह डसता है उसको।"

लंका के विषय में राजलक्ष्मी की निम्नलिखित उक्ति कैसी सच निकली—

"कर्म्म-फल पूर्व के फलेंगे यहाँ शीघ्र ही।"

चित्ररथ ने रामचन्द्र को देवों के प्रति मनुष्य की जो कृतज्ञता बताई है, वह भी बहुत सुन्दर है—

"× × × देवों के
प्रति जो कृतज्ञता है, कहता हूँ मैं, सुनो,
इन्द्रियमन, दीनपालन, सुधर्म्म के
पथ में गमन और सेवा सत्यदेवी की;
चन्दन, कुसुम, भोग, पट्टवस्त्र आदि की;
देवें जो असज्जन तो करते अवज्ञा हैं
देवता।× × ×"

तीसरे सर्ग में प्रमीला की सेना देख राम के चिन्ताकुल होने पर लक्ष्मण कहते हैं—देवता जिनके सहायक हैं उन्हें डर किस बात का—

"आप देवनायक सहायक हैं जिनके
इस भव-मंडल में कौन भय है उन्हें?"

और—

"जीतता है पाप कहाँ?"

एवं—

"पिता के पाप से है पुत्र मरता।"

विभीषण कहता है—

"निस्सन्देह धर्म्म जहाँ, जय है।"

चौथे सर्ग में सीता और सरमा के कथोपकथन में भी हम दो-चार ऐसी उक्तियाँ पाते हैं जो भूलने योग्य नहीं।

"किन्तु सखि, कारागार स्वर्ण का भी क्यों न हो
अच्छा लगता है क्या परन्तु वह बन्दी को?
"स्वर्ण के भी पिंजड़े में पंछी सुखी होगा क्या
करता विहार है जो मंजु कुंज वन में?"

कभी नहीं, कदापि नहीं।

पाँचवें सर्ग में पूजा के लिए जाते हुए लक्ष्मण ने मार्ग रोकने वाले रुद्र से कहा है—

"देता हूँ चुनौती तुम्हें साक्षी मान धर्म को,
धर्म्म यदि सत्य है तो जीतूँगा अवश्य मैं।"

इससे क्या सिद्ध होता है? यही न, कि धार्मिक जन का विपक्षी कितना ही बड़ा क्यों न हो, परन्तु जीत के विषय में उसे सन्देह करने की ज़रूरत नहीं। इस सारे सर्ग में यही दिखाया गया है कि अपनी उद्देश-सिद्धि सहज नहीं, अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ता है। परन्तु धीरता पूर्वक आत्मसंयम रखने से अन्त में कार्य्य-सिद्धि अवश्य होती है।

इसी सर्ग के अन्त में, जब मन्दोदरी युद्ध के लिए मेघनाद को विदा देने में आगा पीछा करती है, तब वह अनेक धर्म्म और नीतिमूलक बातें कहकर उसे समझाता है–

"नगरी के द्वार पर वैरी है; करूँगा मैं
कौन सुख-भोग, उसे जब तक युद्ध में
मारूँगा न! आग जब लगती है घर में
सोता तब कौन है माँ? विश्रुत त्रिलोकी में
देव-नर-दैत्य-त्रास राक्षसों का कुल है;
ऐसे कुल में क्या देवि, राघव को देने दूँ
कालिमा मैं इन्द्रजित रावणि? कहेंगे क्या
मातामह दानवेन्द्र मय यह सुन के?
और, रथी मातुल? हँसेगा विश्व दास को।
× × × ×
जननि, तुम्हारा शुभाशीष प्राप्त होने से,
रोक सकता है कौन किंकर को रण में?"

छठे सर्ग में राजलक्ष्मी विभीषण से कहती है, जहाँ पाप है वहाँ मैं कैसे रहूँ–

" × × × भला पंकिल सलिल में
खिलती है पद्मिनी क्या? मेघावृत व्योम में
देखता है कौन, कब, तारा? × × × "

कवि ने इस सर्ग में लक्ष्मण को उनके आदर्श से बहुत ही गिरा दिया है, तो भी उनसे कुछ समयानुकूल बातें कहलाई हैं। नीति तो उन बातों का भी अनुमोदन करती है–

"भूतल को भेद कर काटता भुजंग है
आयु-हीन जन को! × × ×
छोड़ता किरात है क्या पा के निज जाल में
बाघ को? × × ×
शत्रुओं को मारे जिस कौशल से हो सके।"

इसके पूर्व लक्ष्मण को ही अपना इष्टदेव समझ कर मेघनाद उनसे वर और बिदा माँगता हुआ कहता है—

"भग्नोद्यम होगी चमू देर जो करूँगा मैं"

यह पंक्ति नीति-ज्ञान से कितनी परिपूर्ण है? इसी सर्ग में मेघनाद और विभीषण के कथोपकथन में मर्म्म की कितनी ही बातें प्रकट की गयी हैं—

"निज गृह-मार्ग तात, चोर को दिखाते हो?
और राज-गृह में बिठाते हो श्वपच को?
निन्दा किन्तु क्या करूँ तुम्हारी, गुरुजन हो।
× × × ×
शंकर के भाल पर की है विधु-स्थापना
विधि ने; क्या भूमि पर पढ़ कर चन्द्रमा
लोटता है धूलि में? बताओ तुम मुझको,
भूल गये कैसे इसको कि तुम कौन हो?
जन्म है तुम्हारा किस श्रेष्ठ राजकुल में?
केलि करता है राजहंस पद्म-वन में,
जाता वह है क्या कभी पंक-जल में प्रभो,
शैवल-निकेतन में? मृगपति केसरी—
हे सुवीर-केसरि, बताओ,—क्या शृगाल से
सम्भाषण करता है मान कर मित्रता?
× × × ×
चरण तुम्हारी जन्मभूमि पर रक्खे यों
वनचर! विधाता, हा! नन्दनविपिन में
घूमें दुराचार दैत्य? विकसित कंज में
कीट घुसे? तात, अपमान यह कैसे मैं
सह लूँ तुम्हारा भ्रातृ-पुत्र हो के? तुम भी
सहते हो रक्षोवर कैसे, कहो, इसको?"

विभीषण कहता है—

"चाहता है मरना क्या कोई पर-दोष से?"

मेघनाद क्रुद्ध होकर फिर उससे कहता है—

"धर्म्म वह कौन-सा है, जिसके विचार से

जाति-पाँति, भ्रातृ-भाव, सब को जलांजली
दी है तुमने यों आज? कहता है शास्त्र तो–
पर-जन हों गुणी भी, निर्गुण स्वजन हों,
निर्गुण स्वजन तो भी श्रेष्ठ हैं सदैव ही;
पर हैं सदैव पर। × × × ''

इन पंक्तियों के लेखक की राय में जिस समय 'माइकेल' यह अंश लिख रहे थे उस समय उनके दिमाग में गीता का निम्नलिखित श्लोक चक्कर मार रहा था–

''श्रेयांस्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्म्मे निधनं श्रेयः परधर्म्मो भयावहः॥''

अतएव क्या ठीक जो उन्होंने ऊपर लिखी बातें आपबीती कही हों!

जो हो, अन्त में मेघनाद कहता है–

''नीच-संग करने से नीचता ही आती है!''

पुत्रशोक के विषय में महादेव जी कहते हैं–

''रहती सदैव यह वेदना है, इसको
मेट नहीं सकता है सर्वहर काल भी।''

सातवें सर्ग में राजलक्ष्मी इन्द्र से कहती है–

'' × × × उपकारी जन का
प्राण-पण से भी त्राण करना उचित है''

इसी सर्ग में इन्द्र ने रामचन्द्र से कहा है–

''मरता है रक्षोराज आप निज पाप से;
कर सकता है राम, रक्षा कौन उसकी?''

इसी प्रकार नवम सर्ग में भी कुछ नीतिमूलक उक्तियाँ पाई जाती हैं। श्री रामचन्द्र से रावण कहलाता है–

''करते समादर हैं वीर वैरी वीर का''

रामचन्द्र की उक्ति है–

''होता है अवध्य दूत-वृन्द रण-क्षेत्र में''

रावण के पुत्र-शोक में रामचन्द्रजी यों सहानुभूति प्रकट कहते हैं–

"राहु-ग्रस्त रवि को निहार कर किसकी
छाती नहीं फटती है? उसके सु-तेज से
जलता जो वृक्ष है, मलीन उस काल में
होता वह भी है पर-अपर विपत्ति में
मेरे लिए एक-से हैं! × × × "

सारण कहता है–

" × × × अनुचित कर्म्म क्या
करते कभी हैं साधु? × × ×"

और–

"× × × किन्तु विधि विधि की
तोड़ सकता है कौन? × × ×"

अन्त में प्रमीला की एक उक्ति और सुनिये–

" × × × एक पति के बिना
गति अबला की नहीं दूसरी जगत में।"

बस,

"और क्या कहूँ मैं भला, भूलना न मुझको।"

इस प्रकार मेघनाद-वध में समयोपयोगी नीतिमूलक बातों का भी अभाव नहीं। उसके सीता और प्रमीला के चरित तो आदर्श हैं ही, मेघनाद का चरित भी बहुत उज्ज्वल वर्णों में अंकित किया गया है। रामचन्द्र और लक्ष्मण के चरित दो-चार स्थलों पर ही स्खलित हो गये हैं, वैसे उनमें भी सद्गुणों का समावेश है। रावण के चरित्र में भी स्थान स्थान पर कवि ने अनेक गुणों का समावेश किया है और उसके ऊपर सहानुभूति आकर्षित करने की चेष्टा ने उन गुणों की उपेक्षा नहीं होने दी। इतना होने पर भी रावण के दुष्कर्म्म का कवि ने कहीं भी अनुमोदन नहीं किया।

श्रीयुक्त श्रीशचन्द्र मजूमदार की राय में तो इस काव्य से बहुत ही गम्भीर शिक्षा मिलती है। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, नीचे उसका आशय भी दिया जाता है–

"संसार में जो कुछ भी पवित्र है, जो कुछ भी उन्नत है और जो कुछ भी सुन्दर है उसी को लेकर कवि ने मेघनाद के चरित्र की रचना की है–सौन्दर्य्य को लेकर ही काव्य है। मेघनाद का चरित्र अनन्त सौन्दर्य्यमय है। मेघनाद का वीरदर्प ही उस चरित्र का अतुल सौन्दर्य्य है।

रामायण के मेघनाद की मृत्यु से मन में आनन्द होता है; किन्तु मेघनाद-वध काव्य के मेघनाद के अन्यायमरण से आँसू नहीं रुकते, इसका क्या कारण है?

जिस महा विष-वृक्ष ने विपुल राक्षसकुल का अन्त में नाश किया था, उसका बीज किसने बोया था? रावण ने। उसे दण्ड मिले, यही तो न्याय की बात है; किन्तु एक के दोष से दूसरा क्यों मरता है?

> "× × × मनोदुःख से प्रवास में
> मरता प्रवासी जन जैसे है, न देख के
> कोई स्नेह-पात्र, निज माता, पिता, दयिता,
> भ्राता, बन्धु-बान्धव, मरा है स्वर्णलंका में
> स्वर्णलंका-अलंकार हाय! आज वैसे ही!"

पिता के पाप से पुत्र मरता है, यह पुराणों में लिखा है। यही मेघनाद-वध काव्य का बीज है। नहीं तो, मेघनाद को सारे गुणों का आधार करके अंकित करने का और कोई उद्देश्य ही नहीं। इसी बात पर जोर देने के लिए चिराचरित संस्कार के विपरीत कवि ने अपनी लेखनी संचालित की है।

अभी और समझाने की जरूरत है। हम लोगों का अन्तर्जगत् और बाह्यजगत् सम्बन्धी ज्ञान बहुत ही संकीर्ण है। इसीलिए हम काव्य में जो नीत्युपदेश देना चाहते हैं वह भी साधारणतः संकीर्ण होता है। काव्य की न्यायपरता अथवा Poeticel justice इसी प्रकार की संकीर्णता का फल है। ज्ञान की उन्नति होने से मनुष्य दिन दिन समझता जाता है कि जिन सब नियमों से जड़ जगत् शासित होता है, अन्तर्जगत् अविकल उसी का अनुवर्तन करता है। मन का आकर्षण क्या है, आज ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता; परन्तु एक दिन ऐसा आवेगा, जब यह हँसी की बाद न रहेगी। प्रकृत प्रतिभाशाली कवि कितनी ही ऐसी बातें मानते हैं, कितने ही ऐसे तत्त्व समझाने का यत्न करते हैं जो हमारी-आपकी धारणा में ही नहीं आते—इसीलिए हम और आप उन पर हँसते हैं। पिता के दोष से पुत्र मरता है, यह हमारे देश की चिर प्रचलित किंवदन्ती है। परन्तु यह कोरी कहावत है या इसमें कुछ तथ्य भी है? इस असीम ब्रह्माण्ड में नियम-रहित कोई बात नहीं। सामान्य नीहार-कण, जो फूल पर क्षण भर सूर्य्य की किरणों से चमक कर उड़ जाता है, जिस प्रकार नियम के अधीन है, उसी प्रकार अनन्त शून्य में, अनन्त परिमित, अनन्त सौरजगत् भी नियम के ही अधीन है; सर्वत्र नियम ही नियम है। तुम कवि हो, शरद के चन्द्रमा को अकस्मात् मेघावृत देखकर दुःखित होते हो; प्रबल झंझा से सुकुमार वृक्ष को धराशायी देखकर आँसू बहाते हो; तुम्हारे जी में आता है—यह बड़ा अविचार है। जड़ जगत् इसकी अपेक्षा नहीं करता। ऐसी दशा में इसके गन्तव्यमार्ग में खड़े न होना; खड़े होगे तो नियति-चक्र से पिस जाओगे! विज्ञान नित्य यही कहता है। इतिहास भी अनुदिन इसी का कीर्तन करता है। मेघनाद-वध काव्य का बीज भी यही तत्त्व है।

सौन्दर्य्यसार मेघनाद देव-दुर्लभ गुणों से हमारा तुम्हारा आदरणीय है—सर्वज्ञ कवि की अतुल्य मोहमय सृष्टि है! यह ठीक है, किन्तु जो अज्ञेय शक्ति राक्षस-वंश का विध्वंस करने आयी थी, मेघनाद भी उसी के चक्र से पिस गया,—इस जगत् का यही नियम है! इसमें व्यभिचार नहीं होता!

क्या जड़ जगत् और क्या अन्तर्जगत्, दोनों एक ही शक्ति के आधार हैं। शक्ति एक है, उसके रूप भिन्न भिन्न। जिस भयानक शक्ति के उच्छ्वास से प्रलयकाल उपस्थित होता है, उसका नाम है जड़ शक्ति और जिस अदम्य शक्ति ने रोम-राज्य का विध्वंस किया था, वह है अन्तःशक्ति। इन दोनों शक्तियों के भी नाम भिन्न हैं—एक का नाम प्रलय है और दूसरी का नाम विप्लव। सन्तोष की बात यही है कि अन्तर्जगत् की शक्ति विशेष का बीज वपन करना मनुष्य के ही अधीन है। जड़ शक्ति के विषय में ऐसा कुछ है या नहीं, यह अभी तक नहीं जाना गया। किन्तु किसी भी शक्ति को लीजिए, एक बार विकास होने पर उसका वेग असह्य और अप्रतिहत होता है! कोई उसके मार्ग में खड़े मत होना! सावधान! विषबीज वपन मत करना! कुशक्ति के प्रयोग के कारण मत बनाना! अपने कार्य्यों के अकेले तुम्हीं फल-भोगी नहीं हो। तुम्हारी उत्पन्न की हुई ध्वंस शक्ति से तुम्हारी वंशपरम्परा भी विनष्ट हो जायगी।

आधुनिक वैज्ञानिक अदृष्टवादियों की भी यही बात है। कुछ घुमा फिरा कर, समझ देखो, बात एक ही है। सुतराम् स्वतः न हो, परतः मेघनाद-वध अदृष्टवाद की दृढ़ भित्ति पर प्रणीत हुआ है। जगत् के अधिकांश अमरकार्य्यों का यही तत्त्व मेरुदण्ड है।

मेघनाद-वध के ज्ञानमय कवि ने प्रमीला के चरित में कुछ गुरुतर तत्त्व निहित रक्खे हैं। वे स्वतः सुन्दर और लोकहितकर हैं। अब हम उन्हें परिस्फुट करने की चेष्टा करेंगे।

जिसने कहा है कि भारतीय समाज पक्षाघात रोग से ग्रस्त है, उसने बहुत ठीक कहा है। सारे समाज में कभी स्त्री-पुरुष का साम्य था या नहीं, ठीक नहीं कहा जा सकता। यदि था भी तो बहुत दिनों से वह लुप्त हो गया है। धर्म्म-शास्त्र देखिए, जितने भी बन्धन हैं, स्त्रीजाति को लेकर। काव्य देखिए, स्त्रीजाति का प्रधान धर्म्म सतीत्व है, यह बड़ा वैषम्य है। पवित्रता बहुत बड़ी चीज़ है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु विधि एकपक्षीय होने से उसकी शुभकारिता कम हो गयी है। सीता का चरित्र हमारे जातीय गौरव की सामग्री है, पवित्रता की चरम सीमा है; परन्तु क्या उनमें प्रमीला की-सी वह तेजस्विता है—

"मधु अधरों में, विष रखती हैं आँखों में
हम, बल है क्या नहीं इन भुजनालों में?"

हमारे यहाँ स्त्रीजाति की यह कमी कितना अनर्थ करती है, जिसका कुछ ठिकाना नहीं। द्रौपदी के चरित्र में इसे पूरा करने का प्रयत्न किया गया है। द्रौपदी पतिव्रता, आदर्श रमणी है; किन्तु उसी के साथ वह प्रखर बुद्धिमती, प्रतिभाशालिनी और ज्योतिर्मयी देवी है। पुरुष की योग्य पत्नी है, सखी है, किन्तु दासी नहीं। युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई उससे परामर्श किये बिना कोई काम नहीं करते थे। मधुसूदन ने प्रमीला के चरित्र में स्त्री का यही स्थान निर्धारित किया है। दार्शनिक प्रवर जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्त्रीजाति का साम्य सिद्ध करने के लिए प्रबन्ध लिखा है और मधुसूदन ने प्रमीला का चरित्र चित्रित किया है; उद्देश दोनों का एक ही है।

उत्कृष्ट अंश

इस काव्य का कौन-सा अंश सर्वोत्कृष्ट है, इस विषय में भी भिन्न-भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। किसी की राय में प्रमीला का लंका प्रवेश, किसी की राय में सीता कृत पंचवटी-वर्णन, किसी की राय में देशोद्धारार्थ मेघनाद का प्रमोदोद्यान-त्याग-वर्णन और किसी की राय में श्मशान-दृश्य-वर्णन सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु **महात्मा रामकृष्ण देव परमहंस** की राय है कि—जिस स्थान पर,—इन्द्रजित युद्ध में मारा गया, शोक से मुह्यमाना मन्दोदरी युद्ध में जाने से रावण को रोकती है, परन्तु राक्षसरास पुत्र-शोक भूल कर महावीर की भाँति युद्ध के लिए कृतसंकल्प है—प्रतिहिंसा और क्रोधाग्नि में स्त्री-पुत्र सबको भूलकर—युद्ध के लिए वहिर्गमनोन्मुख है—उसी स्थान पर काव्य की श्रेष्ठ कल्पना है। जो होना हो, हो मैं अपना कर्त्तव्य नहीं भूलूँगा—इससे दुनिया रहे चाहे जाय—यही है महावीर के कहने की बात। मधुसूदन ने इसी भाव से अनुप्राणित होकर इस अंश की रचना की है।

रचना के दोष

मधुसूदन की रचना में दोषों की कमी नहीं। परन्तु संसार में निर्दोष क्या है? हमारे आलंकारिकों के बताये हुए दोषों के अनुसार जाँच करने पर सभी काव्यों में इस प्रकार के दोष पाये जाते हैं। कहते हैं, श्रीहर्ष ने अपना नैषध काव्य लिखकर जब अपने मामा प्रसिद्ध काव्याचार्य्य मम्मट भट्ट को दिखाया, तब उन्होंने उनसे कहा—"क्या कहें, तुम कुछ दिन पहले हमें इसे दिखाते तो हमारा बड़ा परिश्रम बच जाता। काव्य सम्बन्धी दोषों के लिए हमें अनेक काव्यों का अध्ययन करना पड़ा है। यदि पहले तुम्हारा काव्य हमें देखने को मिलता तो हमें और ग्रन्थ न पढ़ने पढ़ते, इसी में से सारे दोषों की उपलब्धि हो जाती।" मेघनाद-वध के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

क्लिष्टता, दूरान्वय आदि दोष तो इसमें हैं ही, अनेक स्थलों पर उपमाएँ भी उपयुक्त नहीं हुईं। जान पड़ता है, उपमा देने के लिए ही उपमा दी गयी है। कहीं-कहीं

तो एक-एक उपमा के लिए चार-चार पंक्तियाँ खर्च कर दी गयी हैं। द्विरुक्तियाँ भी इसमें बहुत पाई जाती हैं। वही कांचनीय कंजुकच्छटा, वही रत्नसम्भवाविभा, वही अम्बुराशि ऐसा कम्बुराशि-रव इसमें बारम्बार आता है। वही सादी-निषादी, वही हय हींसे, गज गरजे। दूसरे सर्ग के अन्त में आँधी पानी के थमने पर जब शान्ति स्थापित होती है, तरल जल में कौमुदी अवगाहन करती है एवं कुमुदिनी मुस्कराने लगती है, तब शृगालों और गीधों का आना सारे रस को किरकिरा कर देता है। इसी प्रकार, किसी-किसी की राय में लंका प्रवेश करती हुई प्रमीला के साथ कामदेव का शर-प्रहार करते हुए चलने का वर्णन भी उस दृश्य की गम्भीरता नष्ट कर देता है। इसी प्रकार, पंचवटी-वन में सीता का हरणियों के साथ नाचना भी उपहासजनक जान पड़ता है। कवि ने नरक वर्णन भी बहुत विस्तृत कर दिया है। पढ़ते-पढ़ते उसकी वीभत्सता पर जी ऊब उठता है। कहते हैं, होमर और मिल्टन के अनुकरण पर कवि ने यह वर्णन किया है; परन्तु एक अँगरेज समालोचक का कहना है कि इलियड के तीसरे सर्ग से हार्पियों की कथा और मिल्टन के महाकाव्य के दूसरे सर्ग से पाप और मृत्यु का संवाद उक्त दोनों काव्यों में परित्यक्त होने से ही अच्छा होता।

जो हो, असंख्य दोष क्यों न हों, उनके कारण मेघनाद-वध अनादरणीय नहीं हो सकता। दिन-दिन उसकी लोकप्रियता बढ़ रही है। मधुसूदन की कवित्वशक्ति के दो प्रधान गुण—तेजस्विता और उद्भावकता—ऐसे हैं कि वे सारे दोषों को भुला देते हैं।

महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने क्या ही ठीक कहा है कि—मधुसूदन के जीवन में और उनके काव्य में बहुत सनानता है। जीवन में उच्छृंखलता, स्वाधीनता, समाज की उपेक्षा; उसी प्रकार ग्रन्थ में सारी कल्पनाओं के बन्धन का उच्छेद दिखाई पड़ता है। उनकी कल्पना उद्दाम भाव से सर्वत्र घूमती थी। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। इस कारण उनके मन में नाना जातीय कवियों के भाव भरे हुए थे। उनके काव्य में स्थान-स्थान पर उन भावों का निदर्शन पाया जाता है।

समालोचना

मधुसूदन ने लिखा है कि हमारे मेघनाद-वध में कोई फ्रेंच समालोचक भी दोष न निकाल सकेगा। परन्तु समालोचनाओं की घोरतर शर-वृष्टि इस काव्य पर वर्षित हो चुकी है। प्रायः सब महाकवियों के भाग्य में ऐसा ही होता है; परन्तु यह शर-वृष्टि हिमालय पर्वत के शिखर पर वर्षा की धारा के कारण परिपुष्ट वनस्पति-समूह के समान उनके काव्यों को नाना प्रकार के सौन्दर्य्य से विभूषित कर देती है।

सर आशुतोष मुखोपाध्याय ने लिखा है—"आदि कवि वाल्मीकि जिस समय अपने गान से आप ही विमुग्ध और कदाचित् 'क्या गाया' कहकर आप ही सन्देहान्वित हुए थे, उस समय चतुर्मुख ब्रह्मा ने स्वयं आविर्भूत होकर उनसे कहा था—"ऋषिवर, तुम्हीं जगत् के आदि कवि हो, निस्संकोच होकर गान करो, तुम्हारे गान से विश्व

ब्रह्माण्ड विमोहित होगा, मरजीव अमरता के सुख की उपलब्धि करेंगे।" हाय! बंगला के रत्नाकर (वाल्मीकि) मधुसूदन के भाग्य में इसका ठीक उलटा हुआ। अथवा केवल इसी देश में क्यों, सब देशों के महाकवियों के भाग्य में एक सी ही लांछना लिखी होती है। दुर्जय समालोचकों के मर्म्मघातक कशाघात से महाकवि कीट्स का हृदय शतधा क्षत-विक्षत हुआ था!"

श्रीयुक्त ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर ने इस विषय में लिखा है—"साहित्य का इतिहास पढ़ने से मालूम होता है कि कठोर समालोचकों के आघात से कितने ग्रन्थकारों की आशा की कलियाँ बिना फूले ही मुरझा गयीं। इतना ही क्यों, कोई-कोई तो लेखनी के तीव्र विषाघात से अकाल में काल कवलित भी हो गये हैं। बहुतों की राय है कि कीट्स Keats कवि की अकाल-मृत्यु का कारण तीव्र समालोचना ही है। कविवर टैसो Tasso कठोर समालोचना से व्यथित होकर पागल हो गया था। कठोर समालोचना के आघात से ही Montesquien शीघ्र मृत्यु-मुख में पतित हुआ था। निन्दक समालोचकों की हृदयभेदिनी समालोचनाओं से कविवर शेली Shelly देशत्यागी हो गया था। उसने अपने मित्र Leigh hunt को जो पत्र लिखा था उसे पढ़कर हृदय विदीर्ण होता है। उसने लिखा था—"मेरी बुद्धि की सारी वृत्तियाँ चूर्ण-विचूर्ण और जड़ हो गयी हैं। मैं अब कुछ नहीं लिख सकता। जो कुछ लिखा जाय उससे दूसरे की सहानुभूति पाने की आशा न हो तो कुछ नहीं लिखा जा सकता।"

सब देशों के कवियों के भाग्य में पहले पहल समालोचकों का ऐसा ही वज्रपात होता है। विश्व-विख्यात शेक्सपियर के नाटकों पर भी पहले-पहल यूरोप के भिन्न-भिन्न देशीय समालोचकों के इतने प्रहार हुए थे कि उन्हें देखकर किसी को इसका भान भी न होता कि ये नाटक आगे चल कर प्रतिद्वन्द्वी-शून्य और चिरजीवी होंगे। हमारे देश में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं। कहते हैं, घटखर्पर कवि ने कालिदास के रघुवंश के विषय में कहा था कि—"रघुवंशमपि काव्यम्? तदपिच पाठ्यम्?" "रघुवंश भी काव्य है? वह भी पढ़ने योग्य है?" मधुसूदन के भाग्य में भी यही बात थी।

किन्तु मधुसूदन को आत्मशक्ति में इतना दृढ़ विश्वास था कि वे इस प्रकार की आलोचनाओं पर भ्रूक्षेप भी न करते थे, विचलित होना या डरना तो दूर की बात है।

सब से बड़ा समालोचक 'काल' है। उसी ने मेघनाद-वध की समालोचना करके सिद्ध कर दिया कि वह अमर काव्य है।

मधुसूदन की भविष्य वाणी सर्वथा सच निकली। उन्होंने इसके विषय में आरम्भ में ही मधुकरी कल्पना से कहा है—

"मंजु मधुकोष रचो विज्ञजन जिससे
प्रेमानन्द पूर्वक पियेंगे सुधा सर्वदा।"

जो उनकी धारणा थी उससे अधिक फल उसका हुआ।

मधुसूदन ने 'विज्ञजन' के स्थान पर मूल में 'गौड़जन' लिखा है। किन्तु इस काव्य का अनुवाद अँगरेज़ी में भी हो गया है और भगवान की कृपा से हिन्दी में भी आज वह प्रकाशित हो रहा है; इस कारण अनुवाद में 'गौड़जन' के बदले 'विज्ञजन' कर दिया गया है। विश्वास है, मधुसूदन की आत्मा को इस परिवर्तन से आनन्द और सन्तोष ही प्राप्त होगा।

वृत्र-संहार महाकाव्य के रचयिता–**श्रीयुक्त हेमचन्द्र वन्द्योपाध्याय** की राय है कि–"इस ग्रन्थ में स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, तीनों लोकों के रमणीय और भयानक प्राणी और पदार्थ सम्मिलित करके पाठकों के समक्ष चित्रपट के समान चित्रित किये गये हैं। यह काव्य पढ़ते-पढ़ते भूतकाल वर्तमान की भाँति जान पड़ता है। इसमें वर्णित देव, दानव और मानवमण्डली के वीर्य्यशाली, प्रतापशाली जीवों के अद्‌भुत कार्य्यकलाप देख कर मोहित और रोमांचित होना पड़ता है। इसे पढ़ते-पढ़ते कभी विस्मय, कभी क्रोध हो आता है और कभी करुणा से हृदय आर्द्र हो जाता है एवं वाष्पाकुल लोचनों से इसे समाप्त करना पड़ता है।"

प्रसिद्ध नाट्यकार स्वर्गीय **द्विजेन्द्रलाल राय** की राय है कि–"बंगाल में अभी तक ऐसा कोई कवि उत्पन्न नहीं हुआ जिसे मुधसूदन से ऊँचा आसन दिया जा सके।"

अन्त में स्वर्गीय **कालीप्रसन्नसिंह** की सम्मति का एक अंश उद्धृत करके यह निबन्ध समाप्त किया जाता है। उक्त महोदय ने लिखा है कि–बंगला-साहित्य में इस प्रकार के काव्य का उदय होगा, जान पड़ता है, स्वयं देवी सरस्वती भी स्वप्न में इसे न जानती थीं–

"वीणा-ध्वनि दासी ने सुनी है और है सुनी
कोकिला की कूक, नव पल्लवों के बीच से,
सरस वसन्त में; परन्तु इस लोक में
ऐसी मधु-वाणी नहीं और सुनी कल्याणी!"

मेघनाद-वध

श्रीगणेशाय नमः

मेघनाद-वध

प्रथम सर्ग

सम्मुख समर में, अकाल में निहत हो,
शूरशिरोरत्न वीरबाहु, यमपुर को
गया जब कहो तब देवि, सुधाभाषिणी!
किस वर वीर को निशाचर नरेन्द्र ने
करके वरण निज सेनापति-पद पै,
भेजा रण में था उस राघव के वैरी ने?
और किस कौशल से ऊर्म्मिलाविलासी ने,
इन्द्रजित मेघनाद, जग में अजेय, जो—
था भरोसा राक्षसों का, मार कर उसको
मेटा था सुरेन्द्र भी? मन्दमति सर्वथा—
करके पदारविन्द-वन्दना, विनय से,
श्वेतभुजे, तुमको पुकारता हूँ फिर मैं;
वीणापाणि भारति, माँ, जैसे तुम बैठी थीं
आकर वाल्मीकि-रसना पै, कृपा करके,
मानों पद्म-आसन पै, जब घन बन में—
क्रौंच-वध व्याध ने किया था खरशर से,
करता विहार था जो क्रौंची-संग सुख से;
आके तुम दास पर वैसे ही दया करो।
महिमा तुम्हारी कौन जानता है जग में?
चोर था नराधम जो नर नर-वंश में,
हे माँ, वही हो गया तुम्हारे अनुग्रह से

मृत्युंजय, मृत्युंजय जैसे उमापति हैं!
रत्नाकर चोर तब वर से हे वरदे,
हो गया कवीन्द्र काव्य-रत्नाकर! पाता है
चन्दन की शोभा विष-वृक्ष तव स्पर्श से!
हाय! मातः, ऐसा पुण्य है क्या इस दास का?
किन्तु गुणहीन, मूढ़ होता है सुतों में जो
माता का विशेष प्रेम होता उस पर है।
आओ, तब विश्वरमे, आओ हे दयामयी,
वीर रस-मग्न महा गीत आज गाऊँगा
माँ! मैं, तुम किंकर को, आओ, पदच्छाया दो।
पाओ, तुम भी हे देवि, मधुकरि कल्पने।
लेके मधु कवि-मन-सुमन-समूह से
मंजु मधु-चक्र रचो, विज्ञ जन जिससे
प्रेमानन्द पूर्वक पियेंगे सुधा सर्वदा।
बैठा कनकासन पै वीर दशानन है,
सोहता है हेमकूट-हेम शिर पर ज्यों
शृंगवर तेजःपुंज। चारों ओर बैठे हैं
सौ सौ पात्र मित्र, सभासद नतभाव से
विश्व में विचित्र सभा स्फटिक-गठित है;
उसमें जड़े हैं रत्न, मानों मानसर में
सरस सरोज-फूल चारों ओर फूले हैं।
श्वेत, हरे, लाल, पीले, नीले स्तम्भ पंक्ति से
ऊँची सुनहली छत सिर पर रक्खे हैं,
उत्थित अयुत फन फैला कर अपने
धारण किये है धरा सादर फणीन्द्र ज्यों।
मोती, लाल, पन्ने और हीरे अनमोल-से
झलमल झालरों में झूम झूलते हैं यों—
झूला करते हैं ज्यों महोत्सव-भवन में
पल्लवों के हार गुँथे कलियों से, फूलों से।
जागती है वार वार जगमग भाव से,
क्षोणी में क्षणप्रभा-सी, रत्नसम्भवा विभा
चक्षु चौंधियाती हुई! चारुमुखी चेरियाँ
करके मृणाल-भुज संचालित सुख से
रत्न-दण्ड वाले चारु चामर डुलाती हैं।

धारण किये है छत्र छत्रधर यों अहा।
जल कर काम हर-कोपानल में न ज्यों
छत्रधर-रूप में खड़ा है सभा-सौध में।
भीममूर्ति द्वारपाल द्वार पै है घूमता,
शूल लिये, पाण्डव-शिविर-द्वार पर ज्यों
रुद्रेश्वर! गन्ध सह बहता सु-मन्द है
अक्षय अनन्त वायु विश्रुत वसन्त का।
काकली-तरंग-संग लाके अहा! रंग से
बाँसुरी-सुधा-तरंग मानो व्रज-वन में।
दैत्यराज मय, क्या तुम्हारी सभा? तुच्छ है
इसके समक्ष, स्वच्छ रत्नमयी, जिसको
तुमने रचा था इन्द्रप्रस्थ में प्रयास से
पाण्डवों को तुष्ट करने के लिए आप ही।
ऐसी सभा-मध्य बैठा रक्षःकुलराज है,
मौन सुत-शोक-वश, बहती है आँखों से
अविरल अश्रुधारा—वस्त्र भिगो करके,
तीक्ष्ण शर लगने से सरस शरीर में
रोता तरु नीरव है जैसे। कर जोड़ के—
सामने खड़ा है भग्न दूत, भरा धूल से;
शोणित से आर्द्र है शरीर सब-उसका।
शत शत योद्धा जो कि वीरवाहु-संग ही
पैठे समराब्धि में थे, शेष बचा सब में
एक यही वीर; उस काल की तरंग ने
सब को डुबोया, इसी राक्षस को छोड़ के;
नाम मकराक्ष, यक्षराज-सम है बली।
सुत का निधन सुन हाय! इसी दूत से,
आज महा शोकाकुल राजकुलरत्न है
रावण! सभाजन दुखी हैं राज-दुःख से।
घन जब घेरता है भानु को, भुवन में
होता है अँधेरा। चेत पाके कुछ देर में
दीर्घ श्वास छोड़ वह शोक सह बोला यों—
''शर्वरी की स्वप्न के समान तेरा कहना
है रे दूत, आकुल है देव-कुल जिसके
भीम भुज-विक्रम से, दीन नर राम ने

मारा उसे सम्मुख समर में? क्या विधि ने
छेंकुर का वृक्ष छेद डाला फूल-दल से?
हा सुत, हा वीरबाहो, शूरशिरोरत्न हा!
खोया है तुम-सा धन मैं ने किस पाप से?
दारुण रे दैव, दोष देख मेरा कौन-सा
तू ने यह रत्न हरा? हाय! यह यातना
कैसे सहूँ? और कौन मान अब रक्खेगा
काल-रण-मध्य इस सुविपुल कुल का!
काट कर कानन में एक एक शाखा को,
अन्त में लकड़हारा काटता है वृक्ष को;
हे विधाता, मेरा महा वैरी यह वैसे ही
करता है देख, बलहीन मुझे नित्य ही!
सत्वर निमूल मैं समूल हूँगा इसके
शायकों से! अन्यथा क्या मरता समर में
भाई कुम्भकर्ण मेरा, शूलधर शम्भु-सा
एक मेरे दोष से अकाल में? तथा सभी
रक्षोवंशरक्षी वीर? शूर्पणखा, तू ने हा!
पंचवटी में जा किस कुक्षण में देखा था
कालकूट धारी यह नाग, ओ अभागिनी?
और किस कुक्षण में (तेरे दुख से दुखी)
लाया था कृशानु-शिखा रूपी जानकी को मैं
स्वर्ण के सुगेह में? हा! इच्छा यही होती है—
छोड़ यह हेमधाम, निविड़ अरण्य में
जाकर जुड़ाऊ निज ज्वाला मैं अकेले में!
पुष्प-दाम-सज्जित, प्रदीपों के प्रकाश से
उद्भासित नाट्यशाला-सी थी यह सुन्दरी
हेमपुरी मेरी! अब एक एक करके
सूखते हैं फूल और बुझते प्रदीप हैं;
नीरव रवाब, वीणा, मुरली, मृदंग हैं;
फिर क्यों रहूँ मैं यहाँ शोक मात्र पाने को?
किसकी निवास-वासना है अन्धकार में?"

रक्षोराज रावण ने करके आक्षेप यों
शोक से विलाप किया; हाय! हस्तिना में ज्यों
सुनकर दिव्यदृष्टि-संजय के मुख से

अन्धराज, भीमभुज भीम के प्रहारों से
पुत्रों का प्रणाश, कुरुक्षेत्र-काल-रण में,
रोये थे विलाप कर वार वार शोक से।
उठ तब, दोनों हाथ जोड़, नतभाव से,
मन्त्रिवर सारण यों कहने लगा कि—"हे
रक्षोवंश-शेखर महीपते, महामते,
विश्व में विदित, इस दास को क्षमा करो।
शक्ति किसकी है भला ऐसी इस लोक में
समझावे आपको जो? किन्तु प्रभो, मन में
सोच देखो, अभ्रभेदी शृंग यदि भंग हो
वज्र के प्रहार से तो होता है कभी नहीं
भूधर अधीर उस बाधा से। विशेषतः
यह भवमण्डल है मायामय, स्वप्न-सा,
इसके प्रदत्त सुख-दुःख सब झूठे हैं।
भूलते हैं मोह-छलना में अज्ञ जन ही।"
उत्तर दिया यों तब लंकापति ने उसे—
"मन्त्रिवर सारण, कहा जो तुमने, सभी
सत्य है, मैं जानता हूँ, मायामय विश्व है;
इसके प्रदत्त सुख-दुःख सब झूठे हैं।
रोते हैं अबोध प्राण किन्तु जानकर भी।
मंजु मनोवृन्त पर फूलता है फूल जो
तोड़े उसे काल तो अधीर मन होता है
और डूबता है शोक-सिन्धु में, मृणाल ज्यों
डूबता है पद्म रूपी रत्न हरा जाने से।"
इसके अनन्तर निदेश दिया राजा ने—
"वार्तावह, बोल, गिरा क्योंकर समर में
अमरगणों का त्रास वीरबाहु विक्रमी?"
करके प्रणाम चरणों में, कर जोड़ के,
कहने लगा यों भग्न दूत—"हाय! स्वामी, मैं
कैसे सो अपूर्व कथा आपको सुनाऊँगा?
वर्णन करूँगा शौर्य्य कैसे वीरबाहु का?
मदकल कुंजर घुसे ज्यों नल-वन में,
धन्वी वीर-कुंजर प्रविष्ट हुआ, वेग से,
शत्रु-दल में त्यों। उर काँपता है अब भी

थर थर, सोच उस भीषण हुंकार को!
हे प्रभो, सुना है सिंहनाद घनघोष भी,
कल्लोलित सिन्धु-रव; और मैंने देखा है
वेग से इरम्मद को जाते वायु-मार्ग में;
किन्तु सुना मैं ने नहीं तीनों लोक में कभी
ऐसा घोर घर्घर कठोर शोर धन्वा का!
और ऐसी भीम शर-वृष्टि नहीं देखी है!
यूथनाथ-संग गज-यूथ यथा जाता है
रण में प्रविष्ट हुआ, साथ ही कुमार के,
वीर-वृन्द। धूल उड़ छा गयी गगन में,
घेर लिया मानों व्योम आके क्रुद्ध मेघों ने;
कौंधा के समान चक्षु चौंधा कर वेग से
तीक्ष्णतम बाण उड़े व्योम-पथ में प्रभो,
सन सन! धन्य युद्ध-शिक्षा वीरबाहु की।
गिन सकता है कौन, शत्रु मरे कितने?
सैन्यसह यों ही महाराज, पुत्र आपका
जूझा वैरियों से। फिर नर वर राम ने
रण में प्रवेश किया। सोने का किरीट था
सिर पर और महा भीम चाप कर में,—
वासव का चाप बहु रत्नों से खचित ज्यों।''
रोया भग्न दूत चुपचाप, यह कह के,
रोता है विलापी यथा पूर्व व्यथा सोच के
रोये सब सभ्य जन नीरव, विषाद से।
साश्रुमुख मन्दोदरीमोहन ने आज्ञा दी
''कह हे सन्देशवह, कैसे, कह मैं सुनूँ,
मारा रावणात्मज को दशरथ-पुत्र ने?''
''कैसे, हे महीप,'' फिर भग्न दूत बोला यों
''कैसे मैं कहूँगा वह वृत्त, कैसे आप भी
उसको सुनेंगे? हाय! कालमूर्ति केसरी,
ज्वालामयी दृष्टि वाला, घोर दाँत पीस के
टूटे वृष-स्कन्ध पर, कूद कर कोप से—
जैसे, ठीक वैसे ही कुमार पर राम ने
आके किया आक्रमण! चारों ओर रण की
तुमुल तरंगें उठीं, सिन्धु ज्यों समीर से

जूझ कर गर्जता हो। ज्वाला-तुल्य असियाँ
घूम घूम घूम ऐसे ढालों के समू हूँ में
जागती थीं सैकड़ों—हज़ारों! अम्बुराशि ज्यों
नाद करते थे कम्बु, देव, और क्या कहूँ?
पूर्वजन्म-दोष-वश एकाकी बचा हूँ मैं!
हायरे विधाता! मुझे तू ने किस पाप से
आज यह ताप दिया? सोया क्यों न युद्ध में
लंका अलंकार वीरबाहु के ही साथ मैं
शूर-शर-शय्या पर? किन्तु निज दोष से
दोषी मैं नहीं हूँ। देव, देखो इस वक्ष को,
विक्षत है शत्रु के प्रहारों से समक्ष ही;
कोई अस्त्र-चिह्न मेरी पीठ पर है नहीं।''

राक्षस निस्तब्ध हुआ घोर मनस्ताप से,
बोला तब लंकापति हर्ष से, विषाद से—
''धन्य दूत, तेरी बात सुन किस वीर का
चाहेगा न चित्त भला जाने को समर में?
डमरू निनाद सुन काल फणी क्या कभी
रह सकता है पड़ा बिल में शिथिल-सा?
धन्य लंका, वीर-पुत्र-धात्री! चलो, चलके
देखें हे सभाजन, पड़ा है किस भाँति से
शूरशिरोरत्न वीरबाहु रणभूमि में;
आओ सब, देख आँखें ठण्ढी करें अपनी।''

रावण चढ़ा यों तब सौध के शिखर पै,
हेम उदयाद्रि पर अंशुमाली भानु ज्यों।
स्वर्ण-सौध रूपी मंजु मुकुट-विमण्डिता
शोभित थी चारों ओर लंकापुरी-सुन्दरी!
श्रेणीबद्ध हेमहर्म्य, पुष्पवाटिकाओं में;
कमल सरोवरों में, रौप्यच्छटा उत्सों में
और नेत्रलोभी फूल वृक्षराजियों में थे,
युवती में यौवन ज्यों; हीरों के कलश थे
देवालय-शिखरों में, और सब रंगों के
रत्नों की प्रपूर्णता थी विपणि-समूह में।
लाकर असंख्य धन मानों इस विश्व ने
रक्खा है सुवर्णलंके, तेरे पदतल में

भक्तिभावना के साथ, पूजा के प्रकार से।
विश्व की है वासना तू, सर्व सुखशाला है।
उन्नत प्राचीर महा अटल-अचल-सी
रक्षोराज रावण ने देखी; उस पर था
वीर-मद-मत्त अस्त्रधारी-दल घूमता,
शैल पर सिंह मानों। चार सिंहद्वार जो
रुद्ध अब थे, विलोके सीताहर ने; वहाँ
सज्जित असंख्य गज, अश्व, रथ आदि थे;
और थे सतर्क शूर सैनिक महारथी।
बाहर पुरी के वैरि-वृन्द देखा वीर ने,
बालू का समूह यथा तीर पर सिन्धु के,
तारागण-मण्डल या विस्तृत गगन में।
थाना रोष पूर्व वाले द्वार पर, युद्ध में
दुर्द्धर, अरुद्धगति वाला वीर नील है।
दक्षिण के द्वार पर अंगद है घूमता,
करम-समान नव बल से बलिष्ठ, या
विषधर नाग तुल्य, अन्त में जो हिम के
फन को उठा के और शूल जैसी जिह्वा को
गर्व से हिलाके, नव कंचुक धरे हुए
घूमता है! उत्तर के द्वार पर आप ही
मर्कट-महीप वीर-केसरी सुकण्ठ है।
पश्चिम के द्वार पर देव दाशरथि हैं,
हायरे! विषण्ण, अब सीता के वियोग
कुमुद-विनोदी विधु कौमुदी-विहीन ज्यों!
लक्ष्मण, विभीषण, समीर-सुत साथ हैं।
होकर सतर्क, सावधान, शतघेरों से
चारों ओर वैरि-वृन्द घेरे हेम लंका है,
गहन विपिन में ज्यों व्याध-दल मिलके,
जाल ले, सतक घेरता है नेत्ररंजनी
रूप में, पराक्रम में भीमा, आदि भीमा-सी,
केसरी की कामिनी को! युद्ध-क्षेत्र सामने
देखा वीर रावण ने। कोलाहल करके
घूमते शृगाल, गीध, कुक्कुर, पिशाच हैं।
बैठते हैं, उड़ते हैं और लड़ते हैं वे

आपस में; कोई सम-लोभी जीव को कहीं
पक्ष के प्रहारों से खदेड़ता है दूर लों,
सुख से निनाद कर कोई मांस खाता है;
पीता है रुधिर कोई; मृतकों के ढेर हैं।
भीमाकृति कुंजरों के पुंज हैं पड़े वहाँ,
झंझागति-अश्व गति-हीन हाय! अब हैं;
चूर्ण हैं असंख्य रथ; सादी, निषादी, रथी
और शूली, एक साथ सब हैं पड़े हुए!
वर्म, चर्म, चाप, शर, भिन्दिपाल, असियाँ,
मुद्गर परशु, तूण फैले सब ओर हैं।
कुण्डल, किरीट, हार, शीर्षकादि वीरों के
तेजोमय भूषण विकीर्ण हैं जहाँ-तहाँ।
यन्त्रि-दल यन्त्रों में पड़े हैं यम-तन्त्र हो!
ध्वजवह, हेम-ध्वज-दण्ड लिये हाथ में,
कालदण्डाघात से पड़े हैं। हायरे! यथा
स्वर्णचूड़-शस्य कट गिरते हैं क्षेत्र में
कर्षक-करों से, पड़े राक्षस असंख्य हैं;
भानु-कुल-भानु वीर राघव के बाणों से!
शूरशिरोरत्न वीरबाहु है पड़ा वहीं
वैरियों को दाबे बली, जैसे था पड़ा अहा!
जननी हिडिम्बा के विशाल स्नेह-नीड़ में
पालित गरुड़-सा घटोत्कच महाबली,
जब उस कालपृष्ठधारी कर्ण धन्वी ने
छोड़ी शक्र वाली शक्ति कौरव-हितार्थ थी।
शोक से अधीर तब बोला राक्षसेन्द्र यों—
''आज जिस शय्या पर वत्स, तुम सोये हो,
शूर-कुल इच्छुक है सर्वदा ही उसका!
दलकर शत्रु-दल रण में स्वबल से,
जन्मभूमि-रक्षा-हेतु कौन डरे मृत्यु से?
भीरु है जो मूढ डरे, धिक उसे, धिक है!
तो भी, यह चित्त तात, मोह-मद-मुग्ध है,
फूल-सा मृदुल; इस वज्र के प्रहार से
कैसा आज कातर है, जानेंगे इसे वही
जो कि अन्तर्यामी हैं, जना मैं नहीं सकता।

यह भव-भूमि विधे, रंगभूमि तेरी है
किन्तु पर-दुःख देख क्या तू सुखी होता है?
होता है सदैव पिता दुःखी पुत्र-दुःख से,
विश्व-पिता तू है, यह तेरी कौन रीति है?
हा सुत; हा वीरबाहो, शूरशिरोरत्न हा!
क्योंकर तुम्हारे बिना मैं ये प्राण रक्खूँगा?''
करके आक्षेप यों ही राक्षसों के राजा ने
दृष्टि फेर देखा दूर मकरालय सिन्धु यों—
मेघों का समूह मानों निश्चल है, उसमें
प्रस्तर-विनिर्मित, सुदीर्घ, दृढ़, सेतु है।
दोनों ओर फेनमयी फणिवर रूपिणी
उठती तरंगें हैं निरन्तर निनाद से।
वह पुल, विपुल, अपूर्व है, प्रशस्त है,
राज-पथ-तुल्य; जन-स्रोत कल रव से
बहता है, स्रोतःपथ से ज्यों वारि वर्षा में।
सिन्धु-ओर देख महामानी राक्षसेन्द्र यों
बोला, अभिमान-वश—''क्या ही मंजु मालिका
पहनी प्रचेतः, आज तुमने, हा! धिक है,
तुम जो अलंघ्य हो, अजेय हो, क्या तुम को
अच्छा लगता है यही? सोचो, हे महोदधे!
आभूषण क्या तुम्हारा रत्नाकर, है यही?
हाय! किस गुण से, कहो, हे देव, मैं सुनूँ,
किस गुण से है तुम्हें क्रीत किया राम ने?
वैरी हो प्रभंजन के और प्रभंजन ज्यों
भीम विक्रमी हो तुम; फिर किस पाप से
पहने हो तुम यह निगड़, कहो, सुनूँ?
नीच भालुओं को बाँध, बाजीगर उनसे
खेल करता है; किन्तु राजपद सिंह के
बाँधे पक्षि-रज्जु से जो, शक्ति यह किसकी?
यह जो सुवर्ण-पुरी लंका, नील जलधे,
शोभित तुम्हारे वक्ष पर है कि नित्य ज्यों
माधव के वक्ष पर कौस्तुभ सुमणि है,
इस पर बताओ, क्यों तुम यों अदय हो?
अब भी उठो हे वीर, तोड़ो वीर-बल से

तुम यह पाप-बन्ध, मेटो अपवाद को;
शान्त करो ज्वाला यह, अतल सलिल में
शीघ्र ही डुबोके इस शक्तिशाली शत्रु को।
न यह कलंक-रेखा रक्खो तुम माथे पै,
विनती तुम्हारे चरणों में यही मेरी है।''

राजपति रावण यों कह फिर मौन हो;
बैठा कनकासन पै, आके सभा-धाम में;
बैठे मौन पात्रमित्र-सभ्य सब शोक से
चारों ओर। इतने में गूँजा वहाँ सहसा
रोदन-निदान-मृदु; गूँज उठा साथ ही
नूपुर-रणन और किंकिणी-क्वणन भी।
हेमांगिनी संगिनी-समूह लिए संग में
चित्रांगदा देवी तब आयी सभाधाम में।
केश बिखरे थे, देह आभरणहीन थी;
पाले से प्रसूनहीना, दीना लता हो यथा!
अश्रुमय नेत्र, हिम-पूर्ण यथा पद्म थे!
वीरबाहु-शोक-वश व्याकुल थी महिषी,
होती है विहंगिनी ज्यों, हाय! जब नीड़ में
घुस कर कालनाग शावक को ग्रस ले!
फैली शोक-झंझा सभा-मध्य महा वेग से,
चारों ओर वामा-वृन्द शोभित हुआ वहाँ,
रूप में सुरांगना ज्यों, मुक्त केश-घन थे,
आँसुओं की वृष्टि वारि-धारा थी, उसाँसों का
प्रलय-प्रभंजन था, हाहाकार मन्द्र था!
चौंका कनकासन पै लंकापति देख के।
फेंक दिया चामर दृगम्बु भर दासी ने,
छत्र फेंक छत्रधर रोया; क्षोभ-रोष से
खींच लिया घोर खर खड्ग द्वारपाल ने,
पात्र-मित्र-सभ्य सब रोये घोर रव से।

बोली, कुछ देर बाद, चित्रांगदा महिषी,
रावण की ओर सती देख, मृदु स्वर से—
''एक रत्न विधि ने दिया था मुझे कृपया,
रक्खा उसे पास था तुम्हारे, मुझ दोनों ने,
रक्षःकुलरत्न, रक्षा-हेतु; वृक्ष नीड़ में

शावक को रखती खगी है ज्यों। कहो, कहाँ
रक्खा तुमने है उसे लंकानाथ? है कहाँ
मेरा सो अमूल्य रत्न? पाऊँ मैं उसे कहाँ?
दीन-धन-रक्षण है राजधर्म्म; तुम हो
राजकुल-राज, राजा, रक्खा कहो, तुमने,
कैसे, मैं अकिंचना हूँ, मेरे उस धन को?''
उत्तर में बोला तब वीर दशानन यों—
''व्यर्थ यह लांछन लगाती हो प्रिये, मुझे
क्यों तुम? उचित है क्या निन्दा उस जन की,
दोषी ग्रह-दोष से है जो? हा! यह यातना
सहता हूँ दैव-वश, देवि, यह सोने की
वीरपुत्रधात्री पुरी देखो, आज हो रही
वीर-शून्य, वीरप्रसू, मानों ग्रीष्म ऋतु में
नीर-शून्य सरिता, प्रसून-शून्य अटवी!
करके प्रवेश नागवल्ली-लता-गृह में
शल्य यथा करता है छिन्न-भिन्न उसको,
तोड़ता है दाशरथि मेरे हेमपुर को!
आप अब्धि भी है बँधा आग्रह से उसके!
एक सुत-शोक से हो व्यग्र तुम ललने,
शत सुत-शोक से है मेरा हिया फटता
रात-दिन! हाय! देवि, आँधी जब आती है,
करके विदीर्ण तब सेमल की फलियाँ,
उनकी रुई को वह वेग से उड़ाती है,
रक्षः-कुल-शेखर विपुल हाय!
मेरे त्यों होते हैं विनष्ट इस काल-रण-रंग में।
लंका के विनाश को बढ़ाता विधि हाथ है।''
रक्षोराज मौन हुआ, होकर अधोमुखी
चन्द्रानना चित्रांगदा रोने लगी शोक से;
होने लगी व्याकुल हा! याद कर पुत्र को।
राघवारि बोला फिर सान्त्वना के स्वर में—
''योग्य है विलाप यह देवि, क्या तुम्हें
कभी? रण में तुम्हारा पुत्र, देश-वैरी मार के,
स्वर्ग को गया है; तुम वीरसू हो, वीरों का
कर्म्म कर वीरगति पाई तब पुत्र ने।

उसके लिए क्या यह क्रन्दन उचित है?
मेरा कुल उज्वल हुआ है तब पुत्र के
विक्रम से; इन्दुमुखि, रो रही हो फिर क्यों?
क्यों तुम भिगो रही हो आँसुओं से आपको?"
बोली तब चारुनेत्रा चित्रांगदा सुन्दरी–
"देश-वैरी मारता है रण में जो, धन्य है;
धन्य उसका है जन्म, मानती हूँ आपको
धन्य मैं, प्रसू जो हुई ऐसे वीर सूनु की।
किन्तु सोचो नाथ, तब लंकापुरी है कहाँ;
है वह अयोध्या कहाँ? कैसे, किस लोभ से,
राम यहाँ आया? यह स्वर्णपुरी सुन्दरी,
इन्द्र को भी वांछित है, अतुल त्रिलोकी में;
शोभित है रत्नाकर चारों ओर इसके
उन्नत प्राचीर जैसे रजत-रचित हो।
सुनती हूँ सरयू किनारे बास उसका;
मानव है तुच्छ वह। क्या तुम्हारा सोने का
सिंहासन छीनने को राघव है जूझता?
वामन हो चाहे कौन चन्द्र को पकड़ना?
देव, फिर देश-वैरी कहते हो क्यों उसे?
रहता सदैव नतमस्तक भुजंग है,
किन्तु यदि उसपै प्रहार करे कोई तो
फन को उठाके वह डसता है उसको।
किसने जलाई यह कालानल लंका में?
हाय! निज कर्म्म-दोष से ही नाथ, तुमने
कुल को डुबाया और डूबे तुम आप भी!"
कहके यों मर्मवाक्य वीरबाहु-जननी
चित्रांगदा रोती हुई, सखियों को साथ ले,
अन्तःपुर को गयी। सशोक, साभिमान यों
गर्ज उठा राघवारि, हेमासन छोड़ के–
"इतने दिनों में (बोला) शूर-शून्य हो गयी
मेरी स्वर्णलंका! इस कालान्तक रण में
भेजूँ अब और किसे? कौन अब रक्खेगा
रक्षःकुल-मान? आप मैं ही अब जाऊँगा।
सज्जित हो, लंका-अलंकार शूर-सैनिको!

देखूँ, रघुवंशमणि रखते हैं गुण क्या?
होगा आज जगत अरावण, अराम वा।''
इतना कहा जो शूर-सिंह दशानन ने,
दुन्दुभि सभा में बजी घोर घन-घोष से।
सुन वह नाद, सजी वीर-मद-मत्त हो,
सुर-नर-दैत्य-भीति, यातुधानवाहिनी।
निकले सवेग वारियों से—जलस्रोत-से,
विक्रम में दुर्निवार—वारणों के यूथ, त्यों
अश्व मन्दुराओं से, लगामों को चबाते-से,
ग्रीवाएँ सुभंग किये। स्वर्णचूड़ रथ भी
आये वायु-वेग से, पुरी में प्रभा छा गयी।
प्रबल पदातिक, सुवर्ण-टोप पहने,
खंग खनकाते हुए कान्तिमान कोषों में,
पीठों पर ढाल बाँधे, रण में अभेद्य जो;
हाथों में त्रिशूल लिये, अभ्रभेदी शाल ज्यों,
वर्म्मावृत देह किये, आगे पंक्ति बाँध के।
आये यों निषादी कि ज्यों मेघ-वरासन पै
वज्रपाणि, सादी यथा अश्विनीकुमार हों;
भीम भिन्दिपाल, विश्वनाशी फरसे लिये।
फैली नभोमण्डल में आभा, यथा वन में
दावानल लगने से फैलता उजाला है।
रक्षःकुल-केतु-पट, रत्नों से जड़ा हुआ,
धीर ध्वजधर ने उड़ाया, यथा फैलाके
पक्षों को उड़ा हो स्वयं वैनतेय व्योम में!
चारों ओर शोर कर बाजे बजे युद्ध के,
उल्लासित हो के हय हींसे, गज गरजे;
अम्बुराशि ऐसा कम्बुराशि-रव छा गया;
टंकारित चाप हुए, झंकारित असियाँ,
कान फटने-से लगे घोर कोलाहल से।
काँपी तब स्वर्णलंका वीर-पद-भार से,
गरजा सरोष सिन्धु! जल-तल में जहाँ—
विद्रुमों के आसन पै, हेम-पद्म-वन में,
माँग गुँथवा रही थी मोतियों से रूपसी
देवी वरुणानी, वह शब्द वहाँ पहुँचा;

चौंककर चारों ओर देखने लगी सती,
बोली फिर इन्दुमुखी अपनी सहेली से—
"चंचल हुआ क्यों सखि, सिन्धुराज सहसा?
मुक्तामय सौध-शृंग काँपता है, देख तो!
जान पड़ता है, फिर दुष्ट वायुकुल ने
आकर तरंगों से लड़ाई शुरू कर दी।
धिक है प्रभंजन को, कैसे वह सजनी,
भूला है प्रतिज्ञा निज ऐसे अल्प काल में?
इन्द्र की सभा में अभी मैं ने उसे साधा था
रोकने को वायु-वृन्द, बाँधने को कारा में।
हँस के कहा था तब उसने—"जलेश्वरी,
स्वच्छनीरा सरिताएँ जितनी जगत में,
किंकरी तुम्हारी हैं, सभी के साथ मुझको
आज्ञा दो विहार की तो मानूँ अनुरोध मैं।"
अनुमति दी थी सखि, मैं ने वायुपति को,
फिर वह आ गया क्यों देने मुझे यातना?"
उत्तर सखी ने दिया तब कलकण्ठ से—
"देती हो वृथा ही दोष वारीन्द्राणि, वायु को।
झंझा नहीं, किन्तु यह झंझा के समान ही
सजता है रावण सुवर्णलंका धाम में,
राम-वीर-गर्व खर्व करने को रण में।"
बोली वरुणानी फिर—"आली, यही बात है;
सीता के लिए श्रीराम-रावण का वैर है।
रक्षःकुल-राजलक्ष्मी प्यारी सखी मेरी हैं,
उनके समीप सखि, जाओ तुम शीघ्र ही,
युद्ध-कथा सुनने की लालसा है मुझको।
देना यह स्वर्ण-कंज कमला को भेट में
और कहना यों—जहाँ बैठ पद्मासन पै
रखती थीं अरुण पदाब्ज तुम अपने,
फूला वहीं फूल यह, चन्द्रमुखि, जब से
तुम गयीं करके अँधेरा सिन्धु-गेह में।"
जल-तल छोड़ चली मुरला सहेली यों—
सफरी सुचंचला ज्यों चलती है सहसा
रौप्यकान्ति-विभ्रम दिखाने को दिनेश को।

प्राप्त हुई दूती शीघ्र स्वर्णलंकाधाम में,
पद्मालय मध्य जहाँ पुण्य पद्मासन पै
राजती थी पद्ममयी पद्मनाम की प्रिया।
द्वार पर ठहर निमेष भर दूती ने
दृष्टि निज शीतल की, देख वह माधुरी,
मोहती है मदन-विमोहन को जो सदा।
चलता चिरानुचर वायु था वसन्त का
सुस्वन से, देवी के पदाब्ज-परिमल की
आशा कर। चारों ओर शोभित थे फूल यों—
रत्न ज्यों धनाधिप के धन्य धनागार में।
जलती थी धूप सौ सौ स्वर्ण-धूपदानों में,
आमोदित मन्दिर था गन्धरस-गन्ध से।
नाना उपहार सजे स्वर्णभाजनों में थे
विविध पदार्थ सह। स्वर्ण-दीप-माला थी
दीप्त,—गन्ध-तैल-पूर्ण, किन्तु द्युतिहीन थी।
देवी के समक्ष, यथा राकापति-तेज से
होते ज्योतिरिंगण हैं ज्योतिर्हीन रात में!
बैठी मुँह मोड़के थी इन्दुमुखी इन्दिरा
देवी सविषाद, अहा! गौड़जन-गृह में
विजय दशमी को ज्यों विजया विसर्जिता!
रख के कपोल करतल पर, सोच में
तेजस्विनी कमला थी कमलासनस्थिता।
हा! ऐसे—सुमन जैसे—मन में भी शोक क्या
होता है प्रविष्ट कुम्हलाने के लिए उसे!
मन्द मन्द गति से सुमन्दिर में सुन्दरी
मुरला प्रवेश कर, कमला के पैरों में
प्रेम से प्रणत हुई। रक्षःकुल-लक्ष्मी ने
उसको आशीष दिया और पूछा उससे—
"कैसे तुम आज यहाँ आयीं, कहो, मुरले,
प्यारी सखी मेरी कहाँ देवी हैं जलेश्वरी?
याद करती हूँ सदा उनको मैं। जब थी
उनके जलालय में, करती थीं कितना
मुझ पर प्रेम वरुणानी सती, उनकी
भूल सकती हूँ कभी क्या मैं कृपा मुरले!

आशावास मेरा जिन हरि का हृदय है,
वंचित हो उनसे बची जो रही, सो सखी
पाशी की प्रिया के स्नेह से ही मैं बची रही।
सकुशल तो हैं सखी?'' बोली तब मुरला—
''कुशल समेत हैं वे देवि, जलतल में।
सीता के लिए श्रीराम-रावण का वैर है,
युद्ध-कथा सुनने की लालसा है उनको।
अरुण पदाब्ज जहाँ रहते थे आपके
फूला यह पद्म वहाँ, सेवा में इसी लिए
पाशिप्रेयसी ने आज प्रेषित किया इसे।''
दीर्घ श्वास छोड़ सविषाद बोली कमला,
अमला-वैकुण्ठ-विभा—''हाय! सखि, क्या
कहूँ? दिन दिन हीनवीर्य्य हो रहा है रण में
दुष्टमति रावण, ज्यों तीर नीरनिधि का
तरल तरंगों के प्रहारों से सदैव ही!
चौंकोगी सुन के तुम, योद्धा कुम्भकर्ण-सा,
भीमाकृति भूधर-समान धीर, रण में
निहत हुआ है अतिकाय सह! और भी
कितने निशाचर मरे हैं, कहूँ कैसे मैं?
शूरशिरोरत्न वीरबाहु हत हो गया।
सुन पड़ता है वह क्रन्दन निनाद जो,
रो रही है अन्तःपुर-मध्य सुत-शोक से
व्याकुल हो चित्रांगदा। हो रही हूँ व्यग्र मैं
यह पुर छोड़ने को। फटता हृदय है
सुन सुन रात-दिन रोना अबलाओं का!
रोती हैं मुरले, यहाँ नित्य घर घर में,
स्वामिहीना सतियाँ त्यों पुत्रहीना माताएँ!''
पूछा मुरला ने—''महादेवि, कहिए, सुनूँ,
आज कौन शूर सजता है वीर दर्प से?''
बोली रमा—''आओ, चल देखें हम दोनों ही
आज लड़ने के लिए कौन वीर जाता है।''
करके विचार यह, मन्दिर से दोनों ही
रक्षःकुलनारियों का रूप रख निकलीं,
पहने दुकूल दिव्य। कंकण करों में थे,

चरणों में नूपुर सुनिक्वण ये करते;
कृश कटिदेश में थी कांची नेत्ररंजिनी।
मन्दिर के द्वार पर आके लगीं देखने,
चलती है श्रेणीबद्ध सेना राजपथ में,
सिन्धु की तरंगें यथा चलती हैं वायु से।
दौड़ते हैं स्यन्दन, सुचारु चक्रनेमियाँ
घूमती हैं घर्घर। तुरंग हैं झपटते
झंझा के समान। गज धरती धँसाते हैं
पीन-पद-भारों से, उछाल कर शुण्डों को,
दण्डधर मानों काल-दण्डधारी। युद्ध के
बाजे बजते हैं, यथा घन हैं घहरते;
रत्नों से खचित सौ सौ केतु हैं फहरते
दृष्टि झुलसाते हुए। दोनों ओर सोने के
सु-गृह-गवाक्षों में खड़ी हो विश्वमोहिनी
रक्षः-कुलबधुएँ प्रसून बरसाती हैं
और शुभ शब्द करती हैं। तब मुरला
इन्दुमुखी इन्दिरा की ओर देख बोली यों—
"त्रिदिव-विभव देवि, देखती हूँ भव में!
जान पड़ता है, आज आप सुरराज ही
दिव्य दल-बल से प्रविष्ट हुए लंका में।
कहिए कृपामयि, कृपा कर कि मैं सुनूँ,
कौन कौन शूर सजे आज रण-मद से?"
पद्मनेत्रा पद्मा तब बोली—"हाय! मुरले,
हो चुकी है शूर-शून्य स्वर्णलंका अब तो!
देव-नर दैत्य-त्रास थे जो वीर-केसरी,
निहत हुए हैं इस दुर्द्धर समर में।
धारण किया है चाप राम ने सु-योग में!
देखो, वह स्वर्णचूर्ण-रंथ पर जो रथी
भीममूर्ति विरूपाक्ष रक्षोदलपति है,
प्रक्ष्वेड़नधारी वीर, दुर्निवार रण में।
हाथी पर देखो, बली कालनेमि वह है,
शत्रुओं का काल, भिन्दिपाल लिये हाथ में
अश्वारूढ़ देखो, गदाधारी, गदाधर-सा,
तालतरु-तुल्य वह तालजंघा भट है!

देखो, रणमत्त वह राक्षस प्रमत्त है,
भीषण, शिला-सा वक्ष जिसका कठोर है!
और जो जो योद्धा हैं, कहाँ तक गिनाऊँ मैं
शत शत शूर ऐसे हत हुए रण में,
जैसे जब दावानल फैलता है वन में,
तुंग तरुवृन्द जल भस्मशेष होते हैं।''

पूछा मुरला ने तब—''देवेश्वरि, कहिए,
देता दिखलाई नहीं मेघनाद क्यों यहाँ
इन्द्रजित योद्धामहा, रक्षःकुल-केसरी?
निहत हुआ है वह भी क्या काल-रण में?''

बोली विष्णुवल्लभा, सु-मंजुमृदुहासिनी—
''जान पड़ता है, युवराज आज सुख से
करता विहार है प्रमोदोद्यान में, उसे
ज्ञात नहीं, मारा गया वीरबाहु रण में;
जाओ वरुणानी के समीप तुम मुरले,
कहना सती से कि मैं छोड़ इस पुर को,
सत्वर बैकुण्ठधाम जाऊँगी। स्वदोष से
लंकापति डूबता है हाय! वर्षाकाल में
स्वच्छ सरसी ज्यों पंक उठने से पंकिला
होती है, सुवर्णलंका पाप-पूर्ण हो रही!
कैसे अब और यहाँ वास करूँ मैं भला?
जाओ सखि, शीघ्र तुम मोतियों के धाम में,
विद्रुमासनस्था वरुणानी जहाँ। जाऊँ मैं
इन्द्रजित के समीप, लाऊँ उसे लंका में,
कर्म्मफल पूर्व के फलेंगे यहाँ शीघ्र ही।''

करके प्रणाम, बिदा होकर रमा से यों
मुरला मनोज्ञ दूती वायु-पथ से चली,
रत्नमय आखण्डलचापच्छटा-मण्डिता
उड़ती शिखण्डिनी है जैसे मंजु कुंज में,
उतर समुद्र के किनारे, घुसी सुन्दरी
नील जलमध्य। यहाँ केशव की कामना
कमलाक्षी रक्षःकुललक्ष्मी चली उड़के,
वासव का त्रास जहाँ वीर मेघनाद था।

शीघ्र हृषीकेश-प्रिया इन्दिरा सुकेशिनी

पहुँची, जहाँ था वीर चिर रणविजयी
इन्द्रजित। वैजयन्त धाम-सा निवास था,
सुन्दर अलिन्द में थे हीरचूड़-हेम के
खम्भे तथा चारों ओर रम्य वनराजि थी
नन्दन विपिन-तुल्य। कोकिल थे कूजते
डालों पर, गूँजते थे भौंरे, फूल फूले थे;
मर्मरित पत्र थे, वसन्त-वायु आता था;
झर झर शब्द कर झरते थे झरने।
करके प्रवेश स्वर्ण-सौध में सुदेवी ने
देखा स्वर्ण-द्वारों पर घूमते सतर्क हैं
भीमाकृति वामा-वृन्द, धनुष लिये हुए!
डुलती, निषंग-संग पीठ पर वेणी है,
चौंधा रही कौंधा-सम रत्न-राजि उसमें;
मणिमय–तीक्ष्ण फणितुल्य–शर तूण में!
उन्नत उरोजों पर सोने के कवच हैं,
पंकज समूह पर रवि-कर-जाल ज्यों।
तीक्ष्ण शर तूण में है, किन्तु तीक्ष्णतर हैं
दीर्घ-दृग-बाण। नवयौवन के मद से
घूमती हैं प्रमदाएँ, हस्तिनी ज्यों मधु में।
पृथुल नितम्बों पर कांचियाँ हैं बजतीं
और चरणों में चारु नूपुर हैं बजते।
सप्तस्वरा बीणा, वेणु, बजते मृदंग हैं;
उठती हैं गान की तरंगें सब ओर से
मिलके उन्हीं के संग, मुग्ध कर मन को।
प्रमदा वरांगनाएँ संग लिये सुख से
वीर वर करता विहार है, ज्यों चन्द्रमा
दक्ष-बाला-वृन्द लिये करता विहार है;
किं वा अयि सूर्य्यसुते, यमुने, तरंगिणी,
गोपीश्वर, गोप-बधू-संग लिये, रंग से,
होठों पर वेणु धरे, नीपतले नाच, ज्यों
तेरे रम्य तीर पर करते विहार हैं!
राक्षसी प्रभाषा धाय थी जो मेघनाद की,
रखके उसी का रूप पद्मा वहाँ पहुँची,
पहने विशद वस्त्र, यष्टि धरे मुष्टि में!

हेमासन छोड़ उठा वीर-कुल-केसरी
इन्द्रजित, पैरों में प्रणाम कर धाय के,
बोला—"किस हेतु मातः! कष्ट किया तुमने।
क्षेम तो है? मुझको सुनाओ क्षेम लंका का।"
बोली सिर चूम कर, लक्ष्मी,छद्मरूपिणी—
"हाय! वत्स, क्या कहूँ मैं हाल हेमलंका
का? तेरा प्रिय बन्धु बली वीरबाहु रण में
मारा गया! शोकमग्न हो के सुत-शोक से,
लड़ने को जा रहे हैं लंकेश्वर आप ही!"
विस्मित हो बोला महाबाहु तब उससे
"भगवति, कैसी बात कहती हो? किसने
मारा कब, मेरे प्रिय बन्धु को समर में?
मारा रात्रि-रण में था मैं ने रघुवीर को,
काटा था कटक-जाल वैरियों का बाणों से;
फिर यह बात यह विस्मय की बात, माँ!
शीघ्र कहो दास से, सुनी है कहाँ तुमने?"
रत्नाकररत्नोत्तमा बोली तब इन्दिरा—
"हाय! पुत्र, सीतापति मायावी मनुष्य है,
मर के बचा है जो तुम्हारे तीक्ष्ण बाणों से!
जाओ तुम शीघ्र, मान रक्खो निज वंश का,
रक्षःकुलचूड़ामणे, जाके इस रण में।"
क्रोध कर फूलमाला तोड़ फेंकी शूर ने,
फेंका दूर बलय सुरत्नमय सोने का,
कुण्डल पतित हो के पैरों तले आ गिरा,
उन्नत अशोक तले फूल ज्यों अशोक का
आभामय! "धिक मुझे" बोल उठा वीर यों—
"धिक है मुझे, हा! शत्रु घेरे स्वर्णलंका हैं
और बैठा हूँ मैं यहाँ नारियों के बीच में!
योग्य है मुझे क्या यही, रावण का पुत्र हूँ,
इन्द्रजित जो मैं; रथ लाओ अरे, शीघ्र ही,
मेटूँ अपवाद यह, वैरियों को मार के।"
सज्जित रथीन्द्र हुआ वीर-वेष-भूषा से,
तारक-वधार्थ मानों कार्तिकेय सेनानी;
अथवा वृहन्नला का वेष त्याग करके,

गो-धन उबारने को अर्जुन, शमीतले।
मेघ-ऐसा स्यन्दन था, चक्र चपला-से थे;
केतु इन्द्र-चाप-सा था, आशुगति अश्व थे।
रथ पर दर्पयुत ज्यों ही चला चढ़ने
वीरचक्रचूड़ामणि, सुन्दरी प्रमीला ने
धर पति-पाणि युग—मानों स्वर्णवल्ली ने
वृक्षकुलशेखर का आलिंगन करके,
रोकर कहा था—"प्राणनाथ, इस दासी को
छोड़ कहाँ जाते हो? तुम्हारे बिना प्राण ये
धारण करूँगी किस भाँति मैं अभागिनी?
हाय! स्वामी, गहन अरण्य में गजेन्द्र के
पैरों में लिपटती है आप ही जो लतिका,
देकर न ध्यान रस-रंग पर उसके
जाता है मतंग, तो भी, रखता है उसको
अपने पदाश्रय में यूथनाथ। फिर क्यों
त्यागते हो तुम गुण-गेह, इस दासी को?"
बोला हँस मेघनाद—"इन्द्रजित को सती,
जीत, जिस बन्धन से बद्ध किया तुमने,
खोल सकता है उसे कौन? शुभे, शीघ्र मैं
लौट यहाँ आऊँगा, तुम्हारी शुभवांछा से,
वैरियों को मारके। बिदा दो विधुवदने!"
घोर-रव-युक्त रथ वायु-पथ में उठा,
हेम-पक्ष विस्तारित करके मैनाक ज्यों,
नभ में उजेला कर पूर्ण बल से उड़ा।
प्रत्यंचा चढ़ाकर, सरोष महा वीर ने,
टंकारित चाप किया; मानों उड़ मेघों में
गरजा गरुड़, कँपी लंका, कँपा सिन्धु भी!
सजता है रावण रणार्थ महादर्प से,
बजते हैं वीर-वाद्य, गज हैं गरजते;
घोड़े हींसते हैं, शूरवीर हैं, हुंकारते;
उड़ते हैं कौशिक-पताका-पट, व्योम में
उठती है कांचनीय कंचुकच्छटा-घटा।
आया इतने में वहाँ इन्द्रजित वेग से।
गरजी सगर्व सेना देख वीर वर को।

करके प्रणाम पितृ-चरणों में पुत्र ने,
हाथ जोड़ के यों कहा—"तात, मैंने है सुना,—
रण में, मर के भी, है राघव नहीं मरा?
जानता नहीं मैं यह माया! किन्तु आज्ञा दो,
कर दूँ निर्मूल मैं समूल उसे आज ही।
आग्नेयास्त्र-द्वारा महाराज, भस्म कर दूँ
और पवनास्त्र से उड़ाऊँ क्षणमात्र में,
किं वा बाँध लाऊँ अभी राजपदपद्मों में।"

छाती से लगा के, सिर चूम के कुमार का,
बोला स्वर्णलंकाधिप, धीर, मृदुस्वर से—
"रक्षः-कुलकेतु, अवलम्ब रक्षोवंश के
तुम हो हे वत्स, इस काल-रण में तुम्हें
वार वार भेजने को चित्त नहीं चाहता।
मुझ पर वाम हैं विधाता, कब किसने,
पानी में शिलाएँ पुत्र, उतराती हैं सुनी?
किसने सुना है, लोग मर कर जीते हैं?"

वासवविजेता फिर बोला वीर दर्प से—
"क्या है वह क्षुद्र नर, डरते हो उसको
तुम हे नृपेन्द्र? इस किंकर के रहते,
जाओगे समर में जो, फैलेगा जगत में
तो यह कलंक, पिता, वृत्रहा हँसेगा हा!
रुष्ट होंगे अग्निदेव। राघव को रण में,
मैं दो वार पहले हरा चुका हूँ; हे पितः!
एक बार और मुझे आज्ञा दो कि देखूँ मैं,
बचता है वीर इस वार किस यत्न से!"

रक्षोराज बोला—"बली भाई कुम्भकर्ण
को, भय से, अकाल में जगाया हाय! मैंने
था; सिन्धु के किनारे पड़ा देखो, देह उसका
पृथ्वी पर, वज्र-भग्न मानों शैल-शृंग है,
अथवा विशाल शाल। तब यदि युद्ध की
इच्छा है नितान्त तुम्हें, तो हे पुत्र, पहले
पूजो इष्ट देव को, निकुम्भला में यज्ञ को
सांग करो; वीरमणे, सेनापति-पद पै
करता प्रतिष्ठित हूँ तुमको मैं आज ही

देखो, दिननाथ अब अस्ताचलगामी हैं,
लड़ना सबेरे वत्स, राघव से रण में।''
कहके यों रावण ने, जाह्नवी के जल से
ज्यों ही अभिषेक किया विधि से कुमार का,
त्यों ही वर वन्दिजन वीणाध्वनि करके,
प्रेमानन्द-पूर्ण लगे करने यों वन्दना–
''तेरे नयनों में अयि हेमपुरी, आँसू हैं,
मुक्तकेशी हो रही तू हाय! शोकावेश से;
भूपर पड़ा है रत्न-मुकुट मनोहरे,
और राज-आभरण तेरे राजसुन्दरी!
उठ सति, शोक यह दूर कर अब तू;
उदित हुआ है वह देख, रक्षोवंश का
भानु; तेरी दुःखनिशा बीती, उठ रानी, तू।
देख, वह भीम वाम कर में कोदण्ड तू,
जिसके टंकार से है वैजयन्त धाम में
पाण्डुगण्ड आखण्डल! देख तूण, जिसमें
पाशुपति से भी घोर आशुगति अस्त्र हैं!
गुणि-गण-गर्व गुणी, वीर-कुल-केसरी,
कान्ता-कुल-कान्त-रूप, देख इन्द्रजित को!
धन्य रानी मन्दोदरी, धन्य रक्षोराज है
नैकषेय! धन्य लंका, वीर-पुत्र-धात्री, तू!
व्योमजा प्रतिध्वनि सुनो हो, व्योम-वाणी-सी,
कहो सब, अरिन्दम इन्द्रजित युद्ध को
सजता है। काँप उठें भय से शिविर में
राघव, विभीषण–कलंक रक्षःकुल का;
दण्डकअरण्यचारी और क्षुद्र प्राणी जो।''
रक्षोरणवाद्य बजे, रक्षोगण गरजे;
पूर्ण हुई हेमलंका जयजयकार से!

इति श्री मेघनाद-वध काव्ये
अभिषेको नाम
प्रथमः सर्गः

द्वितीय सर्ग

दिनमणि अस्त हुआ; धेनु-धूलि आ गयी—
उन्नत ललाट पर एक रत्न पहने।
फूल उठे कुमुद सरों में, आँखें मूँद लीं
विरस वदन वाली नलिनी ने; नीड़ों में
विहग प्रविष्ट हुए, कल रव कर के;
हम्बारव-युक्त गायें आने लगीं गोठों में।
चारुचन्द्र-तारा-युक्त आयी हँस यामिनी;
चारों ओर गन्धवह मन्द गति से बहा
सुस्वन से, सब को विलासी ने बता दिया—
कौन कौन फूल चूम कौन धन पाया है।
आयी तब निद्रा देवी; श्रान्त शिशुकुल ज्यों—
लेता है विराम जननी के क्रोड़-नीड़ में,
जलथलचारी सब प्राणियों ने देवी के
चरणों के आश्रम में पाया सु-विश्राम त्यों।
उतरी शशिप्रिया त्रियामा सुरपुर में।
रत्नासनासीन हुए देवपति, देवों की
सु-प्रभा सभा में, वाम ओर बैठी इन्द्राणी
इन्दुमुखी। रत्नमय राजच्छत्र सोने के,
दोनों के सिरों पर सु-शोभित हुए वहाँ।
रत्नों से खचित चारु चामर सु-यत्न से
दासियाँ डुलाने लगीं, तोल गोल बाँहों को।
आने लगा मन्द वायु नन्दन विपिन का।
दिव्य नाद वाले देव-वाद्य बजने लगे;
मूर्तिमती रागिणी समेत सब रागों ने
आकर आरम्भ किया गान। रम्भा उर्वशी,

चित्रलेखा आदि अप्सराएँ लगी नाचने,
शिंजित सहित हाव-भाव व्यक्त करके,
देवों को रिझाती हुई। सोने के सु-पात्रों में
सुगुणी गन्धर्व-गण लाने लगे यत्न से
मधुर-सुधारस, सुगन्धि से भरा हुआ!
कोई देव-ओदन विनोदकर वस्तुएँ—
चन्दन, कपूर कोई, कोई मृगमद त्यों,
कुंकुम, अगर कोई, कोई पारिजात की
दिव्य-पुष्प-माला गूँथ लाने लगे यत्न से।
देवों के समेत देवराज सुख-मग्न हैं,
मोदित है वैजयन्त; ऐसे अवसर में,
करके प्रदीप्त-सा प्रभा से सुरपुर को,
आयी वहाँ रक्षःकुल-राजलक्ष्मी। इन्द्र ने
उठ के ससम्भ्रम, प्रणाम किया पद्मा को।
आशीर्वाद दे के, बैठ स्वर्ण-सिंहासन पै,
पद्मदृषी, पद्मालया, विष्णुवक्षोवासिनी
बोली जिष्णु से यों—"सुरराज, आज आयी मैं
क्यों तुम्हारे पास, ध्यान देकर सुनो उसे।"
बोला तब वासव—"हे सृष्टिशोभे, सिन्धुजे,
लक्ष्मि, लोकलालिनि, तुम्हारे पद लाल थे
लोक-लालसा के लक्ष्य हैं इस त्रिलोकी में।
जिस पै कृपामयि, तुम्हारी कृपाकोर हो,
उसका सफल जन्म होता है तनिक में।
हे माँ, सुख-लाभ यह आज इस दास ने
पाया किस पुण्य-बल से है? कहो, दास से।"
देवी ने कहा—"मैं चिरकाल से हूँ लंका में,
पूजता है रावण सयत्न मुझे रत्नों से।
इतने दिनों के बाद वाम हुआ विधि है
उस पर, हाय! वह पापी कर्म्म-दोष से
डूबता है अब निज वंश युत; फिर भी,
छोड़ नहीं सकती उसे मैं। क्योंकि वन्दी क्या
छूट सकता है बिना कारागृह के खुले?
जीवित है रक्षोराज जब तक, बद्ध-सी
तब तक हूँ मैं सुरराज, उसके यहाँ।

पुत्र उसका है मेघनाद, तुम उसको
खूब जानते हो। अब एक वही लंका में
वीर बचा, मारे गये और सब युद्ध में!
विक्रम में सिंह-सम, आक्रमण रण में
कल ही करेगा वह राम पर; उसको
बरण किया है फिर सेनापति-पद पै
रावण ने। राघव हैं प्यारे देवकुल को;
सोचो शक्र, क्यों कर बचा सकोगे उनको?
सांग कर यज्ञ निज, दम्भी मेघनाद जो
युद्ध में प्रवृत्त हुआ, सच कहती हूँ मैं,
तो पड़ेंगे सीतापति विषम विपत्ति में।
मन्दोदरी-नन्दन अजेय है जगत में;
पक्षिकुल में है बलज्येष्ठ वैनतेय ज्यों,
शूर-श्रेष्ठ रक्षःकुल में है मेघनाद त्यों।''

यह कह मौन हुई केशव की कामना
कमला; अहा! ज्यों रुके वीणा बजती हुई
मधुर स्वरों से, सब राग-रागिणीमयी,
प्राणों को प्रफुल्ल कर। सुन उस वाणी को,
निज निज कर्म्म सब भूल गये सहसा;
मंजरित कुंज में विहंग ज्यों, वसन्त में,
सुनकर कोयल का शब्द, भूल जाते हैं।

बोला तब शक्र—''इस वक्र कुसमय में,
मातः! विश्वनाथ बिना और कौन रक्खेगा
राघव को? दुर्निवार रावणि है रण में,
नाग नहीं डरते हैं जितना गरुड़ को,
डरता हूँ उतना उसे मैं! इस वज्र को,
वृत्रासुर-मस्तक विचूर्ण हुआ जिससे,
विमुख किया है आयुधों से उस योद्धा ने!
कहते इसीसे सब इन्द्रजित हैं उसे।
सर्व विजयी है वीर, सर्व शुचि वर से।
आज्ञा दास को हो, शीघ्र जाऊँ शिव-धाम मैं।''

बोली यों उपेन्द्रप्रिया, लक्ष्मी, सिन्धुनन्दिनी—
''जाओ सुरराज, तब जाओ त्वरा करके।
कैलासादि-शृंग पर, चन्द्रचूड़ शिव के

चरण-सरोजों में निवेदन करो, अभी
जाके यह हाल तुम। कहना कि हे प्रभो!
धार नहीं सकती है भार अब वसुधा,
रोती है सदैव सती, वासुकि व्यथित है।
वंशसह रक्षोराज ध्वंस जो न होगा तो
यह भवमण्डल रसातल को जायगा।
लक्ष्मी पर लाड़ है बड़ा ही विरूपाक्ष का;
कहना, वैकुण्ठपुरी छोड़े, बहु काल से,
लंकापुर में है वह, बैठ के अकेले में
सोच करती है कितना हा! एक बार ही
भूल गये भोलानाथ, कैसे उसे सहसा?
कौन पिता दुहिता को पति-गृह से भला
दूर रखता है? शचीकान्त, यह पूछना।
पाओ जो न त्र्यम्बक को, अम्बिका के पैरों में
करना निवेदन ये बातें सब।'' कह यों,
वासव से, इन्दुमुखी इन्दिरा बिदा हुई।
केशव की कामना, सुकेशी, व्योम-पथ से
नीचे को गयी यों, अहा! जैसे नील नीर में
गिरने से, उसमें उजेला करती हुई,
सुन्दर सुवर्ण-मूर्ति पैठ जाय तल में!

लाया रथ मातलि; शची की ओर देख के,
बोला शचीकान्त मृदु वाणी यों, अकेले में—
''शम्भु-गृह देवि, चलो मेरे संग तुम भी;
होता है सुगन्धिसह दूना मान वायु का!
होती है मृणाल रुचि विकच सरोज से।''
सुन प्रिय वाणी यह, हँस के नितम्बिनी,
पति-कर थाम कर, बैठी दिव्य रथ में।

स्वर्ग के सुवर्ण-द्वार पर रथ पहुँचा,
खुल गया द्वार स्वयं मधुर निनाद से
तत्क्षण ही! निकल सवेग उठा व्योम में
देवयान, सारा जग जाग पड़ा चौंक के,
उदय विचार उदयाद्रि पर भानु का!
बोल उठा भृंगराज, पक्षी सब चहके;
पूर्ण हुआ कुंज-पुंज प्राभातिक गान से!

छोड़ फूल-शय्या, कुलबधुएँ सु-लज्जा से,
उठ कर शीघ्र गृह-कार्य्य करने चलीं!
मानस-समीप शिव-शैल शोभायुक्त है;
भव का भवन भव्य शृंग पर उसके,
माधव के शीश पर मानों मोरपंख है!
सु-श्यामांग शृंगधर, स्वर्ण-पुष्प-श्रेणी से,
शोभित है, पीताम्बरधारी घनश्याम-सा!
निर्झर-झरित वारि-राशि से जहाँ तहाँ
चन्दन से चर्चित शरीर ज्ञात होता है!
छोड़ कर स्यन्दन, सुरेश्वरी के संग में,
पैदल प्रविष्ट हुआ शक्र शिव-धाम में।
स्वर्णासनासीन, राजराजेश्वरी-रूप में,
थीं वहाँ भवानी, भव-भार-भय-भंजिनी।
चामर डुलातो विजया थी, राज-छत्र त्यों
धारण किये थी जया। भव के भवन का
विभव बखान सके कैसे कवि? हाय रे!
भावुको, विचार देखो, मन में तुम्हीं उसे।
पूजा भक्ति-भाव से की शक्ति के पदाब्जों की,
शक्र ने शची के संग। आशीर्वाद दे के यों
पूछा अम्बिका ने—"कहो, देव, है कुशल तो?
आज तुम दोनों यहाँ आये किस हेतु से?"
कहने लगा यों वज्रपाणि हाथ जोड़ के—
"ज्ञात क्या नहीं है तुम्हें? मातः! इस विश्व में?
देवद्वषि रावण ने, व्याकुल हो रण से,
बरण किया है फिर आज मेघनाद को
सेनापति-पद पै। परन्तप प्रभात ही
रण में प्रविष्ट होगा, पूज इष्ट देव को;
लेकर अभीष्ट वरदान वीर उससे।
अविदित शौर्य्य-वीर्य्य उसका नहीं है माँ!
रक्षःकुलराजलक्ष्मी, वैजयन्त धाम में
आकर, सुना गयी हैं हाल यह दास को—
धार नहीं सकती है भार अब वसुधा,
रोती है सदैव सती; वासुकि व्यथित है।

वे भी आप लंकापुर छोड़ने को व्यग्र हैं।
आपके पदों में यह वृत्त पहुँचाने को
देवी ने निदेश दिया दास को है, अन्नदे!
वीर रघुवंशमणि देव-कुल-प्रिय हैं।
कौन है परन्तु रथी ऐसा देवकुल में
जूझे रणभूमि में जो रावणि से? अम्बिके!
विफल किया है विश्वनाशी वज्र उसने,
जग में इसीसे ख्यात इन्द्रजित वह है!
राघव की रक्षा किस यत्न से करोगी, सो
सोच देखो, कात्यायनि, आपकी कृपा न जो
होगी तो करेगा कल राम-हीन जग को
दुर्द्धर दुरन्त मेघनाद, महा मंगले।''
उत्तर उमा ने दिया—''शैव-कुल-श्रेष्ठ है
रावण, है स्नेह बड़ा उस पर शूली का;
उसका अनिष्ट, हे सुरेन्द्र, मुझसे कभी
सम्भव है? तापसेन्द्र तप में निमग्न हैं;
यह गति देवपति, लंका की इसी से है।''
बोला फिर वासव यों, दोनों हाथ जोड़के,—
''परम अधार्म्मिक है लंकापति, देवों का
द्रोही; सोच देखो, हे नगेन्द्रनन्दिनी! तुम्हीं।
द्रव्य हरता है महा पापी जो दरिद्रों का,
योग्य है उसी पर तुम्हारी कृपा मातः! क्या?
सत्य रखने को निज तात का, भिखारी हो,
आकर प्रवेश किया निविड़ अरण्य में,
राज-सुख-भोग छोड़ धर्म्मशील राम ने।
एक मात्र रत्न था अमूल्य पास उनके,
रखते थे उसको वे जैसे यत्न करके,
कैसे यह दास कहे? हाय! उसी रत्न को
हरण किया है डाल माया-जाल, दुष्ट ने!
याद करते ही चित्त जलता है क्रोध से।
तृण के समान मानता है सब देवों को
माँ! वह, बली हो सदाशिव के प्रसाद से!
परधन-लोभी, पर-दार-लुब्ध पापी है।
फिर किस हेतु, (नहीं आता है समझ में)

आपकी कृपा है उस क्रूर पै? कृपामयी!''
नीरव सुरेश हुआ; बोली यों सुरेश्वरी—
वीणा-तुल्य वाणी से, मनोज्ञ मृदुस्वर में—
''हृदय विदीर्ण नहीं होता देवि, किसका
जानकी का दुःख देख? वे अशोक वन में—
(पिंजर में जैसे कुंज-संगिनी विहंगिनी!)
रोती रहती हैं दिन-रात सती, शोक से।
प्राणाधार पति के वियोग में वरानना।
सहती हैं जैसी मनोवेदना सदैव ही,
अविदित है क्या इन अरुण पदाब्जों में?
दण्डित करेगा कौन पाखण्डी अधम को,
दोगी जो न दण्ड तुम्हीं? दुष्ट मेघनाद को
मार कर, दो माँ! फिर सीता सीतापति को।
दासी का कलंक मेटो हे शशांकधारिणी,
मरती हूँ लाज से मैं सुन के जहाँ तहाँ—
राक्षस हराता रण में है त्रिदिवेश को!''
हँस के उमा ने कहा—''रावण के प्रति
द्वेष तब जिष्णु! तुम मंजुकेशिनी शची,
तुम भी हो व्यग्र मेघनाद-वध के लिए।
करते हो दोनों अनुरोध तुम मुझसे
स्वर्णलंका-नाश-हेतु। मेरा साध्य है नहीं
साधन करूँ जो यह कार्य्य। विरूपाक्ष से
रक्षित है रक्षोवंश! छोड़ कर उनको
कौन कर सकता है पूर्ण यह कामना
वासव, तुम्हारी? मग्न हैं वे योगध्यान में।
शृंग एक भीषण है—योगासन नाम का,
सघन घनों से घिरा; बैठे हैं अकेले वे
योगिराज आज वहाँ। कैसे जा सकूँगी मैं?
उड़ने में अक्षम है पक्षिराज भी वहाँ!''
बोला फिर आदितेय—अति नतभाव से—
''हे माँ, मुक्तिदायिनि, तुम्हारे बिना किसकी
शक्ति है जो जावे पास भीम त्रिपुरारि के?
राक्षसों का नाश कर रक्षा करो लोकों की,
वृद्धि करो धर्म्म-महिमा की, भार भूमि का

दूर करो; वासुकि को सुस्थिर करो तथा
राघव की रक्षा करो देवि, जगदम्बिके!''
शक्र ने सती से प्रार्थना की वार वार यों।
गन्धामोद फैला वहाँ ऐसे ही समय में,
छाई शंख-घंटा-ध्वनि मंगलनिनाद से;
जैसी ध्वनि आती है सुदूर कुंज-वन से,
पिक-कुल सम्मिलित हो के जब गाता है!
कम्पित सुवर्णासन होने लगा! देवी ने
पूछा विजया से तब—''कौन, किस हेतु से,
पूजा करता है सखि, मेरी असमय में?''
मन्त्र पढ़, लिख कुछ खड़िया से पट्टी पै,
गणना की विजया ने और कहा हँस के—
''पूजते हैं देवि, तुम्हें दाशरथि लंका में,
लिख के सिन्दूर से सु-वारि-पूर्ण घट पै,
ये पुनीत पाद-पद्म पूज रहे राम हैं,
नील नीरजों को अंजली दे भक्तिभाव से;
ज्ञात हुआ गणना से। अभये, करो उन्हें
अभय प्रदान। पूर्ण भक्त वे तुम्हारे हैं;
तारो तुम संकट से उनको हे तारिणी!''
स्वर्ण के शुभासन से उठ के महेश्वरी,
विजया सखी से इस भाँति कहने लगी—
''देव-दम्पती की करो सेवा तुम विधि से;
योगासनासीन जहाँ विकट शिखर पै,
ध्यान-भग्न धूर्जटि हैं, विजये, मैं जाऊँगी।''
कह के सखी से यह, गौरी गजगामिनी,
स्वर्णागार में हुई प्रविष्ट। पुरन्दर को,
इन्द्राणी-समेत बिठला के शुभासन पै;
सादर सु-भाषण से तुष्ट किया आली ने।
प्राप्त किया दोनों ने प्रमोद, पूर्ण प्रीत से।
हँस के जया ने हार ताराकार फूलों का
डाल के शची के कण्ठ मध्य, मंजु वेणी में
चिर रुचि और चिर विकच सजा दिये
पुष्प-रत्न; चारों ओर बाजे बजने लगे,
नाच कर गाने लगीं वामाएँ विनोदिनी;

मोहित कैलास-संग तीनों लोक हो गये!
हँस उठे नेत्र मूँदे बच्चे मातृक्रोड में,
मधुर निनाद वह स्वप्न में ही सुन के।
चौंक उठी निद्राहीन चिन्तित विरहिणी
प्रिय का चरण-शब्द द्वार पै विचार के!
कोकिल-समूह हुआ नीरव निकुंजों में।
योगि-गण सोच यह उठके खड़े हुए—
इष्टदेव आये हैं, अभीष्ट वर देने को!
करके प्रवेश हेमागार में भवानी ने,
सोचा—"किस भाँति आज भेट भव से करूँ?"
क्षण भर सोचकर याद किया रति को।
मन्मथ के साथ जहाँ मन्मथविमाहिनी,
सुख से विहार कुंज-वन में थी करती,
इच्छा गिरिजा की वहाँ पहुँची निमेष में,
परिमल-पूर्ण वायु-लहरी के रूप में।
अंगुलि के स्पर्श से सितार के सु-तार-सा
काम-कामिनी का मन नाच उठा आप ही!
पहुँची तुरन्त वह कैलासाद्रि धाम में।
खिल के निशान्त में ज्यों झुकती है नलिनी,
दिव्य दिननाथ-दूती ऊषा के पदों में, त्यों
गौरी के पदों में झुकी मीनध्वज की प्रिया।
दे के शुभाशीष कहा अम्बिका ने हँस के—
तप में हैं मग्न आज योगासन श्रृंग पै
योगिराज, भंग हो समाधि किस ढंग से
उनकी वराननेे! बताओ तुम मुझ को?"
नम्रता से उत्तर में बोली यों सुकेशिनी—
"देवि मोहिनी, की मूर्ति धारण करो। मुझे
आज्ञा दो, सजाऊँ देह दिव्य अलंकारों से;
भूल सब जायँगे पिनाकी तुम्हें देख के,
देख पुष्पकुन्तला मही को मधु मास में,
होता आत्मविस्मृत वसन्त जिस भाँति है।"
कह के यों रति ने, सुगन्धि-पूर्ण तैल से
केश परिष्कार कर गूँथी कान्त कवरी,
हीरकादि रत्नों के विभूषण सजा दिये;

लेप कर चन्दन, कपूर, कुंकुमादि का,
पहनाये पट्टवस्त्र रत्नों से जड़े हुए;
लाक्षारस ले के किया रंजित पदाब्जों को।
सज्जित भवानी हुईं मूर्ति-भवमोहिनी;
कान्ति बढ़ती है ज्यों सु-मार्जित सुवर्ण की,
दीप्ति हुई दूनी त्यों उमा की उस रूप में!
चन्द्रमुख देखा तब दर्पण में देवी ने,
फुल्ल पद्मिनी ज्यों देखती है स्वच्छ जल में
अपनी अपूर्व आत्मा। रति को निहार के
बोली सती पार्वती—"पुकारो निज नाथ को।"
रति ने तुरन्त ही पुकारा रतिनाथ को,
(जैसे ऋतुपति को पुकारती है कोकिला!)
आया पुष्पधन्वा द्रुत दौड़ के, प्रवासी ज्यों
हर्ष युत आता है स्वदेश-गान सुन के!
शैलराजनन्दिनी यों बोलीं "चलो, शीघ्र ही
मेरे साथ हे मनोज, योगिराज हैं जहाँ
योग में निमग्न वत्स, जाना है मुझे वहाँ।"
मंजु मायानन्दन सदैवानन्दमय भी
मदन सभय बोला अभया के पैरों में—
"देती हो निदेश माँ! क्यों ऐसा इस दास को?
याद कर पूर्वकथा मरता हूँ भय से!
देह जब छोड़ सति, मूढ़ दक्ष-दोष से,
जन्म तुमने था लिया शैलराज-गृह में,
विश्वनाथ विश्व-भार छोड़ तव शोक में
हो गये थे ध्यान-मग्न; देवपति ने मुझे
आज्ञा ध्यान-भंग करने के लिए दी थी माँ!
थे जहाँ त्रिनेत्र तपोमग्न, मैं कु-लग्न में
पहुँचा वहाँ हा! पुष्पधन्वा लिये हाथ में;
कु-क्षण में छोड़ा पुष्प-बाण। भीमनाद से
टूट पड़ता है मृगराज ज्यों गजेन्द्र पै,
ग्रास किया त्यों ही मुझे आकर कृशानु ने,
जिसका निवास है भवानि, भव-भाल में।
कितना सहा था ताप, हाय! माँ, बताऊँ मैं
कैसे उसे? मैंने घोर हाहाकार करके,

तत्क्षण पुकारा इन्द्र, चन्द्र, वरुणादि को;
कोई भी न आया, भस्म हो गया तुरन्त मैं!
भग्नोद्यम हूँ मैं देवि, भय से भवेश के;
प्रार्थना है, क्षेमंकरि, दास को क्षमा करो।''
धैर्य्य उसे देकर उमा ने कहा हँस के—
''निर्भय अनंग, मेरे संग चलो, रंग से,
चिरविजयी हो तुम मेरे वरदान से।
तुमको स्वतेज से था भस्म किया जिसने
पूजेगा कृशानु वही आज तुमको, सुनो,
प्राणनाशकारी विष औषध के रूप में,
प्राण रखता है, यथा विद्या के प्रभाव से।''
कर के प्रणाम तब गौरी के पदाब्जों में,
काम ने कहा यों—''तुम जिस पै प्रसन्न हो,
अभये, त्रिलोक में है कौन भय उसको?
किन्तु है निवेदन पदाब्ज में भवेश्वरी,
कैसे इस मन्दिर से, बतलाओ दास को,
तुम निकलोगी इस मोहिनी की मूर्ति में?
विश्व मद-मत्त होगा, एक ही मुहूर्त में,
देख माँ, तुम्हारी यह मंजु रूपमाधुरी।
हित में अहित होगा, माता, सच मानिए।
देव-दानवों ने जब मथ कर सिन्धु को,
अमृत किया था प्राप्त, दुष्ट दिति पुत्रों ने
झगड़ा मचाया था सुधा के लिए देवों से;
आये तब मोहिनी की मूर्ति में रमेश थे,
देख हृषीकेश को अपूर्व उस वेष में,
दास के शरों से ज्ञान खोया था त्रिलोकी ने!
आशा कर अधर-सुधा की देव-दैत्यों ने,
छोड़ा था सुधा का लोभ; नाग-गण थे झुके,
वेणी को विलोक पृष्ठदेश पर, लज्जा से;
अचल हुआ था आप मन्दर निहार के
उन्नत उरोज युग्म! आती है मुझे हँसी,
आती जब याद मुझे है माँ, उस बात की!
होती ताम्रपत्र की है सोने के मुलम्मे से
आभा जब ऐसी तब देवि, शुद्ध सोने की

सोच देखो, कान्ति कैसी होगी मनोहारिणी!''
कहते ही काम के यों, अम्बिका ने माया से,
सृजन सुवर्ण-मेघ करके, छिपा लिये
अपने अपूर्व अंग। मानों दिवसान्त में
मूँद लिया नलिनी ने मंजु मुख अपना!
किं वा छिपी अग्नि-शिखा हँस कर भस्म में!
किं वा चन्द्रमण्डल में चक्र-द्वारा शक्र ने
श्रेष्ठ सुधा-रत्न किया वेष्टित सुयत्न से!
द्विरद-रदों से बने श्रेष्ठ गृह-द्वार से
निकलीं नगेन्द्रवाला, मेघावृता ऊषा-सी!
साथ था मनोज पुष्प-धन्वा लिये हाथ में,
पीठ पर डाले तूण, पूर्ण पुष्प-बाणों से,
मानों फुल्ल पंकज स-कण्टक मृणाल में।
शंकर के शैल पर, विदित त्रिलोकी में,
भीम, भृगुमान, उच्च योगासन शृंग है;
प्राप्त हुई गौरी गजराज-गति से वहाँ।
भैरव निनादी नीर तत्क्षण—गुफाओं में
रुद्ध था जो चारों ओर—नीरव-तुरन्त ही
हो गया, ज्यों नीरकान्त शान्ति-समागम से
शान्त हो गया हो। हुई दूर मेघ-मण्डली,
भागता है जैसे तम ऊषा के सु-हास से
सामने दिखायी दिये योगिराज देवी को,
मग्न तप-सागर में, वाह्यज्ञान-शून्य थे;
लोचन थे बन्द, भस्म-भूषित शरीर था।
हँस के मनोज से यों बोली मंजुहासिनी—
''छोड़ो निज पुष्प-शर।'' देवी के निदेश से,
बैठ घुटनों के बल, चाप में टँकोर दे,
छोड़ा शर सम्मोहन शूली पर शूर ने!
शिहर उठे वे, जटाजूट हुआ सिर का
आलोड़ित जैसे वृक्ष-वृन्द भूमि-कम्प में
चड़ मड़ शब्द कर हिलता है शृंग पै।
हो गये अधीर हर, गरजा ज्वलित हो,
धक धक करके करालानल भाल का!
जा छिपा तुरन्त वक्षस्थल में भवानी के

होकर सभीत शम्बरारि, सिंह-सुत ज्यों
छिपता है सिंहनी के क्रोड़ मध्य भय से,
होता जब घोर घन-घोष और दामिनी
दृष्टि झुलसाती है कराल काल-वह्नि-सी!
नेत्र खोल शम्भु उठे योगासन छोड़ के,
माया-मेघ-आवरण दूर किया देवी ने।
मोहित हो मोहिनी के रूप से, सहर्ष यों
बोले विभु—"आज यहाँ निर्जन में क्यों तुम्हें
एकाकिनी देखता हूँ हे गणेन्द्रजननी!
किंकर तुम्हारा कहाँ शंकरि, मृगेन्द्र है?
विजया, जया है कहाँ?" गौरी मंजुभाषिणी
हँस कर बोलीं—"इस दासी को बिसार के
बहुत दिनों से नाथ तुम हो अकेले ही,
आयी हूँ इसीसे यहाँ, चरण-सरोजों के
दर्शन की आशा किये योगिराज, आज मैं।
पति के समीप निज संगिनी लिये हुए
जाती सतियाँ हैं कभी? एकाकिनी जाती है
पति के समीप चक्रवाकी तमसान्त में।"
आदर के साथ, मुसकाकर महेश ने,
बैठाया महेश्वरी को मृदु मृगचर्म पै।
तत्क्षण ही फूले सब ओर फूल, गूँज के
आये अलि-वृन्द मकरन्द-लोभी मत्त हो;
मलय समीर बहा, कूक उठीं कोयलें,
नैशहिम-द्वारा धौत कुसुमों की वृष्टि-से
आच्छादित शृंग हुआ! गौरी के हृदय में
(मनसिज के योग्य और अच्छा वास इससे
कौन होगा!) बैठ कर कौतुक से काम ने
छोड़ा शर-जाल, चाप टंकारित करके;
प्रेम-मत्त हो गये महेश महामोद से!
रख कर लज्जा-वेष आ के ग्रसा राहु ने
चन्द्रमा को, हँस के कृशानु छिपा भस्म में!
मोह कर मोहिनी को सम्मोहन मूर्ति से
शंकर सहास्य बोले—"जानता हूँ सब मैं,
जो तुम्हारे मन में है, कैलासाद्रि धाम में

इन्द्राणी समेत किस हेतु इन्द्र आया है;
पूजते हैं रामचन्द्र क्यों तुम्हें अकाल में?
पूर्ण भक्त रावण है मेरा शैलनन्दिनी,
डूबता है किन्तु हाय! दुष्ट कर्म-दोष से,
होता है विदीर्ण उर याद करके इसे।
देव हो कि दानव हो, शक्ति ऐसी किसकी,
रोक सके जो हे देवि, कर्मगति पूर्व की?
भेजो झट इन्द्र के समीप शिवे, काम को,
शीघ्र माया देवी के निकेतन में जाने की
आज्ञा उसे ईश्वरि, दो, माया के प्रसाद से
मारेंगे लक्ष्मण शूर मेघनाद वीर को।''

दौड़ गया मीनकेतु, नीड़ छोड़ उड़के
जाता है विहंगराज देख वार वार ज्यों
उस सुख-धाम ओर! स्वर्ण वर्ण के घने,
सुरभि समीरारूढ़, राशि राशि मेघों ने,
कुमुद, कमल, जाति, पारिजात आदि की
मन्द गन्धवाहप्रिया पुष्प-वृष्टि करके,
घेर लिया चारों ओर आके, पंक्ति बाँध के—
देव-देव महादेव और महादेवी को।

हस्तिदन्तनिर्मित सुवर्णमय द्वार पै
मदनविमोहिनी खड़ी थी विधुवदनी,
आँसू भरे आँखों में, अधीर पति के बिना!
आ पहुँचा काम वहाँ ऐसे ही समय में।
बाँहों को पसार, बाँध आलिंगन-पाश में,
रति को प्रसन्न किया प्रेमालाप करके
मन्मथ ने। सूख गये अश्रु-विन्दु शीघ्र ही,
हिम-जल-विन्दु शतदल के दलों के ज्यों
पाके उदयाद्रि पर दर्शन दिनेश के।
पाके प्राणधन को, मिला के मुख मुख से,
(सरस वसन्त में विमुग्ध शुक-सारी ज्यों)
बोली प्रिय वाणी से प्रिया यों—''है बचा लिया
दासी को, समीप आके शीघ्र इस दासी के
आज रतिरंजन! कहूँ मैं भला किससे,
सोच करती थी यहाँ कितना? सदैव ही

काँपती हूँ नाम से ही मैं तो वामदेव के,
याद कर पूर्व कथा! हिंसक दुरन्त हैं
शूलपाणि! नाथ, तुम्हें मेरी ही शपथ है,
जाना मत उनके समीप तुम भूल के
अब कभी।'' हँस कर पंचबाण बोला यों–
''भानु के करों से कौन आश्रम में छाया के
डरता है कान्ते? चलो, देवपति हैं जहाँ।''
बैठा जहाँ वासव था आसन पै सोने के,
जाके वहाँ मन्मथ ने, नत हो, कथा कही।
सुन के सुरेन्द्र रथी, रथ पर बैठ के,
माया के सदन ओर शीघ्र गति से गया।
अग्निमय तेज वाले वाजि दौड़े व्योम में,
हिलती नहीं थी कलगी भी; रथ-चक्रों ने
घोरतम घोष किया, चूर्ण कर मेघों को।
कुछ क्षण में ही सहस्राक्ष वहाँ पहुँचा
माया का जहाँ था वास। छोड़ रथ वर को,
पैदल प्रविष्ट हुआ मन्दिर में मघवा।
कौन कह सकता है, कितना क्या उसने
देखा वहाँ? खरतर सौरकर-जाल-से
संकलित आभामय उच्च सिंहासन पै
मूर्तिमती शक्तीश्वरी बैठी थी कुहूकिनी।
हाथ जोड़, करके प्रणाम, बोला वृत्रहा–
''आशीर्वाद दास को दो देवि, विश्वमोहिनी!''
आशीर्वाद दे के फिर हेतु पूछा आने का
देवी ने। ''कहा यों सुरराज ने कि शिव का
पा कर निदेश यहाँ आया यह दास है।
कृपया बताओ, किस कौशल से जीतेंगे
रामानुज शूर कल रावण के पुत्र को?
घोरतर रण में (कहा है विरूपाक्ष ने)
मेघनाद वीर को, तुम्हारे ही प्रसाद से,
मारेंगे सुमित्रा-पुत्र।'' क्षण भर सोच के,
देवी ने कहा यों–''जब तारक असुर ने,
रण में हरा के तुम्हें छीन लिया स्वर्ग था;
प्रकट हुए थे तब पार्वती के गर्भ से

कार्तिकेय सेनानी। स्वयं ही वृषकेतु ने,
सज्जित किया था उन्हें, मारने को दैत्य के,
रच कर अस्त्र निज दिव्य रुद्रतेज से।
देखो, वह फलक सुरेश्वर, सुवर्ण से
मण्डित; कृपाण वह, रहता है उसमें
काल स्वयं; देखो, वह अक्षय निषंग है
खरशर-पूर्ण, भीम, विषधर-लोक-सा!
देखो, वह चाप देव!'' बोला तब हँस के;
देख के धनुष-कान्ति, वीर शचीकान्त यों—
''इसके समक्ष यह रत्नमय दास का
क्या है तुच्छ छार धन्वा! भास्कर-परिधि-सा
जलता फलक है माँ, चौंधाकर आँखों को!
अग्नि-शिखा-तुल्य असि तेजोमयी है महा!
ऐसा तूण और है क्या तीनों लोक में कहीं?''
''शक्र, सुनो, (देवी फिर बोली) इन्हीं अस्त्रों से
मारा था षडानन ने तारक असुर को।
हे बलि, इन्हीं से बध होगा मेघनाद का।
किन्तु ऐसा वीर नहीं कोई त्रिभुवन में,
देव किं वा मानव, जो मारे न्याय-युद्ध में
रावणि को। भेजो तुम लक्ष्मण के पास ये
अस्त्र सब, जाऊँगी स्वयं मैं कल लंका में,
लक्ष्मण के रक्षा-हेतु राक्षस-समर में।
सुरकुल-केतु, तुम जाओ सुरलोक को।
प्राची का सुवर्णद्वार, फूल-कुल की सखी,
कमल-करों से कल ऊषा जब खोलेगी,
तव चिर त्रास उस इन्द्रजित-त्रास से
वीर वर रामानुज तुम को छुड़ायँगे;—
लंका का सरोज-रवि अस्ताचल जायगा।''
करके प्रणाम महानन्द युत देवी को
देवराज अस्त्र लेके स्वर्ग को चला गया।
अमर-सभा में इन्द्र बैठ स्वर्णासन पै,
कहने लगा यों शूर वीर चित्ररथ से—
''ले जाओ सयत्न बलि, अस्त्र हेमलंका में।
रामानुज शूर कल मारेंगे समर में,

माया के प्रसाद से, दुरन्त मेघनाद को।
कैसे, उन्हें आप माया देवी बता देंगी सो।
राघव से गन्धर्वेश, जाकर यों कहना–
त्रिदिवनिवासी क्षेम चाहते तुम्हारा हैं;
आप ही भवानी आज तुम पै प्रसन्न हैं।
अभय प्रदान उन्हें करना हे सुमते!
रावणि के मरने से रण में अवश्य ही
रावण मरेगा; सती मैथिली को फिर से,
मैथिलीमनोहर प्रसन्न हो के पायँगे।
रथिवर, मेरे श्रेष्ठ रथ पर चढ़ के
जाओ। देर करने से, देख के तुम्हें कहीं
झगड़ा मचावें यातुधान; मेघ-दल को,
व्योम ढँकने के लिए आज्ञा अभी दूँगा मैं;
और मैं निदेश दूँगा वीर वायुराज को,
क्षण भर छोड़ने के हेतु वायु-कुल को;
नाचेगी सु-विद्युल्लता बाहर निकल के;
पूर्ण कर दूँगा विश्व वज्र के निनाद से।''
करके प्रणाम सुर-शासक को, यत्न से
अस्त्र ले के चित्ररथ वीर गया मर्त्य को।
तब सुरनायक बुला के प्रभंजन को,
बोला यों–''प्रलय झंझा भेजो शीघ्र लंका में;
छोड़ो वायुराज, कारारुद्ध वायु-दल को;
संग लो घनों को, ज़रा वैरी वारिनाथ से
द्वन्द्व करो, गर्जना के साथ!'' महोल्लास से
तत्क्षण ही देव चला टूटने से शृंखला
शक्तिशाली सिंह यथा कूद कर जाता है,
अन्धकार-पूर्ण जहाँ घोर गिरि-गर्भ में
रुद्ध वायु-दल था। अदूर उसने सुना
कोलाहलनाद और देखा गिरि काँपता
अन्तरस्थ विक्रम से, मानों असमर्थ-सा
वायु-दल रोकने के अर्थ निज बल से!
खोला शिला-द्वार स्पर्श मात्र से सुदेव ने,
करके हुंकार शीघ्र वायु-वृन्द निकला,
पानी का प्रवाह यथा टूटने से तट के

सहसा। धरित्री कँपी, जलनिधि गरजा!
तुंग-शृंगधर-सी तरंगें रण-रंग से
मत्त हो के वायु-संग कल्लोलित हो उठीं;
दौड़े मेघ चारों ओर घोर नाद कर के
और हँसी चंचला; विशाल वज्र गरजा।
तारा-दल-संग तारानाथ भगा भय से।
लंका पर छाये मेघ अग्नियाँ उगल के;
चड़मड़ वृक्ष गिरे वन में उखड़ के;
झंझा सह होने लगी वृष्टि ज्यों प्रलय की;
व्योम से शिलाएँ गिरी तड़ तड़ नाद से।
राक्षस सभीत घुसे निज निज गेहों में।
बैठे जहाँ राघवेन्द्र प्रभु थे शिविर में,
पहुँचा रथीन्द्र वहाँ चित्ररथ सहसा,
अंशुमाली भानु यथा, राजवेश भूषा से!
कटि में था सारसन, उसमें था झूलता
झलमल खंग तेजोराशि राशिचक्र-सा!
क्यों कर बखान करे कवि सुरचाप का,
तूण, चर्म, वर्म शूल और सौर रूपिणी
स्वर्णमयी उज्ज्वल किरीट की सुकान्ति का?
आँखें झुलसाने लगी देव-विभा, स्वर्ग का
सौरभ अचानक अपूर्व वहाँ छा गया।
करके ससम्भ्रम प्रणाम देवदूत को,
राघव ने पूछा—"हे त्रिदिववासी, मर्त्य में
किं वा अन्य लोक में, कहाँ है यह रूप की
महिमा? पधारे यहाँ कैसे, आप कहिए,
नन्दन विपिन छोड़? स्वर्णासन है नहीं,
क्या दूँ देव बैठने को? किन्तु यदि है कृपा
दास पर, पाद्य-अर्घ्य ले के, कुशासन पै
बैठिए। भिखारी हाय! राघव है!" सुरथी
आशीर्वाद दे के बैठ सु-स्वर से बोला यों—
"दाशरथे, सुनो, मेरा नाम चित्ररथ है;
मैं हूँ चिर सेवक समर्थ सुरराज का,
हे गुणि, गन्धर्व-कुल मेरे ही अधीन है।
आया हूँ यहाँ मैं देवराज के निदेश से।

देव-कुल-युक्त वे तुम्हारे शुभाकांक्षी हैं।
देखते हो अस्त्र जो ये, भेजे हैं सुरेन्द्र ने,
नृमणि, तुम्हारे अनुजार्थ। प्रातःकाल में,
आप माया देवी अवतीर्ण हो बतावेंगी
मारेंगे लक्ष्मण वीर मेघनाद शूर को
जैसे। रघुरत्न, तुम देव-कुल प्रिय हो।
आप अभया हैं तुष्ट वीर वर तुम से।''
बोले रघुनाथ—''इस श्रेष्ठ समाचार से
मग्न हुआ गन्धर्वेश, मैं हूँ मोद-सिन्धु में।
अज्ञ नर हूँ, जताऊँ कैसे मैं कृतज्ञता?
पूछता हूँ आप ही से, कृपया बताइए।''
हँस कर बोला दूत—''राघवेन्द्र, देवों के
प्रति जो कृतज्ञता है, कहता हूँ मैं, सुनो,
इन्द्रियदमन, दीनपालन, सुधर्म्म के;
पथ में गमन और सेवा सत्यदेवी की;
चन्दन, कुसुम, भोग, पट्टवस्त्र आदि की,
देवे जो असज्जन तो करते अवज्ञा हैं
देवता, मैं सार कथा कहता हूँ तुम से।''
राम ने प्रणाम किया; आशीर्वाद दे रथी
चित्ररथ दिव्य रथारूढ़ गया स्वर्ग को।
शान्त हुई घोर झंझा, शान्त हुआ सिन्धु भी,
तारा-दल-संग फिर देख तारानाथ को
हाटक की लंका हँसी। तरल सलिल में
हो कर प्रविष्ट चारुचन्द्रिका रजोमयी
देह-अवगाहन सहर्ष करने लगी;
हँसने लगी फिर सकौतुक कुमुदिनी।
आयीं शवाहारिणी शिवाएँ फिर दौड़ के
और गीध, शकुनि, पिशाच रणक्षेत्र में।
निकले निशाचर-समूह फिर हाथों में
भीम खर शस्त्र लिये मत्त वीर-मद से।

**इति श्री मेघनाद-वध काव्ये अस्त्र-
लाभो नाम द्वितीयः सर्गः**

तृतीय सर्ग

रोती है अधीरा हो प्रमीला दैत्यनन्दिनी
पति-विना युवती, प्रमोद उपवन में।
घूमती है अश्रुदृषी चन्द्रवदनी कभी
पुष्प-वाटिका में, हाय! मानों व्रज-कुंज में
गोपबाला, नीप तले देखे विना श्याम को,—
ओठों पर वेणु धरे, पीताम्बर पहने।
जाती कभी मन्दिर के भीतर है सुन्दरी,
आती फिर बाहर है व्याकुल वियोगिनी,
होती कातरा है ज्यों कपोती शून्य नीड़ में!
चढ़ कर उच्च गृहचूड़ा पर चंचला,
दूर लंका-ओर कभी एक दृष्टि लाती है,
अविरल अश्रु-जल अंचल से पोंछ के!
नीरव मृदंग, वेणु, वीणादिक वाद्य हैं
और सब नृत्य-गान। चारों ओर सखियाँ
मलिनमुखी हैं हाय! सुन्दरी के शोक में।
कौन नहीं जानता है, फूल कुम्हलाते हैं,
जब है वसन्त बिना तपती वनस्थली?
आयी निशादेवी यथाक्रम उपवन में।
शिहर प्रमीला सती, मृदुकलकण्ठ से,
वासन्ती सखी जो थी वसन्तसौरभा सदा,
धरके उसीका गला रोती हुई बोली यों—
"देखो, यह आ गयी अँधेरी रात सजनी,
कालनागिनी-सी, डसने के लिए मुझको!
वासन्ती कहाँ हैं इस संकट की वेला में,

शत्रुनाशी, शक्रजयी, रक्षःकुल-केसरी?
'लौटूँगा प्रिये, मैं शीघ्र' कहके गये हैं वे;
यह मिस हाय! किस हेतु, नहीं जानती।
सखि, तुम जानती हो तो बताओ मुझको।''
बोली तब वासन्ती वसन्त में ज्यों कोकिला
कूजती है—''कैसे कहूँ, आये नहीं आज क्यों
अब्लों तुम्हारे प्राणनाथ, कहाँ बिलमे!
किन्तु चिन्ता दूर करो सीमन्तिनि, शीघ्र ही
आयँगे वे राघव को मार कर रण में।
क्या भय तुम्हें है भला? अमर-शरों से भी
जिनका शरीर है अभेद्य, उन्हें युद्ध में
कौन रोक सकता है? आओ, कुंजवन में,
सरस प्रसून चुन गूँथें हम मालाएँ।
प्रिय के गले में हँस दोलायित करना,
विजयी के रथ पर विजय-पताकाएँ
कौतूहल पूर्वक उड़ाते यथा लोग हैं।''
यह कह फूलवाटिका में घुसीं दोनों ही,
सरसी के साथ जहाँ खेलती थी कौमुदी,
करके प्रफुल्ल कुमुदों को; भृंग गाते थे;
कूजती थीं कोकिलाएँ; फूल बहु फूले थे;
सोहती थी मोदमयी मंजु वनराजि के
भाल पर (रत्नमयी माँग-सम मोहिनी)
ज्योतिरिंगणों की पंक्ति; बहता सु-मन्द था
मलय समीर; पत्र मर्मरित होते थे।
भर कर अंचल प्रसून चुने दोनों ने,
उनके दलों पर प्रमीला के सु-नेत्रों ने
हिम-कण-तुल्य मोती बरसाये कितने
कौन कह सकता है? सूर्य्यमुखी दुःखिनी
मलिनमुखी थी खड़ी सूर्य्य के वियोग में,
उसके समीप जाके बोली यों वियोगिनी—
''तेरी जो दशा है इस घोर निशाकाल में,
भानुप्रिये, मेरी भी वही है, यही यातना
सहती हूँ मैं भी; हाय! दग्ध इन आँखों से
विश्व अन्धकारमय दीखता है मुझको!

जलते हैं प्राण ये वियोगानल में सखी,
देख के मैं रात-दिन छवि जिस रवि की
जीती हूँ, छिपा है आज अस्ताचल में वही!
क्या मैं फिर पाऊँगी, उषा के अनुग्रह से
पावेगी सती, तू यथा, प्राणाधार स्वामी को?''
चुन कर फूल उस कुंज में, विषाद से,
दीर्घश्वास छोड़ कर, वासन्ती सहेली से
बोली यों प्रमीला सती—''तोड़ लिये फूल तो,
माला भी बना ली सखी, किन्तु कहाँ पाऊँगी
पूज्य पद युग्म वे कि चाहती हूँ पूजना
पुष्पांजलि देकर जिन्हें मैं भक्तिभाव से?
बाँधा मृगराज को न जाने आज किसने!
आओ सखि, हम सब लंकापुर को चलें।''
बोली तब वासन्ती कि ''कैसे आज लंका में
तुम घुस पाओगी? अलंघ्य, जल-राशि-सी,
राघव की सेना उसे घेरे सब ओर है!
लक्ष लक्ष रक्षोरिपु घूमते हैं, हाथों में
अस्त्र लिये, दण्ड-पाणि दण्डधर-से वहाँ!''
क्रुद्ध हुई प्रमदा प्रमीला दैत्यनन्दिनी,
''क्या कहा सहेली? जब गिरि-गृह छोड़ के
सरिता सवेग जाती सागर की ओर है,
शक्ति किसकी है तब रोके गति उसकी?
मैं हूँ दैत्यबाला और रक्षोवंश की बधू;
रावण ससुर मेरे, इन्द्रजित स्वामी हैं;
डरती हूँ मैं क्या सखि, राघव भिखारी को?
लंका में प्रविष्ट हूँगी आज भुजबल से,
कैसे नर-रत्न मुझे रोकते हैं, देखूँगी।''
यों कह सरोष सती गजपति-गति से,
जाम्बूनद-मन्दिर में गर्व से चली गयी।
जैसे नारि-देश में तरन्तप महारथी,
यज्ञ के तुरंग-संग, पार्थ जब आये थे,
देवदत्त शंख का निनाद तब सुनके,
क्रुद्ध हो के, वीर वनिताएँ रण-रंग से
सज्जित हुई थीं, सजी वैसे ही यहाँ भी वे।

गूँज उठा दुन्दुभि-निनाद घन-नाद-सा,
रण-मद-मत्त हुआ वामा-दल, निकला
ढालों को उछाल, तलवारों को निकालके!
और दिव्य धनुषों को टंकारित करके।
करके उजेला उठी झक झक झार-सी,
धक धक कांचनीय कंचुकच्छटा-घटा!
मन्दुरा में हींसे हय कान खड़े करके,
नूपुर-निनाद सुन और ध्वनि कांची की,
डमरू-निनाद सुन कालफणी नाचे ज्यों।
वारी में गरजे गज, घोर-घन-घोर ज्यों
दूर शैल-शृंगों पर, वन में, गुहाओं में,
जाग उठी रंग से प्रतिध्वनि तुरन्त ही
निन्द्रा तज, चारों ओर कोलाहल छा गया।

उग्रचण्डा-सी थी जो नृमुण्डमालिनी सखी,
सज शत वाजिवर बहु विधि साजों से
लाई मन्दुरा से, महानन्द से अलिन्द के
आगे; चढ़ीं एक साथ एक शत चेरियाँ।
झन झन कोषगत खंग बजे पार्श्वों में;
नाची शिरश्चूड़ाएँ, सुरत्नमयी वेणियाँ
तूणों के समेत डुलीं पीठों पर रंग से।
शूल थे करों में, कमलों में ज्यों मृणाल हों
कण्टकित। मग्न हय हींस उठे हर्ष से,
दैत्यदलिनी के पद युग्म रख वक्ष पै
नाद करते हैं विरूपाक्ष यथा प्रेम से!
भीम-रण वाद्य बजे; चौंके सुर स्वर्ग में,
नर नरलोक में त्यों नाग रसातल में!

तेजस्विनी प्रमदा प्रमीला सजी रोष से,
लज्जा-भय छोड़। कवरी पर किरीट की
छिटकी छटा यों अहा! श्याम घटा पर ज्यों
इन्द्रचाप! भाल पर अंजन की रेखा यों—
भैरवी के भाल पर मानों नेत्ररंजिनी
चन्द्रकला! उच्च कुच कसके कवच से,
सुमुखी सुलोचना ने कृश कटि कसली—
रत्नों से खचित रम्य स्वर्ण-सारसन से।

पीठ पर ढाल डुली, रवि की परिधि-सी,
आँखें झुलसाकर निषंग-संग ढंग से!
गुरु उरु देश पर (वर्तुल जो था अहा!
रम्भा-वन-शोभा-सम) झन झन करके
खनका सु-खंग खर; स्वर्ण-कोष उसका
झलमल झूल उठा; सोहा शूल कर में;
जगमग होने लगे आभरण अंगों में!
सज्जित हुई यों दैत्यबाला वीरसज्जा से,
हैमवती मानों महिषासुर को मारने
जा रही हो, किं वा उस शुम्भ या निशुम्भ को,
सत्तामयी शूरमदमत्ता, महारण में।
डाकिनी-सी, योगिनी-सी चारों ओर चेरियाँ
घेर उसे, घोड़ों पर शोभित हुई वहाँ।
मानों वड़वाग्नि 'वड़वा' था नाम जिसका,
बैठी उस वामी पर वामा शिखारूपिणी!
कादम्बिनी अम्बर में नाद करती है ज्यों,
बोली त्यों नितम्बिनी गम्भीर धीर वाणी से,
सखियों से—"सुन लो, हे दानवियो, लंका में
शत्रुनाशी इन्द्रजित वन्दी बनें आज हैं!
जानती नहीं मैं, प्राणनाथ भूल दासी को
बिलमें वहाँ क्यों; मैं उन्हीं के पास जाऊँगी।
पुर में प्रवेश मैं करूँगी भुजबल से,
विकट कटक काट, जीत रघुवीर को;
वीर वनिताओ, सुनो, मेरा यही प्रण है;
अन्यथा मरूँगी रण-मध्य—जो हो भाग्य में!
दैत्यकुलसम्भवा हैं हम सब दानवी;—
दैत्य-कुल की है विधि शत्रु-वध करना,
किं वा शत्रु-शोणित में डूब जाना रण में!
मधु अधरों में, विष रखती हैं आँखों में
हम; बल है क्या नहीं इन भुजनालों में?
देखें, चलो, राघव की वीरता समर में।
देखूँगी ज़रा मैं वह रूप जिसे देख के
मोही बुआ शूर्पणखा पंचवटी-वन में;
देखूँगी सुमित्रा-पुत्र लक्ष्मण की शूरता;

बाधूँगी विभीषण को—रक्षःकुलांगार को!
अरि-दल दलूँगी ज्यों दलती है करिणी
नल-वन। आओ, तुम बिजली-समान हो,
बिजली-सी टूट पड़ें वैरियों के बीच में!"
गरजी हुंकार कर सारी दैत्यबालाएँ,
उन्मद मतंगजाएँ मानों मधुकाल में!
वायु सखा-संग गतिदावानल की यथा
दुर्निवार, मिलने को पति से चली सती।
काँपी तब स्वर्णलंका, जलनिधि गरजा;
चारों ओर धूल उड़ी घन घन भाव से;
ढँक सकता है कब किन्तु निशाकाल में
धूम अग्निज्वाला को? प्रमीला अग्निज्वाला-सी,
वामा-दल संग लिये लंकापुर को चली।
कुछ क्षण में ही क्षणदा-सी आन पहुँची
पश्चिम के द्वार पर। एक साथ शंख सौ
वामा-दल ने बजाये और किये चाप सौ
टंकारित! सातंका सु-लंका कँपी शंका से;
नागों पै निषादी कँपे, सादी कँपे अश्वों पै,
सु-रथी रथों में कँपे, भूप सिंहासन पै
नारियाँ घरों में कँपीं, पक्षी कँपे नीड़ों में;
सिंह गुहाओं में कँपे, वन-गज वन में;
जलचर जीव सब डूबे जलतल में!
वायु-पुत्र हनूमान भीम रूपी रोष से
अग्रसर हो के वीर बोला यों गरज के—
"कौन तुम आयी मरने को, इस रात में?
जागता है आंजनेय वीर यहाँ, जिसका
नाम सुन लंकापति काँपता है लंका में!
जागते स्वयं भी प्रभु रघुकुल-रत्न हैं
सुहृद विभीषण समेत, वीर केसरी
लक्ष्मण सु-लक्षण हैं जागते शिविर में;
शत शत योद्धा और दुर्द्धर समर में।
रक्खा किस ढंग से है वामा-वेष दुष्टों ने!
जानता हूँ मैं, हैं यातुधान महा मायावी।
माया-बल तोड़ मैं परन्तु भुजबल से,

शत्रुओं को मारता हूँ, पाता हूँ उन्हें जहाँ।''
उग्रचण्डारूपिणी नृमुण्डमालिनी सखी
कार्मुक टंकार कर बोली हुहुंकार से—
''शीघ्र बुला ला तू निज सीतापति को यहाँ,
चाहता है कौन तुझे वर्वर! तू है सदा
क्षुद्रजीवी, तुझ-से जनों को कभी इच्छा से
मारती नहीं हैं हम। सिंहिनी शृगाल से
करती विवाद है क्या? छोड़ दिया तुझको
वनचर, प्राण लेके भाग जा तू, लाभ क्या
तेरे मारने से हमें? जाकर अबोध रे,
राम को बुलाला यहाँ, लक्ष्मण को, साथ ही
रक्षःकुल के कलंक क्रूर विभीषण को!
शत्रुनाशी इन्द्रजित विदित त्रिलोकी में,
पत्नी प्रिया उनकी प्रमीला, सती, सुन्दरी,
पति-पद पूजने को जा रही है लंका में;
शक्ति किसकी है मूढ़! रोके गति उसकी?''
प्रबल समीरसूनु वीर हनूमान ने—
आगे बढ़ देखा, भय-विस्मय के साथ में,
वीर-वामावृन्द-मध्य प्रमदा प्रमीला को।
क्षणदा-छटा-सी थी किरीट पर खेलती,
शोभित सुगात्र में था वर्म्म यथा रत्नों से
मिल कर भानु-कर-जाल छवि देता है!
सोचा तब जी में महावीर हनूमान ने—
''जब मैं अलंघ्य सिन्धु लाँघ कर आया था
लंका नगरी में, तब वामाएँ भयंकरी
देखी थीं, प्रचण्डाएँ, नृमुण्डाएँ, कपालिनी;
मन्दोदरी आदि और रावण की रानियाँ
जो थीं, सब देखी थीं, सुबालाएँ, सुबधुएँ,
चन्द्रकला-तुल्य सब देखी थीं, तमिस्रा में;
घर घर घूम कर, लंका छान डाली थी।
देखा था अशोक वन में—हा! शोकपीड़िता—
रघुकुल-पद्मिनी को; किन्तु यह माधुरी
देखी नहीं मैंने कभी इस भव सृष्टि में!
धन्य वीर मेघनाद धन्य, जिस मेघ के

पार्श्व में बँधी है ऐसी शम्पा प्रेम-पाश से!''
जी में यों विचार कर अंजनाकुमार ने,
गम्भीरा गिरा कही, प्रभंजन के स्वर में–
''वन्दी-सम बाँध शिला-बन्ध से समुद्र को,
भानु-कुल-भानु मेरे प्रभुवर सुन्दरी,
लक्ष लक्ष वीर साथ ले के यहाँ आये हैं।
रक्षोराज नैकषेय उनका विपक्षी है;
तुम अबलाएँ हो, कहो, क्यों असमय में
आयी हो यहाँ यों? कहो निर्भय हृदय से,
मैं हूँ हनूमान, सदा दास रघुराज का;
करुणानिधान सदा रघुकुलराज हैं।
तुमसे क्या उनका विवाद है सुलोचने!
क्या प्रसाद चाहती हो तुम उनसे, कहो?
आयी हो यहाँ क्यों? कहो, जाकर सुनाऊँ मैं
सुन्दरि, निवेदन तुम्हारा प्रभु-पादों में।''
उत्तर में बोली सती, ध्वनित हुई अहा!
कानों में सु-वीणा यथा वीर हनूमान के–
''राघव हैं मेरे पति-वैरी, किन्तु इससे
उनसे विवाद करना मैं नहीं चाहती।
शूरों में सुरेन्द्रजयी मेरे वीर स्वामी हैं।
विश्वविजयी हैं वे स्वयं ही भुजबल से;
काम क्या हमें है भला लड़ने का उनके
शत्रुओं से? हम कुलबाला, अवलाएँ हैं;
किन्तु सोच देखो, वीर! बिजली की जो छटा
भाती है दृगों को, वहीं छूने से जलाती है।
संग लो हे शूर, तुम मेरी इस दूती को;
करती हूँ याचना मैं राघव से क्या, इसे
उनसे कहेगी यही, जाओ त्वरा करके।''
निर्भय नृमुण्डमालिनी, ज्यों मुण्डमालिनी,
दूती अरिदल में प्रविष्ट हुई दर्प से,
पालवाली नाव जैसे रंग से तरंगों की
करके उपेक्षा-सी अकूल पारावार में
तैरती हो एकाकिनी। आगे हनूमान थे
मार्ग दिखलाते हुए। देख कर वामा को

चौंक उठा वीर-वृन्द, घोर निशाकाल में
चौंके ज्यों गृहस्थ देख अग्नि-शिखा गृह में!
हाल यह देख कर वामा हँसी मन में।
वीर जितने थे, देखते थे एक टक से
हो के जड़-तुल्य ठौर ठौर हक्का-बक्का-से!
बजते थे चरणों में नूपुर, सु-कटि में
कांची बजती थी शूल शोभित था हाथ में।
जर्जर कटाक्ष-विशिखों से कर सब को,
जाती थी नितम्बिनी कुतूहल के साथ में!
चन्द्रककलापमयी शीर्षचूड़ा शीश पै
नाचती थी, उन्नत उरस्थल के बीच में
दमक रही थी रत्नराजि दृगरंजिनी;
मणिमय मंजु वेणी डुलती थी पीठ पै,
उड़ती वसन्त में ज्यों काम की पताका है!
उन्मद मतंगिनी-सी चलती थी रंगिणी,
करके उजेला सब ओर यथा चन्द्रिका
झलमल होती है सु-निर्मल सलिल में,
किं वा शैल-शृंगों पर ऊषा अंशुमालिनी

रघुकुलरत्न प्रभु बैठे हैं शिविर में;
हाथ जोड़े शूर-सिंह लक्ष्मण हैं सामने;
पार्श्व में विराजमान मित्र विभीषण हैं
और रुद्रतेजोमय बैठे बहु वीर हैं
भीमाकृति। देवायुध आसन पै रक्खे हैं
जो हैं रक्तचन्दन से चर्चित, प्रसूनों की
अंजली से अर्चित हैं; धूप धूपदानों में
जलती है; चारों ओर श्रेणीबद्ध दीवटें
देती हैं प्रकाश। सब विस्मय के भाव से
देखते हैं देवायुध। कोई करवाल का
करता बखान, कोई ढाल का है करता—
रवि के प्रसाद से दिवा के अवसान में
मेघ स्वर्णमण्डित ज्यों; कोई दिव्य तूण का
करता बखान, कोई वर्म्म का है करता—
तेजोराशि! धीर रघुवीर ले धनुष को
बोले आप—"सीता के स्वयंवर में शिव का

तोड़ा था धनुष मैं ने निज भुजबल से,
किन्तु इस चाप को चढ़ा भी नहीं सकता
कैसे हे लक्ष्मण, झुकाऊँ इसे भाई, मैं?''
सहसा निनाद हुआ जय जय राम का,
गूँज उठा नभ में जो घोर कोलाहल से
सागर-कल्लोल-सम! रक्षोरथी भय से
बोला प्रभु ओर देख,–''देखो, देव, सामने
बाहर शिविर के; उषा क्या निषाकाल में
उदित हुई है यहाँ!''

विस्मय से सब ने
देखा तब–''भैरवी-सी भामा'' कहा प्रभु ने–
''देवी है कि दानवी है, देखो सखे, ध्यान से;
मायामयी लंका है, प्रपूर्ण इन्द्रजाल से;
अग्रज तुम्हारा काम रूपी है। विचार के
देखो, यह माया तुम्हें अविदित है नहीं।
पाया तुम्हें रक्षोवर, मैं ने शुभ योग में;
कौन ऐसे संकट में हीन इस सेना को
रक्खेगा तुम्हारे बिना? केवल तुम्ही सखे,
रक्षोनगरी में चिर रक्षक हो राम के।''

प्राप्त हुई दूती इतने में हनूमान के
साथ में, शिविर में, प्रणाम कर पैरों में,
हाथ जोड़, भामिनी (छै रागिनी ज्यों छैगुनी
बोलीं एक तान से हों) बोली प्रभुवर से–
''राघव के पैरों में प्रणाम करती हूँ मैं,
गुरुजन हों जो और सब को प्रणाम है;
नाम मेरा है नृमुण्डमालिनी, मैं दासी हूँ
दैत्यबाला सुन्दरी प्रमीला युवराज्ञी की,
कामिनी है जो प्रसिद्ध वीर-कुल-केसरी
इन्द्रजित योद्धा युवराज मेघनाद की।''
आशीर्वाद देके कहा वीर दाशरथि ने–
''आयी किस हेतु यहाँ भद्रे, कहो मुझसे?
क्या करके तोष दूँ तुम्हारी स्वामिनी को मैं?''

बोलो तब भीमा–''रघुवीर, धीर तुम हो;
आओ, लड़ो उससे, नहीं तो मार्ग छोड़ दो;

लंका में प्रविष्ट होना चाहती है रूपसी,
पति-पद पूजने को। निज भुजबल से
तुमने अनेक रक्षोवीर वर मारे हैं;
रक्षोबधू माँगती है युद्ध, उसे युद्ध दो
वीर वर! हम सौ स्त्रियाँ हैं; जिसे चाहोगे,
एकाकी लड़ेगी वही। चाहो धनुर्बाण लो,
चाहो गदा, चाहो असि, मल्लयुद्ध में सदा
रत रहती हैं हम! देव, जैसी रुचि हो।
काम नहीं देर का, तुम्हारे अनुरोध से
रोके खड़ी युवती सती है सखी-दल को,
रोकती मृगादिनी को जैसे है किरातिनी,
देख मृग-यूथ जब मत्त वह होती है।''
यों कह विनय से झुकाया सिर वामा ने,
फूला हुआ फूल हिम विन्दु युत नत हो
करता है जैसे मन्द मारुत की वन्दना!
बोले रघुनाथ—''सुनो तुम हे सुभाषिते,
करता अकारण विवाद नहीं मैं कभी।
मेरा शत्रु रावण है; तुम कुल बालाएँ,
कुलबधुएँ हो; फिर किस अपराध से।
वैरभाव रक्खूँगा तुम्हारे साथ मैं, कहो?
लंका में प्रविष्ट हो सहर्ष बिना शंका के।
वीरेश्वर रूप रघुराजकुल में शुभे,
जन्म राम का है; दूति, हैं तुम्हारी स्वामिनी
वीर-पत्नी, सखियाँ हैं वीरांगना उनकी।
सौ मुख से उनकी बड़ाई कर कहना—
देख पति-भक्ति, शक्ति, शूरता मैं उनकी,
युद्ध के बिना ही हार मानता हूँ उनसे!
धन्य मेघनाद! धन्य सुन्दरी प्रमीला है!
भद्रे, धनहीन, दीन राम वनवासी है,
विधि की विडम्बना से; ऐसी दुरवस्था में,
कौन-सा प्रसाद, जो तुम्हारे योग्य हो, तुम्हें
दूँ मैं आज? आशीर्वाद देता हूँ, सुखी रहो।''
कह यों कृपालु प्रभु बोले हनूमान से—
''मार्ग छोड़ दो हे वीर, शिष्टाचार करके

तुष्ट भली भाँति करो वीरांगना-गण को।''
प्रभु को प्रणाम कर दूती विदा हो गयी।
हँस के कहा यों तब मित्र विभीषण ने–
''चल कर बाहर पराक्रम प्रमीला का
देखो रघुनाथ; देव, कौतुक अपूर्व है!
जानता नहीं मैं, इस भीम वामा-वृन्द को
रोक सकता है कौन? रण में भयंकरी,
वीर्य्यवती, रक्तबीज-वैरिणी ज्यों चण्डी हों!''
प्रभु ने कहा यों–''मित्र, देख इस दूती की
आकृति, मैं भीत हुआ मन में, विसार के
तत्क्षण ही युद्ध-साज! मूढ़ वह जन है,
छेड़ने चले जो ऐसी सिंहियों की सेना को,
देखूँ, चलो, मैं तुम्हारी भातृपुत्र-पत्नी को।''
लगने से दावानल दूर यथा वन में,
अग्निमयी होती हैं दिशाएँ दसों, सामने
देखी विभा-राशि राघवेन्द्र ने गगन में
धूमहीन, करती सुवर्ण-वर्ण मेघों को!
चौंके सुनके वे चाप-शब्द घोर, घोड़ों की
टापों का पड़ापड़, सु-कोषगत खंगों का
झन झन झनन, उसी के साथ युद्ध के
बाजों का निनाद, हुहुंकार प्रमदाओं का,
काकलीतरंग-संग गर्जन ज्यों झंझा का!
रत्नमयी आभा-पूर्ण उड़ती ध्वजाएँ हैं;
नाचती है वाजि-राजि मन्दास्कन्द गति से,
बजती छमाछम हैं पैजनियाँ पैरों में।
दोनों ओर शैलमाला-तुल्य खड़ी सेना है
अविचल, बीच में है वामा-दल चलता!
मातंगिनी-यूथ ज्यों उपत्यका के पथ में
गर्व कर जाता हो, धरा को धसकाता-सा।
आगे उग्रचण्डा-सी नृमुण्डमालिनी सखी,
कृष्ण हयारूढ़ा, धरे हेमध्वजदण्ड है;
वाद्यकरी-वृन्द पीछे चलता है उसके
विद्याधरी-वृन्द यथा अतुल जगत में!
मुरली, मृदंग, वीणा आदि कल नाद से

बजते हैं! उनके अनन्तर भयंकरी
शूलपाणि वीरांगना, सखियों के बीच में,
तारावली-मध्य चन्द्रलेखा-सी, प्रमीला है!
विक्रम में भीमा-समा। चारों ओर रत्नों की
आभा कौंधती है, चौंधती है यथा चंचला!
जाता अन्तरीक्ष में है रतिपति रंग से
संग संग धनुष चढ़ाये हुए फूलों का,
वार वार सिद्धशराघात करता हुआ!
सिंह पर दुर्गायथा दैत्य-दल-दलिनी;
ऐरावत हाथी पर इन्द्राणी शची यथा
और यथा उन्मद खगेन्द्र पर इन्दिरा,
शोभित है वीर्य्यवती, युवती, सती तथा
बड़वा तुरंगिणी की पीठ पर सर्वथा!
रत्नों से विभूषिता है वामीश्वरी वड़वा।
धीरे धीरे, शत्रुओं की करके उपेक्षा-सी,
वामाएँ चली गयीं। किसी ने चाप टंकारा,
निष्कोषित असि की किसी ने हुहुंकार से;
गर्व से किसी ने शूल ऊँचा किया अपना,
मार टिटकारी हँसी कोई अट्टहास से,
कोई वहाँ गरजी, अरण्य में ज्यों सिंहिनी
गर्जती है वीरमदा, काममदा भैरवी!
बोले रघुवीर तब मित्र विभीषण से—
''क्या ही विस्मय है, कभी ऐसा तीन लोक में
देखा-सुना मैं ने नहीं! जागते ही रात का
क्या मैं स्वप्न देखता हूँ? सत्य कहो मुझसे
मित्ररत्न! जानता नहीं मैं भेद कुछ भी;
चंचल हुआ हूँ मैं प्रपंच यह देख के,
वंचित न रक्खो मुझे मित्र, इस माया से।
चित्ररथ से सुना था मैं ने इस बात को—
मायादेवी दास की सहायता को आवेंगी;
आयीं तो नहीं हैं यहाँ वे ही इस मिस से?
मुझको बताओ, यह छलना है किसकी?''
"स्वप्न नहीं सीतानाथ," बोला विभीषण यों—
''देव-रिपु कालनेमि दैत्य जो विदित है,

दुहिता उसीकी यह सुन्दरी प्रमीला है,
रखती है अंश और तेज महाशक्ति का!
शक्ति किसकी है इस दानवी से जूझे जो?
दैत्यमदहारी, वज्रधारी सुनाशीर को
वीर-कुल-केसरी जो जीत चुका युद्ध में,
बाँध कर रखती उसे है सदा मोहिनी,
रखती दिगम्बरी है जैसे दिगम्बर को!
राघवेन्द्र, विश्व के हितार्थ यह शृंखला
विधि ने बनाई, बँधा मेघनाद जिससे
मदकल कालदन्ती! शान्त करती है ज्यों
वारिधारा घोर वनदाहक दवाग्नि को,
शान्त रखती है उस कालानल को सती
त्यों ही प्रेम-वाणी से! निमग्न हुआ रहता
कालफणी यमुना के सौरभित जल में,
रहते हैं विश्ववासी सुख से, त्रिदिव में
देवता, रसातल में नाग, नरलोक में
नर, उस घोरतर दंशक से बचके!''

"सच कहते हो मित्र," दाशरथि ने कहा—
''रथियों में श्रेष्ठरथी योद्धा मेघनाद है।
देखी नहीं ऐसी अस्त्रशिक्षा कहीं विश्व में!
देखा भृगुमान गिरि-तुल्य है समर में
धीर भृगुराम को; परन्तु शुभ क्षण में
धारता तुम्हारा भ्रातृपुत्र धनुर्बाण है!
बतलाओ, रक्षःकुल-रत्न! अब क्या करूँ?
आके मिली सिंह से है सिंहिनी अरण्य में;
रक्खेगा बताओ, कौन इस मृग-यूथ को?
देखो तुम, चारों ओर घोर शोर करके
भीषण गरलयुक्त सिन्धु लहराता है!
भव ज्यों बचाया नीलकण्ठ उमाकान्त ने
रक्खो निज रक्षित त्यों मित्र, इस दल को।
अग्रज तुम्हारा कालसर्प-सा है तेज में,
इन्द्रजित योद्धा विष-दन्त-सा है उसका,
तोड़ना ही होगा उसे; अन्यथा मैं व्यर्थ ही
सागर को बाँधकर आया हेम लंका में।''

मस्तक झुकाके तब भ्रातृ-पद-पद्मों में,
निर्भय सौमित्र शूर लक्ष्मण ने यों कहा—
"क्या डर है राक्षस का देव, हम लोगों को?
आप देवनायक सहायक हैं जिनके
इस भवमण्डल में कौन भय है उन्हें?
निश्चय मरेगा कल मेघनाद मुझसे।
जीतता है पाप कहाँ? लंकापति पापी है;
पाप से उसीके शक्तिहीन होगा रण में
रावणि; पिता के पाप से है पुत्र मरता।
लंका का सरोज-सूर्य्य डूब कल जायगा,
कह गये देवरथी चित्ररथ हैं यही।
फिर किस हेतु प्रभो, व्यर्थ यह भावना?"
बोला यों विभीषण—"यथार्थ कहा तुमने
वीर वर, निस्सन्देह धर्म्म जहाँ, जय है।
लंकापति डूबता है हाय! निज पापों से!
मारोगे अवश्य तुम इन्द्रजित योद्धा को।
फिर भी सतर्क भाव रखना उचित है।
दानवी प्रमीला महावीर्य्यशीला बाला है;
त्यों नृमुण्डमालिनी-सी है नृमुण्डमालिनी
युद्धप्रिया! कालसिंही हो जिस अरण्य में
उसके समीप वासियों को सावधान ही
रहना उचित है। न जाने कब, किस पै,
टूट पड़े आके वह हिंसामयी भीषणा!
रात जो न घात लगी मारेगी प्रभात ही।"
बोले प्रभु—"मित्र ले के लक्ष्मण को साथ में
देखो सब नाके कि है कौन कहाँ जागता?
क्लान्त सब हो रहे हैं वीरबाहु-रण से।
देखो सब ओर; कहाँ सुहृद सुकण्ठ है,
अंगद क्या करता है; नील बली है कहाँ;
जागूँगा स्वयं मैं इस पश्चिम के द्वार पै।"
कहके 'जो आज्ञा' शूर लक्ष्मण को साथ ले
वीर चला, मानों इन्द्र अग्निभू के साथ में
अथवा सुधाकर के साथ मानों सविता!
पहुँची सु-लंका के सुवर्ण-द्वार पै सती,

सुन्दरी, प्रमीला। शृंगनाद वहाँ हो उठा
और बाजी भीम भेरी, रक्षोगण गरजा,
प्रयल-पयोद-वृन्द किं वा करि-यूथ-सा!
प्रक्ष्वेड़नपाणि विरूपाक्ष वीर रोष से,
तालजंघा-तालसम सुगुरु गदा लिये
भीषण प्रमत्त, सब गरज उठे वहाँ।
गरजे गजेन्द्र, हय हींसे एक साथ ही;
घूमें रथ-चक्र घोर घर्घर निनाद से;
भाले आदि आयुध उछाले शूर वीरों ने;
बाण उड़े शाणित छिपा के निशानाथ को।
पूर्ण हुआ अग्निमय व्योम कोलाहल से,
जैसे भूमिकम्प में, निशा में, वज्रनाद से
अग्नि-स्रोत-राशि अग्नि-गिरि हैं उगलते!
काँप उठी स्वर्णलंका सातंका, स-शंका-सी।
चण्डी-सी नृमुण्डमालिनी ने कहा—
चिल्ला के "मारते हो अस्त्र किसे भीरो,
अन्धकार में? रक्षःप्रतिपक्षी नहीं, रक्षःकुलबधुएँ
हम हैं; निहारो चक्षु खोल कर अपने।"
खड़ खड़ शब्द से तुरन्त द्वारपाल ने
बेंड़ा खिसकाया, खुला द्वार वज्रनाद से;
सुन्दरी प्रविष्ट हुई जय जयकार से;
अग्नि-शिखा देख कर रंग से पतंग ज्यों
दौड़ते हैं, चारों ओर दौड़ कर आये त्यों
पौरजन; कुलबधुओं ने शुभध्वनि की,
फूल बरसाये तथा वाद्यध्वनि करके।
वन्दना की वन्दियों ने, प्रेमानन्द-भाव से;
अग्नि की तरंगें वन में ज्यों, चली वामाएँ
वाद्यकरी-विद्याधरियों ने मंजु मुरली,
वीणा और मुरज बजाये हृद्यनाद से;
हींस हय-वृन्द चला आस्कन्दित गति से;
झन झन खंग हुए कान्तिमान कोषों में।
चौंक कर जाग उठे बच्चे मातृक्रोड़ों में।
खोल के गवाक्ष रक्षोबधुओं ने देख के,
वीरता बखानी हर्ष पूर्वक प्रमीला की।

प्रेमानन्द पूर्ण, प्रिय-मन्दिर में, सुन्दरी
दैत्यनन्दिनी यों हुई प्राप्त कुछ देर में;
खोया हुआ रत्न पाके मानों बची फणिनी।
शत्रुनाशी इन्द्रजित कौतुक से बोला यों—
"जान पड़ता है, रक्तबीज-वध करके
चन्द्रमुखि, अपने कैलासधाम आयी हो!
आज्ञा यदि पाऊँ, पड़ूँ चरणों में चण्डिके?
सर्वदा तुम्हारा दास हूँ मैं।" हँस ललना
बोली—"नाथ, दासी इन पैरों के प्रसाद से,
विश्वजयिनी है किन्तु जीत नहीं सकती
मन्मथ को; करती उपेक्षा हूँ शराग्नि की,
डरती दुरूह विरहाग्नि से हूँ सर्वदा।
आयी हूँ इसीसे, जिसे चित्त नित्य चाहता
है, उसीके पास; मिली सिन्धु से तरंगिणी।"
यों कह प्रविष्ट हुई मन्दिर में सुन्दरी,
वीर-वेष त्याग निज वेष रखने लगी।
पहना दुकूल दिव्य, अंचल था जिसका
रत्नों से जटित और कस ली सु-कंचुकी
पीवरस्तनी ने; क्षीण कटि में सु-मेखला
पहनी नितम्बिनी ने; उर पर हीरों के
और मोतियों के चन्द्रहार हिलने लगे;
तारा रूप रत्न लगे माँग में चमकने
और अलकों में; स्वर्ण-कुण्डल सु-कर्णों में;
नाना विध भूषणों से सज्जित हुई सती।
रक्षोमणि मेघनाद डूबा मोद-जल में,
स्वर्णासनासीन हुए दीप्तिमान दम्पती।
गाने लगे गायक त्यों नाच उठी नटियाँ,
विद्याधर-विद्याधरी जैसे सुरपुर में
गाने लगे पींजड़ों में पक्षी, दुःख भूल के,
उच्छ्वसित उत्स हुए कल कल नाद से,
पाकर सुधांशु-अंशु-स्पर्श जल-राशि ज्यों;
सरस वसन्त वायु बहने लगा वहाँ
सुस्वन से; जैसे ऋतुराज वनराजि से
केलि करता हो मधुकाल में, अकेले में।

रामानुज शूर यहाँ संग विभीषण के,
उत्तर के द्वार पर आये, जहाँ धीर धी
सजग सुकण्ठ वीर ले के सैन्यदल था;
विन्ध्यगिरि-शृंग-सा जो निश्चल था रण में।
पूर्व वाले द्वार पर भीमाकृति नील था;
व्यर्थ निद्रा देवी वहाँ साधती थी उसको।
दक्षिण के द्वार पर अंगद कुमार था—
घूमता, ज्यों भूखा सिंह भोजन की खोज में!
किं वा शूलपाणि नन्दी शम्भुगिरि-शृंग पै।
सौ सौ अग्निराशियाँ थीं चारों ओर जलती
धूमशून्य; बीच में थी लंका यथा नभ में
तारागण मध्य चारु चन्द्रमा की शोभा हो।
था यों वीर-व्यूह चारों द्वारों पर जागता—
शस्य पुष्ट होने पर मेघों के प्रसाद से,
मंच गाड़ गाड़ के ज्यों मेंड़ों पर खेत की
जागते हैं कृषक, खदेड़ मृग-यूथ को,
भीम महिषों को, तृणजीवी जीव-गण को।
जागता था रक्षोरिपु वीर-वृन्द लंका के
चारों ओर। लौट आये दोनों जन तुष्ट हो,
धीर-वीर दाशरथि थे जहाँ शिविर में।
हँस विजया से श्री भवानी भव-धाम में
बोलीं—"देख चन्द्रमुखि, लंका ओर तो, अहा!
घुसती पुरी में है प्रमीला वीर-वेष से,
संगिनी-समूह-संग रंग से वरांगना।
उठती है कैसी स्वर्ण-कंचुकच्छटा-घटा
अम्बर में; विस्मित-से देख, सब हैं खड़े
धीर राम, लक्ष्मण, विभीषणादि वीर वे।
ऐसा रूप किसका है सखि, भवलोक में?
दैत्य मारने को इसी वेष से सजी थी मैं,
सतयुग में; हे सखि, सुन उस नाद को,
खींचती है वामा दर्पयुक्त, हुहुंकार से,
करके टंकोर घोर प्रत्यंचा धनुष की।
भीम दल-बादल है चारों ओर काँपता;
माँग वाले जूड़े पर नाचती सु-चूड़ा है,

अश्व-गति-संग ऊँची और नीची होती है
गौरांगी, अहा! ज्यों मंजु जल की हिलोरों से
मानस सरोवर में सोने की सरोजिनी!"
विजया सखी ने कहा—कात्यायनि, सत्य है,
ऐसा रूप किसका है देवि, भवलोक में!
वीर्य्यवती दानवी प्रमीला, जानती हूँ मैं,
दासी है तुम्हारी, किन्तु सोच देखो मन में,
कैसे तुम रक्खोगी भवानी, वाक्य अपने!
एकाकी जगज्जयी है इन्द्रजित तेजस्वी,
प्रबला प्रमीला अब आमिली है उससे,
वायु-सखी अग्नि-शिखा आ मिली है वायु से!
क्यों कर करोगी शिवे! रक्षा अब राम की?
लक्ष्मण करेंगे वध कैसे मेघनाद का?"
क्षण भर सोच कर बोली तब शंकरी—
"मेरे अंश से है जन्म सुन्दरी प्रमीला का;
विजये, हरूँगी मैं सवेरे तेज उसका।
रहती है उज्ज्वल जो मणि रवि-कान्ति से,
आभा हीन होती है दिवा के अवसान में,
वैसे ही करूँगी कल तेजोहीन वामा को।
मारेंगे अवश्य वीर लक्ष्मण समर में
इन्द्रजित योद्धा को। प्रमीला पति-संग में
आवेगी विजये, इस धाम में; महेश की
सेवा में रहेगा मेघनाद भक्तिभाव से;
तुष्ट मैं करूँगी सखी करके प्रमीला को।"
यों कह प्रविष्ट हुई मन्दिर में मंगला,
आयी मन्द मन्द निद्रा देवी शिवधाम में।
शम्भु-शैल-वासियों ने शय्या पर फूलों की
सुख से विराम लिया और भव-भाल की
चारु चन्द्रिका ने रजोदीप्ति वहाँ फैलाई।

**इति श्री मेघनाद-वध काव्ये समागमो-
नाम तृतीयः सर्गः**

चतुर्थ सर्ग

होता हूँ तुम्हारे पद-पद्मों में प्रणत मैं,—
विश्रुत वाल्मीकि मुने, कविकुल के गुरो,
आदिकवे, भारत के चूड़ामणि तुम हो।
दास अनुगामी है तुम्हारा, यथा राजा के
साथ रंक दूर, तीर्थ-दर्शनार्थ जाता है!
ध्यान रख सर्वदा तुम्हारे पद-चिह्नों का,
पहुँचे हैं यात्री यशोमन्दिर में कितने;
करके दमन विश्व-दमन शमन का
अमर हुए हैं! भर्तृहरि, भवभूति ज्यों!
भारत-विदित भारती के वरपुत्र जो
कालिदास-सुमधुरभाषी, सुधा-स्रोत-से;
मोहक मुरारि, श्री मुरारि—वेणुवादी ज्यों;
कीर्तिवास, कृत्तिवास, आभूषण वंग के!
कविता के रस के सरोवर में हे पिता,
मिल कर राजहंस-कुल से करूँगा मैं
केलि कैसे, जो न तुम मुझ को सिखाओगे?
गूँथूँगा नवीन माला, चुन कर यत्न से
कुसुम तुम्हारे मंजु काव्योद्यान-कुंज से;
बहुविध भूषणों से भाषा को सजाने की
इच्छा रखता हूँ; किन्तु पाऊँगा भला कहाँ
(दीन हूँ मैं) रत्नराजि, दोगे नहीं तुम जो
रत्नाकर? देव, दया-दृष्टि करो दीन पै।
मग्न है सुवर्णलंका आनन्दाम्बुनिधि में,
हेम-दीप-मालिनी ज्यों रत्नहारा महिषी!

घर घर बाजे बजते हैं बहु भाँति के;
नर्तकियाँ नाचती हैं, गायिकाएँ गाती हैं;
नायकों के संग नायिकाएँ प्रेम रंग से
क्रीड़ा करती हैं, मंजु होठों पर हास्य की
लास्यलीला खिलती है खिल खिल नाद से!
कोई रति में हैं रत, कोई सुरापान में।
झूलती हैं द्वार द्वार फूल-फल-मालाएँ,
आलयों के आगे उच्च उड़ती ध्वजाएँ हैं;
दीप्तिमयी दीपवर्तिकाएँ हैं गवाक्षों में;
दीर्घ जनस्रोत की तरंगें राज-पथ में
दोनों ओर आती और जाती हैं उमंग से;
मानों महा उत्सव में मत्त पुरवासी हैं।
राशि राशि पुष्प-वृष्टि चारों ओर होती है;
आमोदित लंका आज जागती है रात में।
घूमती है द्वार द्वार निद्रा, किन्तु उसको
कोई नहीं पूछता विराम वर के लिए!
"शूर-कुल-केतु वीर इन्द्रजित राम को
मारेगा सबेरे, और लक्ष्मण को मारेगा;
साथ ही, शृगाल-तुल्य, सारे शत्रु-दल को
सिन्धु-पार, सिंहनाद कर के, खदेड़ेगा;
बाँध कर लावेगा विभीषण को; चन्द्र को
छोड़ राहु भागेगा, जुड़ेंगी फिर जग की
आँखें अवलोक सो सुधांशु-धन अपना;"
मायाविनी आशा यही गीत आज लंका में,
घर घर, घाट घाट, बाट बाट गाती है;
मग्न फिर राक्षस क्यों मोद-जल में न हों?
एकाकिनी शोकार्ता,अशोकारण्यवासिनी,
रोती राम-कामना अँधेरी कुटिया में हैं
नीरव! सती को दुष्ट चेरी-दल छोड़ के,
घूमता है दूर, मत्त उत्सव की क्रीड़ा में;
प्राणहीना हरिणी को रख के ज्यों सिंहिनी
घूमती अरण्य में है चिन्ता छोड़ मौज से!
मलिनमुखी हैं हाय! देवी, यथा खान के
अन्धकार-गर्भ में (प्रवेश नहीं पाती है

सौरकर-राशि जहाँ) सूर्य्यकान्त मणि हो!
किं वा रमा विम्बाधरा अम्बुराशि-तल में!
करता समीर दूर साँय साँय शब्द है
रह रह, दीर्घश्वास लेता है विलापी ज्यों!
मर्मरनिनाद कर पत्र मानों शोक से
हिलते हैं! डालों पर पक्षी चुप बैठे हैं!
राशि राशि पुष्प पड़े पादपों के नीचे हैं,
मानों मनस्ताप-तप्त हो के तरु-राजि ने
भूषण उतार कर फेंक दिये अपने!
रो के दूर उच्च वीचि-रव से प्रवाहिनी
मानों यह दुःख-कथा कहने समुद्र से
जा रही है। पाती उस घोर वन में नहीं
चन्द्रमा की किरणें प्रवेश-पथ। क्या कभी
समल सलिल में भी खिलता कमल है?
फिर भी अपूर्व उस रूप के प्रकाश से
उज्ज्वल है वह वन, जैसे व्योम विधु से!
बैठी हैं अकेली सती, मानों तमोधाम में
दीप्तिमती आभा आप! ऐसे ही समय में
आयी वहाँ सरमा सहानुभूति रूपिणी।
बैठी वह रोकर सती के पद-प्रान्त में—
रक्षःकुल-राजलक्ष्मी रक्षोबधूरूप में!
नेत्र-जल पोंछ चारुनेत्रा कुछ देर में,
बोली मधुर-स्वर से कि—"देवि, दुष्ट चेरियाँ
छोड़ तुम्हें, आज रात घूमती हैं पुर में;—
और सब मत्त हो महोत्सव में लीन हैं
सुन के यही मैं पद पूजने को आयी हूँ।
सेंदुर की डिब्बी साथ लायी हूँ, निदेश जो
पाऊँ तो लगाऊँ एक बिन्दी भव्य भाल पै।
अक्षय सुहाग है तुम्हारा, यह वेष क्या
सोहता तुम्हें है? हाय! लंकापति क्रूर है!
कौन तोड़ता है पद्म-पर्ण? कैसे, क्या कहूँ,
दुष्ट ने हरे हैं अलंकार इन अंगों के?"
डिब्बी खोल राक्षसबधू ने, अति यत्न से,
सेंदुर की बिन्दी भव्य भाल पर दी अहा!

ज्यों गोधूलि-भाल पर भाती एक तारा है!
बोली पद-धूलि ले के सरमा सु-भाषिणी—
"चाहती क्षमा हूँ, लक्ष्मि! मुझको क्षमा करो,
मैंने देव-वांछित शरीर यह छू लिया!
किन्तु चिरदासी इन चरणों की, दासी है।"
देवी के पदों में फिर बैठ गयी युवती;
सोने की सु-दीवट ज्यों तुलसी के मूल में
जलती हो, करके समुज्ज्वल दिशाओं को!
बोली तब मैथिली यों मंजु-मृदु-स्वर से;—
"कोसती हो व्यर्थ तुम लंकापति को सती,
आभूषण आप ही उतार फेंके मैंने हैं,
जब था वनाश्रम में पापी ने हरा मुझे।
चिह्न-हेतु मैं ने सब मार्ग में वे फेंके थे।
सेतु बन वे ही, आज धीर रघुवीर को
लाये इस लंकापुर में हैं भला विश्व में
मुक्ता, मणि, रत्न, कौन ऐसा है कि जिसको
त्याग नहीं सकती मैं उस धन के लिए?"
बोली सरमा कि "देवि, सुन चुकी दासी है,
श्री मुख तुम्हारे से, तुम्हारे स्वयंवर का
हाल; भला राघवेन्द्र आये क्यों अरण्य में?
कृपया बताओ, कैसे रक्षोराज ने तुम्हें
हरण किया है? यही भिक्षा माँगती हूँ मैं,
बरसाके अमृत, मिटाओ तृषा दासी की।
दूर दुष्ट चेरियाँ हैं; ऐसे अवसर में
देवि, कहो सारी कथा, चाहती हूँ सुनना।
कैसे इस चोर ने छला है आर्य्य राम को?
लक्ष्मण को? घुस किस माया के प्रभाव से
राघव के घर में, चुराया यह रत्न है?"
गोमुखी के मुख से पुनीत वारिधारा ज्यों
बहती है, सुस्वन से, बोली प्रियभाषिणी
सीता सती—"जानकी की तुम हो हितैषिणी
सरमा! तुम्हें जो सखि, सुनने की इच्छा है
तो मैं कहती हूँ, सुनो पूर्व-कथा, ध्यान से।
गोदावरी-तीर पर थे हम सुलोचने!

ऊँचे किसी वृक्ष पर, नीड़ बना कर ज्यों,
रहते हैं पारावत-पारावती प्रेम से।
सुन-वन-तुल्य घन पंचवटी-वन था।
लक्ष्मण सु-लक्षण थे सेवा सदा करते।
दण्डक भाण्डार सखि, जिसका हो उसको
किसका अभाव कहो? देवर सदैव ही
कन्द-मूल और फल-फूल आदि लाते थे;
प्रभु मृगया भी कर लेते थे कभी कभी;
किन्तु जीव-वध से वे सन्तत विरत हैं;
करुणानिधान विभु विश्व में विदित हैं।
पूर्व-सुख भूली मैं। विदेह-राज-नन्दिनी
और रघु-वंश-बधू मैं हूँ, किन्तु सरमा!
परम प्रसन्न हुई मैं उस अरण्य में!
फूलते कुटी के सब ओर नित्य नित्य थे
कितने प्रसून, कहूँ कैसे? वनचारी थे
लाते मधु नित्य! मुझे प्रातःकाल कोकिला
कूज के जगाती वहाँ! कौन रानी हे सखी,
ऐसे मनोहारी सूत-मागधों के गीतों से
आँखें खोलती है, कहो? द्वार आ कुटीर के,
नाचती शिखी के साथ शिखिनी थी सुखिनी।
नर्तकियाँ-नर्तक हैं ऐसे कौन जग में?
अभ्यागत आते नित्य करभी-करभ थे,
शावक कुरंगों के, विहंग बहु रंगों के;
कोई शुभ्र, कोई श्याम, कोई स्वर्णवर्ण के,
कोई चित्रवर्ण, मेघवाहन के चाप-से!
जीव थे अहिंस्र सब। आदर से सब की
सेवा करती थी मैं, सयत्न उन्हें पाल के;
पालती प्रवाहिणी है जैसे मरुभूमि में
तृष्णाकुल प्राणियों को, मेघ के प्रसाद से
आप जलशालिनी हो। आरसी थी सरसी
मेरी वहाँ! रत्न-तुल्य, कुवलय तोड़ के
केशों में पहनती थी, सजती थी फूलों से;
प्रभु हँसते थे, वनदेवी मुझे कह के
कौतुक से! हाय! सखि, क्या मैं प्राणनाथ को

पा सकूँगी फिर भी? ये दग्ध आँखें फिर भी,
तुच्छ इस जन्म में, क्या देख कभी पावेंगी
उन चरणों को, उन आशा-सर-कंजों को
और उन नयनों के रत्नों को? विधातः, हा!
दासी किस पाप से है तेरे यहाँ पापिनी?''
रोई सती नीरव यों कह के विषाद से।
रोई सरमा भी साथ, भीग नेत्र-नीर से।
अश्रु पोंछ बोली कुछ देर में विनीता यों—
''पूर्व-कथा सोच के व्यथा हो यदि चित्त में
तो हे देवि, जाने दो; कहूँ मैं हाय! और क्या?
लाभ क्या है याद करने से उन बातों की?
देख के तुम्हारी इन आँखों में आँसू ये,
इच्छा मरने की मुझे आज यहाँ होती है।''
उत्तर में बोली यों प्रियंवदा (मधुस्वरा
कादम्बा-समान) ''हाय! यह हतभागिनी
रोवेगी न सुभगे, तो और कौन रोवेगी
इस जगती में? सुनो, पूर्व-कथा मैं कहूँ।
वर्षाऋतु में हे सखी, प्लावन की पीड़ा से
कातर प्रवाह, दोनों ओर, निज तीरों के
ऊपर से नीर बहा देता है सदैव ज्यों;
दुःखी मन दुःख निज कहता है औरों से।
कहती इसी लिए हूँ दुःख-कथा मैं, सुनो।
कौन इस शत्रु-गृह में है और सीता का?
गोदावरी-तीर पर, पंचवटी-वन में,
हम सुख से थे। हाय! सखि, उस वन की
कैसे घन-शोभा कहूँ? सर्वदा मैं स्वप्न में
सुनती थी वीणा, वन-देवियों के हाथों से;
देखती थी सौर-कर-राशि-रूप में सदा
क्रीड़ा कंज-कानन में देवबाला-दल की;
साध्वी ऋषि-बधुएँ थीं दासी के उटज में
आती कभी, चन्द्र-किरणें-सी तमोधाम में!
अजिन बिछा के अहा! चित्रित, विचित्र-सा,
दीर्घ तरुओं के तले, बैठती थी मैं कभी;
क्या क्या कहती थी सखी मान कर छाया को!

नाचती थी मृगियों के साथ कभी बन में;
कोकिलों का गान सुन गीत कभी गाती थी;
ब्याह रचती थी वृक्ष-संग नववल्ली का;
चूमती थी मंजरित होते जब दम्पती;
नातिन थी मेरी सखि, एक एक मंजरी!
गूँजते थे भौंरे वहाँ, वे नतजमाई थे!
सरिता-किनारे, प्रभु-संग, कभी सुख से
घूमती थी; देखती थी चंचल सलिल में
मानों नया व्योम, नया सोम, नये तारे मैं!
चढ़ के कभी मैं शैल-शृंग पर, स्वामी के
चरणों में बैठती थी, मानों लता आम्र के
भूल में हो; कितने समादर से मुझको
वाक्यामृत-वृष्टि कर तुष्ट करते थे वे,
किससे कहूँ सो? और कैसे कहूँ हाय! मैं?
कैलासाद्रिवासी व्योमकेश—सुनती हूँ मैं—
शक्ति-संग बैठ कर श्रेष्ठ स्वर्णासन पै,
आगम, पुराण, वेद, पंचतन्त्र की कथा,
पंच वदनों से कहा करते हैं रूपसी!
कितनी कथाएँ सुनती थी उसी भाँति मैं!
जान पड़ता है, इस निर्जन अरण्य में
सुनती हूँ मीठी वह वाणी इस क्षण भी!
दासी के लिए क्या क्रूर दैव, हुआ पूरा है
अब वह गीत?'' हुई मौन दीर्घलोचना,
शोक-वश। बोली तब सरमा मनोरमा—
''राघव-रमणि, बातें सुनके तुम्हारी ये
होती राज-भोग से घृणा है! चाहता है जी,
राज-सुख छोड़ रहूँ ऐसे ही अरण्य में!
किन्तु सोचने से भय होता है हृदय में।
रवि की किरण देवि, तिमिरावृत वन में
होती है प्रविष्ट जब तब निज गुण से
करती प्रकाशित उसे है; किन्तु यामिनी
जाती जिस देश में है, अपने प्रवेश से
मलिन बनाती है उसे ही मधुराशये!
पावन पदार्पण तुम्हारा विश्वमोहिनी,

होगा जहाँ, क्यों न वहाँ सौख्य सब पावेंगे?
विश्वानन्ददायिनी हो देवि! तुम, तुमको
रक्षोराज कैसे हर लाया? कहो मुझसे।
वीणाध्वनि दासी ने सुनी है और है सुनी
कोकिला की कूक, नवपल्लवों के बीच से
सरस वसन्त में; परन्तु इस लोक में
ऐसी मधु-वाणी नहीं और सुनी कल्याणी!
देखो, नील नभ में निहार, वह चन्द्र, जो
मलिन तुम्हारे सामने है, वही मुग्ध हो,
मुदित सुधांशु तब वाक्यामृत पीता है!
नीरव हैं कोकिलादि पक्षी सब वृक्षों के
साध्वि, सुनने को ही तुम्हारी कथा तुमसे।
प्रार्थना है, पूरी करो साध तुम सबकी।''

बोली राघवेन्द्रप्रिया ''आली, इस भाँति से,
सुख से बिताया कुछ काल उसी वन में।
ननद तुम्हारी उस शूर्पणखा दुष्टा ने
अन्त में मचाया महा गोलमाल! लज्जा से
मरती हूँ सरमा सहेली, याद आते ही
बातें उसकी वे! धिक नारि-कुल-कालिमे!
चाहा उस बाघिन ने राघव को वरना
मार मुझे! तब अति कोप करके सखी,
केसरी-समान वीर लक्ष्मण ने उसको
तत्क्षण खदेड़ा दूर। रक्षोदल आ गया,
तुमुल समर हुआ वन में। मैं भय से
अपनी कुटी में घुसी। चापों की टँकोर से
रोई कितना मैं, कहूँ कैसे? नेत्र मूँद के,
हाथ जोड़ देवों को मनाने लगी, स्वामी की
रक्षा करने के लिए। गूँज उठा नभ में
आर्तनाद, सिंहनाद! मैं अचेत हो गिरी।

कब लों पड़ी रही मैं यों ही, नहीं जानती,
राघव ने दासी को जगाया निज स्पर्श से।
मंजु मृदु स्वर से (ज्यों वायु पुष्प-वन में
बोलता वसन्त में है) बोले प्राणकान्त यों—
'उठ अयि प्राणेश्वरि, रघुकुल-सम्पदे!

तेरे योग्य है क्या यही शय्या हाय! हेमांगी?'
वह ध्वनि क्या फिर सुनूँगी सखि, मैं कभी?''
सहसा अचेत हो के जब लों गिरे सती,
व्यग्र सरमा ने शीघ्र पकड़ लिया उसे!
जैसे घोर वन में निषाद सुन पंछी का
शाखा से सुरम्य गान, लक्ष्य कर उसको,
बाण मारता है और छटपट करके
गिरती है नीचे खगी विषम प्रहार से,
वैसे गिरी सरमा की गोदी में पतिव्रता!
पाई कुछ देर में सुलोचनी ने चेतना।
रो के सरमा ने कहा—''मैथिलि, क्षमा करो
मेरा दोष, व्यर्थ यह क्लेश दिया तुमको
मैंने, हाय! मैं हूँ ज्ञानहीना!'' राम-रामा ने
उत्तर दिया यों मृदु स्वर से उसे—''सखी,
दोष क्या तुम्हारा? सुनो पूर्वकथा, ध्यान से।
जाकर मारीच ने छला था किस छल से
(जैसे मरुभूमि में मरीचिका है छलती)
तुम ने सुना है सब शूर्पणखा-मुख से।
लोभ-मग्न हो के सखि, मैं ने हा! कुलग्न में
माँगा था कुरंग! धनुर्बाण लिये उसके
पीछे प्राणनाथ गये, मेरे त्राण के लिए
छोड़ कर देवर को। माया-मृग वन में
करके प्रकाश चला, चपला-विलास-सा!
दौड़े प्राणनाथ पीछे वारणारि-गति से,—
नेत्रों का प्रकाश हाय! खो बैठी अभागी मैं!
दूर आर्तनाद यों सुनाई दिया सहसा—
''हाय! भाई लक्ष्मण, कहाँ हो तुम, मैं मरा!''
सुन के सौमित्रि शूर चौंके, आप चौंकी मैं
और बोली हाथ धर उनका, विनय से,—
जाओ, इस कानन में वीर, वायु-गति से;
देखो तुम्हें कौन है बुलाता? हाय! सुन के
शब्द यह रो उठे हैं प्राण, जाओ शीघ्र ही,
जान पड़ता है, तुम्हें राघव बुलाते हैं।
बोले तब देवर कि—''मानूँ देवि, आज्ञा मैं

क्योंकर तुम्हारी यह? निर्जन अरण्य में
एकाकिनी क्योंकर रहोगी तुम? मायावी
राक्षस न जानें यहाँ घूमते हैं कितने?
क्या डर तुम्हें है? रघुवंश-अवतंस का
कर सकता है बाल बाँका कौन विश्व में,
जो हैं भृगुराम के भी गुरु बल-वीर्य्य में?
फिर भी सुनाई दिया आर्तनाद—'मैं मरा,
हाय! भाई लक्ष्मण, कहाँ हो? कहाँ सीते, तू
इस विपदा में!' सखि, धैर्य्य सब छोड़ के
लक्ष्मण का हाथ छोड़, कु-क्षण में बोली मैं—
'अति ही दयावती सुमित्रा सास मेरी हैं;
कौन कहता है क्रूर, गर्भ में उन्होंने है
रक्खा तुझे? तेरा हिया पत्थर का है बना!
जान पड़ता है, जन्म दे के घोर वन में
बाघिन ने पाला तुझे दुर्मति रे! भीरु रे!
वीर-कुल-ग्लानि रे! स्वयं मैं अभी जाऊँगी,
देखूँगी कि कौन, करुणा से, दूर वन में
मुझको पुकारता है?' तत्क्षण ही क्रोध से
रक्तनेत्र वीर-मणि लेकर धनुष को,
पीठ पर तूण बाँध, मेरी ओर देख के
बोले—'तुम्हें माता-सम मानता हूँ मैथिली!
सहता इसी से यह व्यर्थ भर्त्सना हूँ मैं।
जाता हूँ अभी मैं, तुम सावधान रहना;
कौन जानें, क्या हो आज, दोष नहीं मेरा, मैं
छोड़ता हूँ तुमको तुम्हारे ही निदेश से।'
कह के यों वीर घोर वन में चले गये।
प्रिय सखि, कितना मैं सोच करने लगी
बैठ के अकेले में, कहूँ क्या भला तुमसे?
जाने लगा समय, निनाद कर हर्ष से
खग, मृग आदि जीव आये, सदाव्रत जो
पाते थे फलों का वहाँ प्रतिदिन मुझ से।
विस्मय समेत देखा, बीच में था उनके
योगी एक अग्नि-सा, रमाये जो विभूति था।
हाथ में कमण्डलु था, सिर पै जटाएँ थीं।

हाय! सखि, जानती जो मैं कि पुष्पराशि में
पन्नग छिपा है और जल में गरल है,
तो क्या पड़ पृथ्वी पर करती प्रणाम मैं?
बोला तब मायावी 'विदेहसुते! भिक्षा दो,
(अन्नदा तुम्हीं हो यहाँ) अतिथि क्षुधार्त है।'
घूँघट निकाल कर, हाथ जोड़, बोली मैं—
'बैठ अजिनासन पै देव, तरु के तले
करिए विश्राम; अभी राघवेन्द्र आते हैं
भ्राता के समेत।' तब दुष्टमति बोला यों—
(समझ सकी न कोप कृत्रिम मैं उसका)
'अतिथि क्षुधार्त हूँ मैं, कहता हूँ भिक्षा दे,
नाहीं कर अन्यथा कि जाऊँ और ठौर मैं।
वैदेही, विरत है क्या सेवा से अतिथि की
आज? करती है क्या कलंकित तू रघु का
वंश, रघुवंश-बधू, बोल, ब्रह्मशाप की
करती अवज्ञा आज तू है किस गर्व से?
भिक्षा दे, नहीं तो शाप देकर मैं जाता हूँ।
होंगे राम राक्षस दुरन्त मेरे शाप से।'
लज्जा छोड़ हाय! सखि, भिक्षा-द्रव्य ले के मैं
निकली सभीत, बिना सोचे दृढ़ जाल में
रक्खा पैर मैं ने; तभी हा! तुम्हारे जेठ ने,
करके कठोर हास्य पकड़ लिया मुझे!
इन्दुमुखि, एक बार राघव के साथ मैं
घूमती थी कानन में; दूर एक हरिणी
चरती थी गुल्म के समीप सुना सहसा
घोर नाद; देखा भययुक्त दृष्टि डाल के,
वज्राकृति एक बाघ टूट पड़ा उस पै!
'रक्षा करो नाथ!' कह पैरों गिरी प्रभु के।
क्षण में शरानल से भस्म किया बाघ को
धीर रघुवीर ने। उठा के अति यत्न से
मैं ने वन-शोभा को बचाया। राक्षसेन्द्र ने
आली, उसी व्याघ्र-सम धर लिया मुझ को!
आया नहीं किन्तु कोई स्वजनि, बचाने को
इस हतभागी हरिणी को उस काल में।

भर दिया मैं ने वन हाहाकार-रव से।
क्रन्दननिनाद सुना; माता वनदेवियाँ—
जान पड़ा—रोईं व्यग्र, दुःख देख दासी का!
किन्तु वह क्रन्दन था व्यर्थ; वह्नि-तेज से
लोहा गलता है, वारिधारा गला सकती
है क्या उसे? अश्रविन्दु कठिन हिया कभी
मानता है? हाय!

जटाजूट दूर हो गया,
साथ ही कमण्डलु भी; राजरथी-रूप में
डाल लिया दुष्ट ने सुवर्ण-रथ में मुझे!
क्या क्या कहा क्रूर ने न जानें, कभी रोष से
गरज गरज, कभी सु-मधुर स्वर से;
याद कर आज भी मैं मरती हूँ लज्जा से।

दौड़ाया रथी ने रथ। भेकी कालसर्प के
मुख में पड़ी हुई ज्यों रोवे वृथा रोई मैं।
स्वर्ण-रथ-चक्रों ने स्व घर्घर निनाद से
पूर्ण किया वन को, डुबा के हतभागी का
आर्तनाद! जब कि प्रभंजन के वेग से
चड़मड़ हो के पेड़ हिलते हैं वन में,
सुन सकता है कौन कूजन कपोती का?
हो के निरुपाय तब मैं ने शीघ्र खोल के
कंकण, वलय, हार, माँग, माला कण्ठ की,
कुण्डल, मंजीर, कांची आदि सब गहने
फेंक दिये मार्ग में; इसीसे दग्ध देह को
रक्षोबधू, आभूषणहीन तुम पाती हो।
भूषणों के अर्थ व्यर्थ रावण की निन्दा है।''

मौन हुई चन्द्रमुखी। बोली तब सरमा—
''अब भी तृषातुरा है दासी यह, मैथिली!
दो इसे सुधा का दान। सफल हुए अहा!
कर्णों के कुहर आज मेरे!'' मृदु स्वर से
इन्दुमुखी उससे यों फिर कहने लगी—

''इच्छा सुनने की यदि है तो सुनो, ललने!
दूसरा सुनेगा कौन दुःख-कथा सीता की?
हर्ष से फँसा के व्याध जाल में ज्यों पंछी को,

जाता घर को है त्यों चलाया रथ दुष्ट ने
और वह पंछी यथा तोड़ने को जाल को
छटपट करता है, रोई सखि, व्यर्थ मैं।
व्योम, सुनो, शब्दवह तुम कहलाते हो,
(कहने लगी मैं, मन मन में) इस दासी की
दुर्दशा सुनाओ वहाँ शीघ्र घोर नाद से,
रघुकुल-चूड़ामणि प्राणाधार हों जहाँ,
और जहाँ देवर हों मेरे विश्वविजयी
लक्ष्मण। हे वायु, तुम गन्धवह हो; तुम्हें
दूत मानती हूँ निज, जाओ जहाँ प्रभु हों
सत्वर; रे मेघ, तुम व्यक्त भीमनादी हो;
शीघ्र ही पुकारो धीर गर्जन से स्वामी को!
ए हो मधु-लोभी अलि, छोड़ कर फूलों को,
गूँजो, जहाँ राघवेन्द्र घूमते हों कुंज में,
जानकी का हाल कहो; गाओ मधु-मित्र हे
पिक, तुम पंचम में शोक-गीत सीता का!
शीघ्र ही सुनेंगे प्रभु तुम जो सुनाओगे।
रोई इसी भाँति मैं, किसी ने भी नहीं सुना!
स्वर्ण-रथ चला शीघ्र पार करता हुआ
अभ्रभेदी शैल-शृंग, वन, नद, नदियाँ
और नाना देश। स्वयं पुष्पक की गति को
देखा तुमने है, कहूँ व्यर्थ क्या मैं सरमा?
घोर सिंहनाद सुना मैं ने कुछ देर में
सामने! सभीत अश्व काँप उठे, सोने का
स्यन्दन अनस्थिर-सा होने लगा साथ ही!
आँखें खोल देखा वीर मैं ने शैल-पृष्ठ पै
भीममूर्ति! मानों कालमेघ हो प्रलय का!
'जानता हूँ तुझ को मैं' वीर धीरनाद से
बोला—'चोर है तू अरे रावण है लंका का।
दुष्ट, हर लाया आज कुलबधू कौन तू?
कहरे, अँधेरा किया तू ने किस गेह में,
ऐसे प्रेम-दीप को बुझा के? नित्य कर्म है
तेरा यही। आज अपवाद अस्त्रि-दल का
मेट दूँगा, मार कर तीक्ष्ण शर से तुझे!

आ रे मूढ़ बुद्धि! रक्षोराज, तुझे धिक है!
कौन ब्रह्ममण्डल में पामर है तुझ-सा?'
कह के यों शूर-सिंह गरजा तुरन्त ही।
होकर अचेत गिरी रथ में स्वजनि मैं!
चेत पाके देखा फिर, पृथ्वी पर हूँ पड़ी;
बूझता है रथारूढ़ रक्षोरथी व्योम में
करके हुंकार घोर उस वर वीर से।
अबला की रसना बखाने उस युद्ध को
क्यों कर? सभीत मैं ने मूँद लिया आँखों को!
रो रो कर देवों को मनाया, उस वीर के
पक्ष में हो मारने को राक्षसेन्द्र वैरी के,
लेने को उवार इस दासी को विपत्ति से!
फिर मैं उठी कि छिपूँ घुसके अरण्य में,
भाग जाऊँ दूर कहीं। किन्तु गिरी हाय रे!
खाकर पछाड़, मानों घोर महि-कम्प में!
पृथ्वी को मनाया—'इस निर्जन प्रदेश में,
मेरी माँ! द्विधा हो निज अंक में अभागी को
ले लो; साध्वि, सहती हो कैसे तुम दुःखिनी
बेटी की कठोर व्यथा? आओ, त्वरा करके!
दुष्ट अभी लौटेगा कि जैसे घोर रात में
लौटता है चोर, जहाँ रखता छिपाके है
पर-धन-रत्न-राशि! तारो मुझे आ के माँ!'
तुमुल समर हुआ व्योम में हे सुन्दरी,
काँपी धरा; गूँजा वन भीषण निनाद से!
मैं फिर अचेत हुई। सुन लो हे ललने,
ध्यान देके सुन लो, अपूर्व कथा सजनी!
देखा निज माता सती वसुधा को स्वप्न में
मैं ने! मुझे गोद में उठा के वे दयामयी
बोलीं मधु-वाणी—'तुझे विधि के विधान से
हरता है रक्षोराज; बेटी, इसी पाप से
डूबेगा सवंश दुष्ट! भार अब उसका
सह नहीं सकती मैं, तुझको इसी लिए—
लंका के विनाश-हेतु—रक्खा था स्वगर्भ में!
जिस क्षण देह छुआ तेरा उस पापी ने,

जान लिया मैं ने, विधि मुझ पै प्रसन्न है
इतने दिनों के बाद; आशीर्वाद तुझको
मैं ने दिया, जननी का दुःख तू ने मेटा है
सीते! भवितव्य-द्वार खोलती हूँ, देख तू।'
देखा सखि, सम्मुख कि अभ्रभेदी अद्रि है;
पाँच वीर बैठे वहाँ, मग्न-से हैं दुःख में।
लक्ष्मण समेत प्रभु ऐसे ही समय में
आये वहाँ। देख उन्हें विरसवदन, मैं
कितनी अधीर हुई, रोई तथा कितनी,
उसको कहूँ क्या? तब उन सब वीरों ने
पूजा रघुनाथ की की, लक्ष्मण की पूजा की
सब हो इकट्ठे चले सुन्दर नगर को।
मार उस नगरी के राजा को समर में,
प्रभु ने बिठाया फिर राजसिंहासन पै
उसको जो श्रेष्ठ उन पाँचों पुरुषों में था।
दौड़े दूत चारों ओर; दौड़ आये शीघ्र ही
लाख लाख शूर-सिंह घोर कोलाहल से।
काँप उठी पृथ्वी सखि, वीर-पद-भार से!
डर कर मैं ने नेत्र मूँद लिये, बोली माँ
हँस कर 'किससे तू डरती है जानकी?
तेरे ही उबारने को सजता सुकण्ठ है
मित्रवर कीशराज। तेरे प्राणपति ने
मारा जिस शूर को है, वालि नाम उसका
विश्रुत है। देख, वह किष्किंधा नगर है।
शक्र-सम शूर-दल सजता है, देख तू।'
देखा तब मैं ने, वीर-वृन्द, जलस्रोत ज्यों
चलता है वर्षा में गर्ज कर गर्व से!
निविड़ अरण्य हुए चड़मड़, नदियाँ
सूख गयीं, भागे वन-जीव दूर, भय से;
पूरित दिशाएँ हुईं घोर कोलाहल से।
सिन्धु के किनारे सब सैन्य-दल पहुँचा।
जल पै शिलाएँ उतराती हुई सजनी,
देखीं तब मैं ने। शीघ्र शत शत वीरों ने
शैलों को उखाड़ कर फेंक दिया सिन्धु में।

शिल्पियों ने बाँधा यों अपूर्व सेतु मिल के।
पहनी जलेश पाशा ने ही स्वयं शृंखला
पैरों में सहर्ष सखि, प्रभु के निदेश से!
लाँघ के अलंघ्य जल-राशि वीर-मद से
पार हुआ कटक! सुवर्णपुरी सहसा
काँप उठी वैरियों के भूरि-पद-भार से;
'जय रघुवीर जय' नाद किया सबने।
रोई हर्ष से मैं; हेम-मन्दिर में सजनी,
देखा हेम-आसन पै मैं ने राक्षसेन्द्र को।
उसकी सभा में एक वीर धर्म्म-सम था
धीर; वह बोला—'पद पूजो रघुनाथ के,
लौटा कर जानकी को; वंश-युत अन्यथा
रण में मरोगे!' मद-मत्त राघवारि ने
कहके कुवाक्य पदाघात किया उसको!
शूर वह साभिमान मेरे प्राणपति की
सेवा में चला गया तुरन्त।'' बोली सरमा—
''दुःखी, देवि, कितने तुम्हारे दुःख से हैं वे
रक्षोराज-अनुज, कहूँ सो किस भाँति मैं?
सोच के तुम्हारी दशा दोनों हम, बहुधा,
रोये कितने हैं, कह सकता है कौन सो?''
''जानती हूँ सखि, मैं'' यों बोली तब जानकी,—
''मेरे श्री विभीषण अतीव उपकारी हैं;
स्वजनी हो तुम भी उसी प्रकार सरमा!
जीवित यहाँ जो है अभागिनी जनकजा,
सो बस, तुम्हारे दया-गुण से दयावती!
अस्तु, सुनो, सुमुखि, अपूर्व स्वप्न आगे का—
रक्षोगण सजे, रक्षोवाद्य बजे; व्योम में
गूँजा नाद। काँपी सखि, देख के मैं वीरों को,—
विक्रम में केसरी-से, तेज में कृशानु-से!
कितनी लड़ाई हुई, कैसे मैं कहूँ भला?
बह चली रक्त-नदी; देखे उच्च गिरि-से
मृतकों के ढेर मैं ने भीषण समर में!
उद्धत कबन्ध, भूत, प्रेत आये दौड़ के;
गृद्ध्रादिक मांस-भोजी पक्षी दौड़ आये त्यों;

सैकड़ों शृगाल, श्वान आये पंक्ति बाँध के।
भीषणता-पूर्ण हुई हेमलंका नगरी!
देखा सभा-मध्य फिर राक्षसों के राजा को,
शोकाकुल, म्लानमुख, आँसू भरे आँखों में!
दर्पहीन, राघव के विक्रम से युद्ध में!
बोला सविषाद वह—'तेरे मन में यही
था क्या विधे, जाओ, हा! जगाओ सब यत्न से
शूली शम्भु-तुल्य मेरे भाई कुम्भकर्ण को।
और कौन रक्षःकुल-मान अब रक्खेगा,—
रख न सकेगा यदि अब वह आप ही?'
दौड़े यातुधान, बजे बाजे घोर नाद से;
साथ ही शुभध्वनि की नारियों ने मिल के।
भीममूर्ति रक्षोरथी प्राप्त हुआ युद्ध में।
मेरे प्रभु राघव ने, खर तर बाणों से
(कौशल विचित्र ऐसा विश्व में है किसका?)
काटा सिर उसका! अकाल में ही जाग के
सोया सर्वदा को वह शूर-सिंह सजनी!
'जय रघुवीर' नाद मैं ने सुना हर्ष से;
रोया राक्षसेन्द्र, हाहाकार हुआ लंका में!
चारों ओर क्रन्दननिनाद सुन काँपी मैं;
पैरों पड़, माँ से सखि, बोली यों अधीर हो—
'रक्षःकुल-दुःख देख छाती फटती है माँ!
दूसरे के दुःख से है दासी सदा दुःखिनी;
मुझको क्षमा करो माँ!' बोली हँस वसुधा—
'बेटी, सब सत्य है जो तू ने यह देखा है;
रावण को दण्ड देंगे तेरे पति, लंका को
छिन्न भिन्न करके। निहार और देख तू'—।
देखा सखि, मैं ने फिर देवबाला-वृन्द को,
हाथों में लिये था जो अनेकानेक गहने,
पारिजात-पुष्पहार, पट्ट-वस्त्र! हँस के,
घेर लिया आके मुझे उसने तुरन्त ही।
बोल उठी कोई—'उठ साध्वि, आज रण में
रावण का अन्त हुआ!' कोई कहने लगी—
'उठ रघुराज-धन, उठ अविलम्ब, तू

स्नान कर देवि, दिव्य, सुरभित नीर से,
पहन विभूषण ये। आप शची इन्द्राणी,
सीता का करेंगी दान आज सीतानाथ को!'
बोली सखि सरमा, मैं हाथ जोड़—'देवियो,
काम क्या है ऐसे वस्त्र-भूषणों का दासी को?
ऐसी ही दशा में मुझे आज्ञा दो कि जाऊँ मैं
स्वामी के समीप; सीता दीना और हीना है,
ऐसी ही दशा में उसे देखें प्रभु उसके।'
बोलीं सुरबालाएँ—'सुनो, हे सति मैथिली!
रहती मलिन मणि गर्भ में है खान के,
देते हैं परन्तु परिष्कार कर राजा को।'
रो के, हँस के मैं सखि, शीघ्र हुई सज्जिता।
दीख पड़े मुझको अदूर प्रभु, हाय! ज्यों
हेम उदयाद्रि पर देव अंशुमाली हों!
पागल-सी दौड़ी पैर धरने को ज्यों ही मैं
जाग पड़ी सहसा, सखीरी, यथा दीप के
बुझने से होता है अँधेरा घोर घर में,
मैं क्या कहूँ और, मेरी ऐसी ही दशा हुई!
विश्व अन्धकारमय दीख पड़ा मुझको।
मर न गयी क्यों हा विधे, मैं उसी काल में?
दग्ध प्राण देह में रहे ये किस साध से?''
मौन हुई चन्द्रमुखी, टूटने से तार के
होती यथा वीणा है! स-खेद रोई सरमा
(रक्षःकुल-राजलक्ष्मी रक्षोबधू-वेश में)
बोली—''शीघ्र प्रिय से मिलोगी तुम मैथिली!
सच्चा है तुम्हारा स्वप्न, कहती हूँ तुम से।
तेरी हैं शिलाएँ जलमध्य, हत हो चुका
देव-दैत्य-नर-त्रास कुम्भकर्ण रण में;
सेवा करते हैं देवि, जिष्णु रघुनाथ की
सुहृद विभीषण ले लक्ष लक्ष वीरों को।
पाकर उचित शास्ति होगा हत रण में
रावण; सवंश वह दुष्टबुद्धि डूबेगा!
कृपया सुनाओ अब, आगे फिर क्या हुआ?
लालसा असीम मुझे सुनने की हो रही।''

कहने लगी यों फिर साध्वी मृदु स्वर से—
"आँखें खोल देखा सखि, रावण को सामने;
भूपर पड़ा था वह शूर-सिंह पास ही,
तुंग गिरि-शृंग मानों वज्र के प्रहार से!
बोला प्रभु वैरी—"खोल इन्दीवर-नेत्रों को,
इन्दुमुखि, रावण की शक्ति तुम देख लो!
विश्रुत जटायु आयु-हीन हुआ मुझ से!
मूढ़ गरुड़ात्मज मरा है निज दोष से!
वर्वर से किसने कहा था, लड़े मुझसे?"
"धर्म्म-कर्म्म रखने को रण में मरा हूँ मैं
रावण!" यों बोला वह वीर मृदु स्वर से—
"सम्मुख समर में मैं मर कर स्वर्ग को
जाऊँगा। परन्तु तेरी होगी क्या दशा? उसे
सोच तू! श्रृगाल हो के, लोभी, हुआ लुब्ध तू
सिंही पर! कौन तेरी रक्षा कर पायगा
राक्षस? पड़ा तू घोर संकट में आप ही,
चोरी करके रे, इस रामा-कुल-रत्न की!"
मौन हुआ वीर यह कह कर। मुझको
रथ में चढ़ाया फिर लंकापति मूढ़ ने।
हाथ जोड़ रोई सखि, मैं उस सुभट से—
'सीता नाम है हे देव, दासी का, जनक की
दुहिता हूँ और बधू हूँ मैं रघुवंश की;
सूने घर में से मुझे पापी हर लाया है;
राघव से भेट हो तो हाल यह कहना।'
घोर रव-युक्त रथ वायु-पथ में उठा।
भीम रव मैं ने सुना और देखा सामने
नील-ऊर्म्मिमाली-सिन्धु! कोलाहल करके
अतल-अकूल जल बहता सदैव है।
चाहा जलमध्य मैं ने कूद कर डूबना;
रोक लिया दुष्ट ने परन्तु मुझे बल से!
सिन्धु को पुकारा मैं ने और जल जीवों को,
मन में; परन्तु हा! किसी ने भी नहीं सुना,
कर दी अभागी की अवज्ञा! व्योम-पथ में
हेम-रथ जाता था मनोरथ की गति से।

आयी अविलम्ब स्वर्ण-लंकापुरी सामने,
सागर के भाल पर रंजन की रेखा-सी!
किन्तु सखि, कारागार स्वर्ण का भी क्यों न हो,
अच्छा लगता है क्या परन्तु वह बन्दी को?
स्वर्ण के भी पींजड़े में पंछी सुखी होगा क्या,
करता विहार है जो मुक्त कुंज-वन में?
कु-क्षण में जन्म हुआ मेरा सखि सरमा!
राज-कुल-बधू और राज-नन्दिनी हूँ मैं,
वन्दिनी हूँ तो भी!'' सती रोई गला धर के
सरमा का, साथ साथ रोई स्वयं सरमा।

आँसू पोंछ बोली कुछ देर में सुलोचना
सरमा कि—'देवि, कौन विधि के विधान को
तोड़ सकता है? किन्तु वसुधा ने जो कहा
जानो उसे सत्य। यह दैव की ही इच्छा है,
तुमको जो मूढ़ लंकानाथ हर लाया है!
डूबेगा सवंश दुष्ट। वीर-योनि लंका में
शेष अब कौन रहा वीर? विश्वविजयी
योद्धा सब हैं वे कहाँ? देखो, सिन्धु-तट पै,
खाते शव-राशियाँ हैं जीव शव-भोजी जो!
और सुनो, कान देके, विधवा सु-बधुएँ
रो रही हैं घर घर! दुःख-निशा शीघ्र ही
बीतेगी तुम्हारी यह, स्वप्न फल लावेगा;
विद्याधरी-वृन्द आ के, पारिजात-पुष्पों से,
अंग ये अपूर्व रंग पूर्वक सजावेगा!
स्वामी से मिलोगी तुम, सरस वसन्त में
वसुधा विलासिनी ज्यों मिलती है मधु से।
भूलना न साध्वि! इस दासी को, जियूँगी मैं
जब तक, नित्य इस प्रतिमा को प्रेम से
पूजती रहूँगी, यथा पूजती है रात में
सरसी सहर्ष निज कौमुदी विभव को!
पाये बहु क्लेश इस देश में सु-केशिनी,
तुमने हैं; किन्तु नहीं दोषी यह दासी है।''
सु-स्वर से बोली तब सीता—''सखि सरमे!
तुम-सी हितैषिणी है मेरी कौन दूसरी?

तुम मरुभूमि की प्रवाहिणी-सी मेरी हो,
रक्षोबधू! मैं हूँ तप-तापिता-सी, तुमने
ठण्ढी छाँह बन के बचा लिया है मुझको!
तुम हो समूर्ति दया, क्रूर इस देश में।
पद्मिनी हो प्यारी, इस पंकिल सलिल की!
कालनागिनी है हेमलंका, तुम उसकी
स्वच्छ शिरोमणि हो! कहूँ क्या सखि, और मैं?
दीना जानकी है, महामूल्य मणि तुम हो;
पाकर दरिद्र जन रत्न, कभी उसको
रखता अयत्न से है? सोचो तुम्हीं सुन्दरी!''
करके प्रणाम चरणों में सती सीता के
बोली सरमा कि—बिदा दो अब दयामयी!
दासी को। नहीं ये प्राण, रघुकुल-पद्मिनी,
छोड़ा तुम्हें चाहते हैं; किन्तु मेरे स्वामी हैं
राघव के दास; मैं तुम्हारे पद-पद्मों में
आ के, बैठ, बातें करती हूँ, यह बात जो
रावण सुनेगा, क्रुद्ध होगा, मैं विपत्ति में
पड़ के न दर्शन तुम्हारे फिर पाऊँगी!''
बोली तब मैथिली कि—''जाओ सखि,
शीघ्र ही
तुम निज गेह; पद-शब्द सुनती हूँ मैं
दूर, जान पड़ता है, चेरी-दल आता है।''
भय से कुरंगी यथा, शीघ्र गयी सरमा;
रह गयीं देवी उस निर्जन प्रदेश में—
एक मात्र फूल मानों शेष रहा वन में!

इति श्री मेघनाद-वध काव्ये
अशोक वनं नाम
चतुर्थः सर्गः

पंचम सर्ग

हँसती है तारामयी रात्रि सुरपुर में।
चिन्ताकुल किन्तु आज वैजयन्त धाम में
हो रहा महेन्द्र; छोड़ फूल-शय्या, मौन हो
बैठा है त्रिदिवराज रत्न-सिंहासन पै;
सोते स्वर्ण-मन्दिरों में और सब देव हैं।
बोली साभिमान यों सुरेश्वरी सुवाणी से—
"दोषी यह दासी है सुरेन्द्र किस दोष से
इन चरणों में? कहो शयनागार में नहीं
करते गमन जो ये? देखो, क्षण क्षण में,
मूँदती हैं, खोलती हैं आँखें, चौंक भय से—
उर्वशी समेत रम्भा, मेनका, तिलोत्तमा,
चित्र में लिखी-सी स्पन्द-हीन चित्रलेखा है!
देव! निद्रादेवी भी तुम्हारे डर से नहीं
आती है तुम्हारे पास, विदित विरामदा;
डरती है और वह किससे? बताओ तो,
जागता है कौन, कहाँ, घोर इस रात में?
घेर लिया आके फिर दानवों ने स्वर्ग क्या?"
बोला असुरारि—"देवि, सोचता हूँ मन में,
लक्ष्मण करेंगे वध कैसे मेघनाद का?
वीर-रत्न रावणि अजेय है जगत में!"
"पाये अस्त्र तो हैं नाथ," बोली तब इन्द्राणी,
निरवधि-यौवना, कि—"तारक को जिन से
मारा तारकारि ने था; हैं तुम्हारे पक्ष में,
भाग्य से, महेश; स्वयं शंकरी ने दासी को
वचन दिया है कल कार्य्य सिद्ध होने का;

देवीश्वरी माया बता देंगी स्वयं शत्रु के
वध का विधान; फिर क्यों है यह भावना?"
बोला दैत्यनाशी—"सुरेन्द्राणि,यह ठीक है;
भेज दिये राघव के पास मैं ने अस्त्र भी;
फिर भी, न जानें, कल माया किस युक्ति से
लक्ष्मण का रक्षण करेंगी, पक्ष ले के भी,
रक्षोरण-मध्य विशालाक्षि! जानता हूँ मैं,
अति वलशाली हैं सुमित्रा-पुत्र; फिर भी,
पार पाता है क्या गजराज मृगराज से?
चन्द्रमुखि, वज्र का निनाद सुनता हूँ मैं;
घर्घर घनों का घोष, और देखता हूँ मैं
उद्धत इरम्मद को; मेरे ही विमान में
बिजली चमकती है नित्य; किन्तु फिर भी
थर थर काँपती है छाती, जब क्रुद्ध हो
नाद करता है मेघनाद हुहुंकार से,
छोड़ता है अग्निमय बाण, रख धन्वा पै,
दीर्घधन्वी; भागता है ऐरावत आप ही
उसके भयानक प्रहारों से विकल हो!"
दीर्घ श्वास ले के सविषाद हुआ वृत्रहा
मौन; दीर्घ श्वास ले, विषाद से, स्वरीश्वरी
(रोते हैं सती के प्राण नित्य पति-दुःख से)
बैठी देवपति के समीप। रम्भा, उर्वशी,
चित्रलेखा आदि चारों ओर खड़ी हो गयीं;
चन्द्र-किरणों ज्यों चुपचाप बन्द पद्मों को
घेरती निशा में हैं; कि शारदीय पर्व में,
दीपावली अम्बिका के पीठतल में यथा,
हर्ष में निमग्न जब वंगवासी होते हैं,
पा के चिरवांछा-मूर्ति माँ को! मौन भाव से
दम्पति विराजे। वहाँ ऐसे ही समय में
आप मायादेवी हुईं प्राप्त! बढ़ी दुगनी
देवालय-मध्य रत्न-सम्भवा-विभा अहा!
ज्यों मन्दार-हेमकान्ति नन्दन विपिन में
सौर-कर-राशि पाके बढ़ती है क्षण में।
सादर प्रणाम किया, झुक पद-पद्मों में,

देव और देवी ने। शुभाशीर्वाद माया दे,
बैठी हेम-आसन पै। हाथ जोड़ बोला यों
बासव कि—"माता! कहो दास से, क्या इच्छा है?"
बोली मायामयी—"आदितेय लंकापुर को
जाती हूँ, तुम्हारा कार्य्य सिद्ध करने को मैं;
रक्षःकुल-चूड़ामणि को मैं आज युक्ति से
चूर्ण कर दूँगी। वह देखो, रात जाती है;
शीघ्र भवानन्दमयी ऊषा उदयाद्रि पै
दीखेगी; पुरन्दर, सरोज-रवि लंका का
अस्त होगा! लक्ष्मण को लेकर, निकुम्भला—
यज्ञागार में करूँगी राक्षस को माया से
वेष्टित। निरस्त्र, बली, दैव-अस्त्राघात से,
होकर अशक्त, असहाय (यथा जाल में
केसरी) मरेगा; कौन विधि के विधान को
लाँघ सकता है? अन्त रावणि का रण में
होगा; किन्तु रावण सुनेगा जब इसको,
कैसे बचाओगे तुम लक्ष्मण को? राम को?
और, विभीषण को—अभिन्न राम-मित्र को?
होकर अधीर हे सुरेन्द्र, सुत-शोक से,
रण में प्रविष्ट जब होगा क्रुद्ध काल-सा
भीमभुज वीर-वर, साध्य तब किसका,
लौटा सके उससे जो? शक्र, इसे सोच लो।"
उत्तर में बोला शचीकान्त—"महामाये, जो
मारा जाय मेघनाद लक्ष्मण के बाणों से,
तो कल प्रविष्ट हो के, ले के सुर-वाहिनी,
लंका के समर में, मैं उनको बचाऊँगा।
डरता नहीं माँ, मैं तुम्हारे अनुग्रह से,
रावण को! मारो तुम, माया-जाल डाल के,
पहले दुरन्त उस रक्षःकुल-दर्प को,
देवि! रण-दुर्मद को,—रावणि को; राम हैं
प्यारे देव-कुल के, लड़ेंगे उनके लिए
देव प्राण-पण से। स्वयं मैं कल मर्त्य में
जाकर करूँगा भस्म राक्षसों को वज्र से।"

"योग्य है अदिति-रत्न, वज्री, यही तुम को,"
माया ने कहा कि—"मैं प्रसन्न हुई सुन के
बातें ये तुम्हारी; अब अनुमति दो कि मैं
जाऊँ हेमलंका-धाम।" शक्तीश्वरी कह यों,
दोनों को शुभाशीर्वाद दे कर चली गयी।
आके नत निद्रा हुई पैरों में सुरेन्द्र के।
पकड़ प्रिया का पाणि-पद्म, कुतूहल से,
वासव प्रविष्ट हुआ शयन-निकेत में,
सुख का निवास था जो! चित्रलेखा, उर्वशी,
रम्भा, मेनकादि गयीं निज निज गेहों में।
खोल खोल नूपुरादि आभूषण, कंचुकी,
सोईं फूल-सेजों पर सौर-कर-रूपिणी
सुन्दरी सुरांगनाएँ। वायु बहने लगा
सुस्वन से, गन्ध-पूर्ण, क्रीड़ा करके कभी
काली अलकों से; कभी उन्नत उरोजों से
और कभी इन्दु-वदनों से; मत्त भृंग ज्यों
खेलता है पाकर प्रफुल्ल फुलवारी को!
माया महादेवी यहाँ स्वर्ग के—सुवर्ण के—
द्वार पर पहुँची, सु-नाद कर आप ही
खुल गया हेम-द्वार। आ के विश्वमोहिनी
बाहर, बुला के ध्यान से ही स्वप्नदेवी को,
बोली—"तुम जाओ अभी हेम लंकापुर में,
हैं सौमित्रि शूर जहाँ शोभित शिविर में।
रख के सुमित्रा-रूप, बैठ कर उनके
सिर के समीप, कहो जाकर यों रंगिणी!—
'उठ प्रिय वत्स, देख, बीत रही रात है।
उत्तर में लंका के सु-घोर वन-राजि है;
बीच में सरोवर है, तीर पर उसके—
शोभित है मन्दिर अपूर्व महाचण्डी का;
स्नान कर वत्स, उसी स्वच्छ सरोवर में,
तोड़ के विविध पुष्प, पूजो भक्ति-भाव से
माँ को—दैत्य-दलिनी को। उनके प्रसाद से
मारोगे सहज तुम राक्षस दुरन्त को!

जाना हे यशस्वि, उस वन में अकेले ही।'
जाओ, अविलम्ब स्वप्नदेवि, तुम लंका को;
बीतती है रात, देखो, काम नहीं देर का।''

स्वप्नदेवी चल दी, सुनील नभस्थल में
करके उजेला, खसी पृथ्वी पर तारा-सी!
पहुँची तुरन्त, जहाँ सुन्दर शिविर में
रामानुज वीर थे; सुमित्रा-रूप रख के,
सिर के समीप बैठ उनके कुहकिनी
कहने लगी यों—सुधासिक्त मृदुस्वर से—
'उठ प्रिय वत्स, देख, बीत रही रात है।
उत्तर में लंका के सु-घोर वन-राजि है;
बीच में सरोवर है, तीर पर उसके
शोभित है मन्दिर अपूर्व महाचण्डी का।
स्नान कर वत्स, उसी स्वच्छ सरोवर में,
तोड़ के विविध पुष्प, पूजो भक्तिभाव से
माँ को—दैत्यदलिनी को। उनके प्रसाद से
मारोगे सहज तुम राक्षस दुरन्त को!
जाना हे यशस्वि, उस बन में अकेले ही।'

चौंक उठ वीर चारों ओर लगा देखने;
भीग गया आँसुओं से वक्षःस्थल हाय रे!
''हे माँ!'' महावीर सविषाद कहने लगा—
''दास पर वाम हो क्यों, बोलो, तुम इतनी?
फिर भी दिखाई पड़ो, पूज पद-पद्म मैं,
ले के पद-धूलि करूँ पूरी निज कामना
मेरी माँ! बिदा मैं जब होने लगा तुम से,
रोईं कितनी थीं तुम, याद करके उसी
छाती फटती है! हाय! व्यर्थ इस जन्म में
देखूँगा पुनः क्या पद युग्म?'' आँसू पोंछ के,
चला वीर-कुंजर सु-कुंजर की चाल से,
रघुकुल-राज प्रभु आप जहाँ बैठे थे।

अनुज प्रणाम कर अग्रज के पैरों में,
बोले—''प्रभो, देखा स्वप्न अद्‌भुत है मैंने यों—
बैठ के सिराने कहा मेरी माँ सुमित्रा ने—
'उठ प्रिय वत्स, देख, बीत रही रात है।

उत्तर में लंका के सु-घोर वन-राजि है;
बीच में सरोवर है, तीर पर उसके
शोभित है मन्दिर अपूर्व महाचण्डी का;
स्नान कर वत्स, उसी स्वच्छ सरोवर में,
तोड़ के विविध पुष्प, पूजो भक्ति-भाव से
माँ को, दैत्यदलिनी को। उनके प्रसाद से
मारोगे सहज तुम राक्षस दुरन्त को!
जाना हे यशस्वि, उस वन में अकेले ही।'
यों कह अदृश्य हुईं जननी तुरन्त ही।
मैं ने रो पुकारा किन्तु उत्तर नहीं मिला;
आज्ञा रघु-रत्न, अब क्या है मुझे आपकी?''
पूछा श्री विभीषण से वैदेही-विलासी ने—
''बोलो प्रिय मित्रवर? राक्षस-नगर में
राघव के रक्षक तुम्हीं हो ख्यात लोक में।''
रक्षोवर बोला—''उस कानन में चण्डी का
मन्दिर है, सुन्दर सरोवर के तीर पै।
पूजता है आप वहाँ जाके जगदम्बा को
रक्षोराज; और कोई जाता नहीं भय से
उस भय-पूर्ण घन-वन में! प्रसिद्ध है,
घूमते हैं द्वार पर शम्भु वहाँ आप ही
भीम शूलपाणि! जा के पूजता है माँ को जो,
होता विश्वविजयी हैं! और क्या कहूँ भला?
श्री सौमित्रि साहस के साथ यदि जा सकें
उस वन में तो फिर आप का महारथे!
सफल मनोरथ है, सत्य कहता हूँ मैं।''
''दास यह राघव का आदेशानुवर्ती है
रक्षोवर!'' बोले बली लक्ष्मण—''जो पाऊँ मैं
आज्ञा तो प्रवेश अनायास करूँ वन में,
रोक सकता है मुझे कौन?'' मृदु स्वर से
बोले राघवेन्द्र प्रभु—''मेरे लिए कितना
तुम ने सहा है वत्स, याद कर उसको,
और कष्ट देना तुम्हें प्राण नहीं चाहते!
क्या करूँ परन्तु भाई, तोड़ूँ भला कैसे मैं
विधि का विधान? तुम जाओ सावधान हो,

धर्म्म-बल-युक्त बली; वर्म्म-सम सर्वथा
अमर-कुलानुकूल्य रक्षक तुम्हारा हो!''
करके प्रणाम पद-पंकजों में प्रभु के
और नमस्कार कर मित्र विभीषण को;
लेकर कृपाण मात्र, निर्भय हृदय से
श्री सौमित्रि शूर चले उत्तर की ओर को।
वीरों के समेत वहाँ जागता सुकण्ठ था
वीतिहोत्र रूपी मित्र। बोला धीर नाद से—
''कौन तुम? और किस हेतु इस रात में
आये यहाँ? शीघ्र बोलो, चाहो यदि बचना;
अन्यथा करूँगा सिर चूर्ण शिलाघात से!''
बोले हँस रामानुज—''राक्षसों के वंश को
ध्वंस करो वीर-रत्न! मैं हूँ दास राम का।''
अग्रसर हो के शीघ्र मित्र कपिराज ने
शूर-सिंह लक्ष्मण की वन्दना की प्रीति से।
ऊर्मिला-विलासी तोष किष्किन्धा-कलत्र को
देकर, सहर्ष चले उत्तर की ओर को।
आकर उद्यान-द्वार पर कुछ देर में
देखा महाबाहु ने, अदूर भीममूर्ति है!
देती चारु चन्द्रकला भाल पर दीप्ति है,
जैसे महा पन्नग के भाल पर मणि हो!
शीर्ष पर जटा-जूट, उसमें हैं गंगा की
फेन-लेखा, शारदनिशा में यथा ज्योत्स्ना की
रम्य रजोरेखा मेघ-मुख में! विभूति से
भूषित हैं अंग; दायें हाथ में त्रिशूल है—
शाल-तरु-तुल्य! पहचान लिया शीघ्र ही
रामानुज शूर ने भवेश भूतनाथ को।
तेजोमय खंग खींच बोला वीर-केसरी—
''विश्रुत रघुज-अज-आत्मज महारथी
दशरथ, पुत्र उनका ही यह दास है;
करता प्रणाम हूँ मैं, रुद्र! मार्ग छोड़ दो,
वन में प्रवेश कर पूजूँ महाचण्डी को;
अन्यथा महेश, युद्ध-दान करो मुझ को!
सतत अधर्म्म-रत लंकापति है प्रभो,

चाहो विरूपाक्ष, युद्ध पक्ष में जो उसके,
प्रस्तुत हूँ तो मैं, नहीं काम है विलम्ब का!
देता हूँ चुनौती तुम्हें, साक्षी मान धर्म्म को,
धर्म्म यदि सत्य है तो जीतूँगा अवश्य मैं।''

सुन कर वज्र-नाद, भीषण हुंकार से
उत्तर ज्यों शैलराज देता है तुरन्त ही,
बोले वृषकेतु त्यों गभीर-धीर-वाणी से—
''शूर-कुल-चूड़ामणि, लक्ष्मण! बड़ाई मैं
करता हूँ तेरे इस साहस की, धन्य तू!
कैसे लड़ूँ तुझसे? प्रसन्नतामयी स्वयं
भाग्यशाली, तुझ से प्रसन्न हैं!'' तुरन्त ही
छोड़ दिया द्वार, द्वार-रक्षक कपर्दी ने;
वन में प्रवेश किया रामानुज शूर ने।

घोर सिंहनाद सुना चौंककर वीर ने!
घन-वन काँप उठा चड़मड़ करके
चारों ओर! दौड़ आया रक्त-नेत्र केसरी,
पूँछ को उठाये, दाँत कड़मड़ करता!
'जय रघुवीर' कह खंग खींचा वीर ने;
माया-सिंह भागा—यथा पावक के तज से
भागता है ध्वान्त! धीरे धीरे चला धीर-धी
निर्भय। अचानक घनों ने आ, गरज के,
घेर लिया चन्द्रमा को! सन सन शब्द से
चलने समीर लगा! चमक क्षणप्रभा
कर उठी दुगना अँधेरा क्षण-दीप्ति से!
वार वार वज्र गिरा, कड़ कड़ नाद से!
आँधी ने उखाड़े वृक्ष! दावानल वन में
फैल गया! काँपी स्वर्णलंका; सिन्धु गरजा
दूर, लक्ष लक्ष शंख मानों रण-क्षेत्र में
नाद करते हों, चाप-शब्द-संग मिल के!

अटल-अचल-तुल्य वीर खड़ा हो गया
घोर उस रौरव में! शान्त हुआ सहसा
दावानल; शान्त हुई झंझा-वृष्टि व्योम में;
तारा-गण-युक्त खिला तारा-पति चन्द्रमा;
हँस उठी कौतुक से पृथ्वी पुष्प-कुन्तला!

दौड़ उठा गन्ध; मन्द वायु बहने लगा।
विस्मित सुमति चला मन्द मन्द गति से।
पूर्ण हुआ वन कल-निक्वण से सहसा!
सप्तस्वरा वीणा, वेणु आदि बजने लगे
नूपुर-मृदंग-संग; मिल उस नाद से
कान्ता-कल-कण्ठ-गान गूँजा मन मोह के!
दिव्य पुष्प-वन में समक्ष देखा वीर ने
वामा-दल, तारा-दल भूपर पतित-सा!
कोई स्नान करती है स्वच्छ सरोवर में,
जोत्स्ना ज्यों निशीथ में! दुकूल और चोलियाँ
शोभित हैं कूल पर, अंग शुचि जल में
झलमल हो रहे हैं, मानों मानसर में
सोने के सरोज! कोई चुनती कुसुम है,
गूँथती है कोई काम-शृंखला-सी अलकें!
कोई लिये हाथ में है–हाथीदाँत की बनी
मोतियों से खचित-विपंची, तार सोने के
चमक रहे हैं उस राग-रस-शाला में!
कोई नाचती है; पीन-उन्नत उरोजों के
बीच में सु-रत्न-माला लोटती है, पैरों में
बजते हैं नूपुर, नितम्बों पर रसना!
कालनाग-दंशन से मरते मनुष्य हैं,
किन्तु इन सब की जो पीठों पर खेलते
मणिधर पन्नग हैं, देख कर ही उन्हें
प्राण जलते हैं पंचबाण-विष-वह्नि से!
देखते ही काल-दूत-तुल्य कालनाग को
भागते हैं लोग दूर; किन्तु इन नागों को
कौन नर बाँधना गले में नहीं चाहता,
शीश पर शूली फणि-भूषण उमेश ज्यों?
गा रही है डालों पर कोकिला मधुप्रिया;
हो रही है चारों ओर क्रीड़ा जल-यन्त्रों की;
बहता समीरण स-कौतुक है, लूट के
परिमल रूपी धन, पुष्पधनागार से!
घेर के अरिन्दम को शीघ्र वामा-वृन्द ने
गा के कहा–"स्वागत है रघुकुल-रत्न का।

राक्षसी नहीं हैं हम, त्रिदिवविलासिनी!
नन्दन विपिन में हे शूर, हेम-हर्म्य में
रहती हैं, पान कर अमृत प्रमोद से;
यौवनोपवन में हमारे सर्वकाल ही
सरस वसन्त रहता है पूर्ण रूप से;
रहते प्रफुल्ल हैं उरोज-कंज सर्वदा;
अधर-सुधा-रस है सूखता नहीं कभी;
अमरी हैं, देव, हम! सब मिल तुमको
वरती हैं; चलके हमारे साथ नाथ हे!
हमको कृतार्थ करो, और क्या कहें भला?
युग युग मानव कठोर तप करके
पाते सुख-भोग हैं जो, देंगी वही तुम को
गुणमणि! रोग, शोक आदि कीट जितने
काटते हैं जीवन-कुसुम को जगत में,
घुस नहीं सकते हैं वे हमारे देश में,
रहती जहाँ हैं चिरकाल हम हर्ष से।''
उत्तर में, हाथ जोड़, लक्ष्मण ने यों कहा—
''हे अमर्त्य-बाला-वृन्द, दास को क्षमा करो!
अग्रज जो मेरे रथी रामचन्द्र विश्व में
विश्रुत हैं, भार्य्या सती जानकी हैं उनकी;
पा कर अकेला उन्हें रावण अरण्य में,
पामर हर लाया। मैं उनको उबारूँगा,
राक्षसों को मार कर; मेरा यही प्रण है;
पूरा जिसमें हो यह, वर दो सुरांगने!
नर-कुल में है जन्म मेरा; तुम सब को
माता-सम मानता हूँ।'' दीर्घबाहु कह यों
देखता है आँखें जो उठाके फिर सामने,
निर्जन अरण्य है, कहीं भी कुछ है नहीं!
चला गया वामा-वृन्द! मानों स्वप्न देखा हो!
किं वा जलविम्ब सद्योजीवी! उस माया की
माया कौन जानता है मायामय विश्व में?
विस्मित-सा वीर फिर मन्द गति से चला।
देखा कुछ देर में अदूर वीर-वर ने
सुन्दर सरोवर, किनारे पर उसके

हेममय मन्दिर अपूर्व, महाचण्डी का;
कांचन-सोपान शत, मण्डित सु-रत्नों से।
जलते प्रदीप देखे मन्दिर में वीर ने;
पुष्प पदपीठ पर; झाँझ, शंख, घण्टा हैं
बजते; सु-नीर-घट शोभित हैं; धूप है
जलती; सुगन्धिमय सारा देश हो रहा,
सुमन-सुवास-संग। घुस कर पानी में
स्नान किया लक्ष्मण ने, नीलोत्पल यत्न से
तोड़े; हुईं पूरित दिशाएँ दसों गन्ध से।
मन्दिर में जाकर सु-बीरकुल-केसरी
लक्ष्मण ने पूजा सिंहवाहिनी को विधि से!
करके प्रणाम कहा वीर ने—"हे वरदे!
किंकर को वर दो कि मारूँ इन्द्रजित को,
भिक्षा यही माँगता हूँ। मानव के मन की
बात जितनी है तुम्हें ज्ञात अन्तर्यामिनी,
उतनी मनुष्य-वाणी कह सकती है क्या
मातः, कभी? साध जितनी है इस मन की,
सिद्ध करो साध्वि, सब।" कहने के साथ ही
दूर घन-घोष हुआ! लंका वज्र-नाद से
काँप उठी सहसा! सकम्प हुए साथ ही
थर थर मन्दिर, तड़ाग और अटवी!
देखा वीर लक्ष्मण ने स्वर्ण-सिंहासन पै,
अपने समक्ष, वर-दात्री महामाया को।
कौंधा-तुल्य तेज से निमेष भर के लिए
चौंधा गयीं आँखें और तत्क्षण ही वीर को
दीख पड़ा मन्दिर में घोर अन्धकार-सा!
किन्तु वह दूर हुआ ज्यों ही हँसी अम्बिका;
पाई द्रुत दिव्यदृष्टि लक्ष्मण सुमति ने;
सु-मधुर स्वर की तरंगें उठी व्योम में।
बोली महामाया—"सब देवी और देवता,
हे सतीसुमित्रा-पुत्र, तुष्ट हुए तुझ से
आज! देव-अस्त्र भेजे इन्द्र ने हैं लंका में
तेरे लिए; आप मैं भी आज यहाँ आयी हूँ
तेरा कार्य्य साधने को, शंकर की आज्ञा से।

देवायुध लेके वीर, संग विभीषण के
जा तू नगरी में, जहाँ रावणि निकुम्भला–
यज्ञागार में है अग्निदेवता को पूजता।
टूट पड़ राक्षस के ऊपर तू सिंह-सा,
मार अकस्मात उसे! मेरे वरदान से
होकर अदृश्य तुम दोनों घुस जाओगे,
वेष्टित करूँगी मैं स्वमाया-जाल से तुम्हें;
कोष रखता है यथा आवृत कृपाण को।
जा तू हे यशस्वि वीर, निर्भय हृदय से।''

करके प्रणाम चरणों में महादेवी के
लौट चला शूरमणि, राघवेन्द्र थे जहाँ।
कूज उठा पक्षि-कुल जाग फूल-वन में,
जैसे महा उत्सव में वाद्यकर देश को
पूर्ण करते हैं भद्र निक्वण से! फूलों की
वृष्टि तरु-राजि ने की सिर पर शूर के;
सुस्वन से मन्द गन्धवाह बहने लगा।

''रक्खा शुभयोग में है जननी सुमित्रा ने
गर्भ में तुझे हे वीर लक्ष्मण!'' गगन से
वाणी हुई–''पूर्ण होंगे तेरे कीर्ति-गान से
तीनों लोक! देवों से असाध्य कर्म्म तू ने ही
साधा आज! अमर हुआ तू देव-कुल-सा!''
मौन हुई व्योम-वाणी; पक्षी उस कुंज में
कूज उठे, मधुर-मनोज्ञ-मृदु नाद से।

लेटा जहाँ जाम्बूनद-मन्दिर में, फूलों की
शय्या पर, शूर-कुल-केतु इन्द्रजित था;
कूजन-निनाद वहाँ ज्यों ही यह पहुँचा,
जागा वीर-कुंजर सु-कुंज-वन-गीतों से।
धरके रथीन्द्र पाणि-पंकज प्रमीला का
निज कर-पंकज से, सुस्वर से, हाय रे!
पद्मिनी के कान में ज्यों गूँज के है कहता
प्रेम की रहस्य-कथा भृंग कहने लगा
(आदर से चूम के निमीलित सु-नेत्रों को)
कूज के सहर्ष (तुम हेमवती ऊषा हो)
''रूपवति, तुमको बुलाते हैं विहंग ये!

मेरी चिरमोद-मूर्ति, उठके मिलो प्रिये
पद्मदृषी! सूर्य्यकान्त-से हैं प्राण कान्ते, ये;
तुम हो रविच्छवि, मैं तेजोहीन हूँ सती,
मूँदने से नयन तुम्हारे, नेत्रतारिके!
सु-फल तुम्ही हो प्रिये, मेरे भाग्य-वृक्ष का
विश्व में महार्हमणि! उठ विधु-वदने,
देखो, चुरा कुसुम तुम्हारी रम्य कान्ति को
कैसे खिलते हैं मंजु कुंज में!'' तुरन्त ही
चौंक कर रामा उठी; मानों गोप-कामिनी
सुन के मनोहर निनाद वर वेणु का!
ढंक लिये अंग चारुहासिनी ने लज्जा से
झटपट। सादर कुमार फिर बोला यों—
''बीत गयी आहा! अब अन्धकार-यामिनी,
खिलती नहीं तो तुम कैसे, कहो, पद्मिनी,
आँखें ये जुड़ाने को? चलो, हे प्रिये, चलके
माँगू बिदा अब मैं प्रणाम कर अम्बा के
चरणों में! पूज फिर विधि युत वह्नि को,
वृष्टि कर भीषण अशनि-तुल्य बाणों की
मेटूँगा समर-काम राम का समर में।''
रावण की बधू और पुत्र सजे दोनों ही
अतुलित विश्व में, प्रमीला ललनोत्तमा
और पुरुषोत्तम सुरेन्द्र-गज-केसरी
मेघनाद! शयन-निकेतन से निकले
दोनों—यथा तारा अरुणोदय के साथ में!
लज्जा से, मलिन मुख, भागा दूर जुगनू,
(शिशिर-सुधा का भोग छोड़ पुष्प-पात्र में)
दौड़े मकरन्द-हेतु मधुकर मत्त हो;
गाने लगी डालों पर पंचम में कोकिला;
राक्षसों के बाजे बजे, रक्षक झुके सभी;
गूँज उठा नाद—'जय मेघनाद' नभ में!
बैठे रत्न-शिविका में हर्ष युत दम्पती।
यानवाही लोग मोद मान यान ले चले,
मन्दोदरी महिषी के रम्य हेम-हर्म्य को।
गेह महा आभा-पूर्ण रत्नों से रचित है,

हस्तिदन्तमण्डित, अतुल इस लोक में।
नयनानन्ददायक जो कुछ भी विधाता ने
सृष्टि में सृजा है, सभी है उस सु-धाम में!
घूमती हैं द्वार पर प्रमदा प्रहरियाँ,
काल-दण्ड-तुल्य लिये प्रहरण पाणि में;
पैदल हैं कोई और कोई हयारूढ़ा है!
तारावली-तुल्य दीपमालिका है जलती
चारों ओर! बहता वसन्तानिल मन्द है,
लेकर सुगन्धि शत—अयुत प्रसूनों की।
खेलती है वीणाध्वनि मानों स्वप्न-माया है!
पहुँचा अरिन्दम अमन्द, इन्दुवदनी
सुन्दरी प्रमीला युक्त, उस सुख-धाम में।
दौड़ आयी त्रिजटा निशाचरी निहार के,
बोला उससे यों वीर—"सुन लो हे त्रिजटे,
सांग कर आज मैं निकुम्भला के यज्ञ को
राम से लड़ूँगा, पितृदेव के निदेश से।
मारूँगा स्वदेश-शत्रु; आया हूँ इसी लिए
माँ के पद पूजने को; जा कर खबर दो—
पुत्र और पुत्र-बधू द्वार पर हैं खड़े
लंकेश्वरि, आपके।" प्रणाम कर त्रिजटा
(विकटा निशाचरी) यों बोली शूर-सिंह से—
"शंकर के मन्दिर में सम्प्रति हैं श्रीमती
महिषी, कुमार! वे तुम्हारे क्षेम के लिए,
भोजन-शयन छोड़, पूजती हैं ईश को!
किसका है तुम-सा समर्थ सुत विश्व में?
और ऐसी जननी भी किसकी है जग में?"
दौड़ गयी दामनी-सी दूती यह कह के।
गाने लगीं गायिकाएँ बाजों के सहित यों—
"हमवति कृत्तिके, तुम्हारे कार्तिकेय ये
शक्तिधर, आओ और देखो, खड़े द्वारे हैं,
संग सेना सुमुखी सुलोचना है! देख लो,
रोहिणी-विनिन्द्या बधू; पुत्रवर, जिसके
सामने शशांक सकलंक गिने आपको!
भाग्यवती तुम हो, सुरेन्द्रजयी शूर है

मेघनाद, है सती प्रमीला विश्वमोहिनी।''
बाहर शिवालय से आयी राजमहिषी;
दम्पती प्रणत हुए चरणों में। दोनों को
अंक में ले रानी सिर चूम रोई! हाय रे!
जननी के प्राण, तू है प्रेमागार विश्व में,
फूल जैसे गन्धागार, शुक्ति मुक्तागार है!
शारदेन्दु पुत्र, शरच्चन्द्रिका बधू सती,
तारक-किरीटिनी निशा-सी राक्षसेश्वरी
आप; अश्रु-वारि हिम-विन्दु गण्ड-पत्रों पै
गिर कर वार वार शोभित हुए अहा!
वीर बोला—''देवि, दो शुभाशीर्वाद दास को।
पूर्ण कर विधि से निकुम्भला का यज्ञ मैं,
जा के आज रण में करूँगा वध राम का!
मेरा शिशु बन्धु वीरबाहु, उसे नीच ने
मार डाला। देखूँगा कि कैसे वह मुझको
करता निवारित है? मातः, पद-धूलि दो।
आज माँ, अकण्टक,—तुम्हारे अनुग्रह से,
तीक्ष्ण-शर-पुंज-द्वारा, लंका को करूँगा मैं!
और राज-द्रोही लघुतात विभीषण को
बाँध कर लाऊँगा! खदेड़ूँगा सुकण्ठ को—
अंगद को सागर के अतल सलिल में!''
रत्नमय आँचल से आँसू पोंछ अपने
मन्दोदरी बोली—''विदा बेटा, तुझे कैसे दूँ?
मेरे अन्धकारमय हृदय-गगन का
पूर्ण शशि तू ही है। दुरन्त सीता-कान्त है
रण में; है लक्ष्मण दुरन्त; कालनाग-सा
निर्मम विभीषण है! मत्त लोभ-मद से,
मारता है मूढ़ बन्धु-बान्धवों को आपही;
खाता है क्षुधार्त नाग जैसे निज बच्चों को!
सास निकषा ने वत्स, कु-क्षण में उसको
रक्खा था स्वगर्भ में, मैं कहती हूँ तुझ से!
मेरी हेमलंका हा! डुबोदी दुष्टमति ने!''
हँस कर बोला रथी उत्तर में माता से—
''माँ, क्यों डरती हो तुम रक्षोरिपु राम से,—

लक्ष्मण से? दो दो वार तात के निदेश से
जीत मैं चुका हूँ उन्हें, अग्निमय बाणों से,
घोर रण-मध्य। इन पैरों के प्रसाद से
चिरविजयी है देव-दैत्य-नर-युद्ध में
दास यह! विक्रम तुम्हारे इस पुत्र का
अच्छी भाँति जानते पितृव्य विभीषण हैं;
वज्रधारी इन्द्र युत देव रथी स्वर्ग में;
मर्त्य में नरेन्द्र, भुजगेन्द्र रसातल में!
कौन नहीं जानता है? मातः, फिर आज क्यों
सभय हुई हो तुम, मुझ से कहो, अहो!
क्या है वह तुच्छ राम? डरती हो उसको!''

बोली महारानी सिर चूम महादर से—
''वत्स, यह सीतापति मायावी मनुष्य है,
तब तो सहाय उसके हैं सब देवता!
नाग-पाश में था जब बाँध लिया दोनों को
तू ने, तब बन्धन था खोला वह किसने?
किसने बचाया था निशा के उस युद्ध में
मारा जब तू ने था ससैन्य उन दोनों को?
यह सब माया नहीं जानती हूँ वत्स, मैं।
कहते हैं, आज्ञा मात्र पाके उस राम की
डूबती शिलाएँ नहीं, तैरती हैं जल में!
अग्नि बुझती है! और, घन हैं बरसते!
मायावी मनुष्य राम! वत्स, कह तुझको
कैसे मैं विदा दूँ फिर जूझने को उससे?
हा विधे! मरी क्यों नहीं माँ के ही उदर में
शूर्पणखा,—कुटिला—कुलक्षणा—अमंगला!''
नीरव हो रोने लगी रानी यह कहके।

बोला वीर-कुंजर कि—''पूर्व-कथा सोच के
करती वृथा ही माँ, विलाप यह तुम हो!
नगरी के द्वार पर वैरी है; करूँगा मैं
कौन सुख-भोग, उसे जब तक युद्ध में
मारूँगा न! आग जब लगती है घर में
सोता तब कौन है माँ? विश्रुत त्रिलोकी में
देव-नर-दैत्य-त्रास राक्षसों का कुल है;

ऐसे कुल में क्या देवि, राघव को देने दूँ
कालिमा मैं इन्द्रजित रावणि? कहेंगे क्या
मातामह दानवेन्द्र मय यह सुन के?
और, रथी मातुल? हँसेगा विश्व! दास को
आज्ञा दो कि जाऊँ, करूँ-राम-वध युद्ध में।
कूजते हैं विहग सुनो, वे कुंज-वन में!
बीत गयी रात, हुआ प्रात, इष्टदेव को
पूज कर, अपने दुरन्त दल युक्त मैं
रण में प्रविष्ट हूँगा। देवि, तुम अपने
मन्दिर में लौट जाओ। आ के फिर शीघ्र ही
रण-विजयी हो पद-पद्म ये मैं पूजूँगा।
पा चुका हूँ तात का निदेश, तुम आज्ञा दो
जननि, तुम्हारा शुभाशीष प्राप्त होने से,
रोक सकता है कौन किंकर को रण में?"

रत्नमय अंचल से अश्रु-जल पोंछ के,
लंकेश्वरी बोली—"यदि वत्स, जाता ही है तू,
रक्षःकुलरक्षी विरूपाक्ष करें रक्षा तो
तेरी इस काल-रण-मध्य! यही भिक्षा मैं
माँगती हूँ उनके पदाब्जों में प्रणत हो!
और क्या कहूँ हा? नेत्र तारा-हीन करके
छोड़ चला बेटा, इस घर में तू मुझको!"
रोती हुई रानी फिर देख के प्रमीला को,
कहने लगी यों—"रह मेरे साथ बेटी, तू;
प्राण ये जुड़ाऊँगी निहार यह तेरा मैं
चन्द्रमुख! होती कृष्ण पक्ष में है धरणी
तारक-करों से ही प्रकाशिता-समुज्ज्वला।"
करके सु-बाहु जननी की पद-वन्दना
सहज विदा हुआ। सुवर्णपुराधीश्वरी
पुत्र-बधू-संग गयी रोती हुई गेह में।
छोड़ शिविका को युवराज चला वन में
पैदल, अकेला, रथी मन्द मन्द गति से
यज्ञशाला-ओर, बहु पुष्पाकीर्ण पथ से।

सुन पड़ा नूपुर-निनाद पीछे सहसा।
परिचित नित्य पद-शब्द प्रेमिका का है

प्रेमिक के कानों में! हँसा सु-वीरकेसरी,
बाँध बाहु-पाश में सहर्ष मृगलोचनी
प्रेयसी प्रमीला को प्रमोद-प्रेम-भाव से!
"हाय नाथ!" बोली सती—"सोचा था कि आज मैं
जाऊँगी तुम्हारे संग पुण्य यज्ञशाला में;
तुमको सजाऊँगी वहाँ मैं शूर-सज्जा से।
क्या करूँ परन्तु निज मन्दिर में वन्दिनी
करके है रक्खा मुझे सास ने यों। फिर भी
रह न सकी मैं बिना देखे पद युग्म ये?
सुनती हूँ, चन्द्रकला उज्ज्वला है रवि का
तेज पा के, वैसे ही निशाचर-रवे, सुनो,
दीखता तुम्हारे बिना दासी को अँधेरा है!"
मोतियों से मण्डित सुवक्ष पर आँखों ने
शुचितर मोती बरसाये! शतपत्रों के
इनके समक्ष हैं हिमाम्बु-कण छार क्या?
वीरोत्तम बोला—"अभी लौट यहाँ आऊँगा
लंका-अलंकारिणि, मैं राघव को मार के!
जाओ प्रिये, लौट तुम लंकेश्वरी हैं जहाँ।
होती है उदित चन्द्रमा के पूर्व रोहिणी!
विधि ने बनाये ये सु-नेत्र हैं क्या रोने को?
होते हैं उदित क्यों प्रकाशागार में सती,
वारिवाह? सुन्दरि, सहर्ष अनुमति दो,—
भ्रान्ति-वश जान तुम्हें ऊषा अंशुमालिनी,
भाग रही रजनी है देखो, शीघ्र गति से!
अनुमति दो हे साध्वि, जाऊँ यज्ञ-गृह में।"
जैसे कुसुमेषु जब इन्द्र के निदेश से,
कु-क्षण में शूर चला, छोड़ कर रति को,
शंकर का ध्यान तोड़ने के लिए, हायरे!
वैसे ही यहाँ भी चला काम रूपी साहसी
इन्द्रजित, छोड़ के प्रमीला सती रति-सी!
कुक्षण में यात्रा कर जैसे गया काम था,
कुक्षण में यात्रा कर वैसे ही गया बली
मेघनाद—एक अवलम्ब यातुधानों का—
जग में अजेय! हाय! प्राक्तन की गति को

शक्ति किसकी है जो कि रोक सके कुछ भी?
रोने लगी रति-सी प्रमीला सती युवती।
रक्षोबधू चक्षु-जल पोंछ कुछ क्षण में
बोली यों सु-दूर देख प्राणाधार पति को—
"जानती हूँ मैं, क्यों घन-वन में गजेन्द्र, तू
घूमता है, वह गति देख किस लज्जा से
मुँह दिखलायगा तू दम्भि? कौन तुझको
सूक्ष्मकटि केसरि, कहेगा भला जिसके
चक्षुओं ने रक्षःकुल-केसरी को देखा है?
तू भी है इसीसे वन-वासी, जानती हूँ मैं।
मारता है तू गजों को, किन्तु यह केसरी
करता पराङ्मुख है तीक्ष्णतम बाणों से
दैत्य-कुल-नित्य-वैरी देव-कुल-राज को!"
कह के सती यों कर जोड़ देख व्योम की
ओर करने लगी यों रोती हुई प्रार्थना—
"हे नगेन्द्रनन्दिनि, प्रमीला सदा-सर्वदा
दासी है तुम्हारी, तुम्हें वह है पुकारती;
लंका पर आज कृपा-दृष्टि हो कृपामयी!
रक्षा करो रक्षोवर की माँ, इस युद्ध में!
आवृत अभेद्य वर्म्म-तुल्य करो वीर को!
आश्रिता तुम्हारी यह लतिका है हे सती,
जीवन है इसका माँ, इस तरुराज में!
जिसमें कुठार इसे छू न सके, देखना!
किंकरी कहे क्या और? अन्तर्यामिनी हो जो
तुम माँ, तुम्हारे बिना और जगदम्बिके,
रख सकता है किसे, कौन, इस विश्व में?"
वायु बहता है गन्ध को ज्यों राज-गृह में,
शब्दवाही अम्बर त्यों प्रार्थना प्रमीला की
ले चला तुरन्त उस कैलासाद्रि धाम को!
काँपा भय-युक्त इन्द्र। देख यह सहसा
वायु ने उड़ाया उसे दूर वायु-वेग से,
(अपने ठिकाने पर आने के प्रथम ही!)
अश्रु-जल पोंछ सती मौन हो चली गयी,

यमुना-पुलिन में ज्यों माधव को दे विदा—
विरह-विपन्ना व्रजबाला शून्य मन से
शून्य गृह में गयी हो, रोती हुई सुन्दरी
मन्द मन्द मन्दिर के अन्दर चली गयी!

इति श्री मेघनाद-वध काव्ये
उद्योगो नाम
पंचमः सर्गः

षष्ठ सर्ग

-रामानुज शूर चले छोड़ उस वन को,
भानु-कुल-भानु जहाँ प्रभु थे शिविर में;
देख के किरात यथा वन में मृगेन्द्र को
अस्त्रागार में है दौड़ जाता वायु-गति से
चुन-चुन तीक्ष्ण शर लेने को तुरन्त ही
जो हों प्राणनाशी नाशकारी रण-क्षेत्र में!
थोड़ी देर में ही वहाँ पहुँचे यशस्वी वे
प्रभु-चरणों में नत हो के भक्ति-भाव से—
और नमस्कार कर मित्र विभीषण को,
बोले—कृतकार्य्य हुआ यह चिरदास है,
आज, इन चरणों के आशीर्वाद से प्रभो!
ध्यान कर चरणों का, वन में प्रविष्ट हो,
पूजा हेम-मन्दिर में मैंने महाचंडी को।
छलने को दास के बिछाये जाल कितने
देवी ने, निवेदन करूँ मैं मूढ़ कैसे सो
इन चरणों में! चन्द्रचूड़ स्वयं द्वार के
रक्षक थे; किन्तु हटे युद्ध के बिना ही वे,
पुण्य के प्रताप से तुम्हारे; महानाग ज्यों
निर्बल हो जाता है महौषध के गुण से!
वन में घुसा जो दास, आया सिंह गर्ज के,
उसको भगाया, फिर भीम हुहुंकार से
झंझा उठी, वृष्टि हुई, फैल गयी वन में
कालानल-तुल्य दव-ज्वाला; जली अटवी,
कुछ क्षण में ही किन्तु अग्नि बुझी आप ही!

झंझा और वृष्टि रुकी। मैंने तब सामने
विपिन विहारिणी विलोकी देव-बालाएँ;
जोड़कर, माँग वर, उनसे बिदा हुआ।
दीख पड़ा मन्दिर अदूर तब देवी का,
करता प्रदीप्त था प्रभा से जो प्रदेश को।
सर में प्रविष्ट हो के, स्नान करके प्रभो,
तोड़ कर नीलोत्पल, अंजली दे अम्बा को
पूजां भक्ति युक्त। हुईं आविर्भूत आप वे
और वरदान दिया दास को उन्होंने यों–
(पूर्ण कृपा युक्त) ''सब देवी और देवता,
हे सती सुमित्रा-पुत्र, तुष्ट हुए तुझसे
आज! देव-अस्त्र भेजे इन्द्र ने हैं लंका में
तेरे लिए; आप मैं भी आयी यहाँ आज हूँ
तेरा कार्य्य साधने को, शंकर की आज्ञा से।
देवायुध ले के वीर, संग विभीषण के
जा तू नगरी में, जहाँ रावणि निकुम्भला–
यज्ञागार में है अग्निदेवता को पूजता।
टूट पड़ राक्षस के ऊपर तू सिंह-सा,
मार अकस्मात उसे! मेरे वरदान से
होकर अदृश्य तुम दोनों घुस जाओगे;
वेष्टित करूँगी मैं स्वमाया-जाल से तुम्हें,
कोष रखता है यथा आवृत कृपाण को;
जा तू हे यशस्वी वीर, निर्भय हृदय से।''
''आज्ञा है तुम्हारी अब क्या हे प्रभो, दास को?
बीत रही रात देव! काम नहीं देर का,
आज्ञा दो कि जाऊँ अभी, मारूँ मेघनाद को।''
बोले प्रभु–''हाय! कैसे, दूर से ही देख के
जिस यम-दूत को, भयाकुल हो, प्राणों को
लेके भागता है जीव-कुल, ऊर्ध्व श्वास से;
भस्मीभूत होते हैं मनुष्य और देव भी
जिसकी कराल विष-ज्वाला से सहज ही!–
कैसे तुम्हें भेजूँ उस साँप के विवर में
प्राणाधिक? काम नहीं सीता-समुद्धार का।
व्यर्थ हे जलेश, मैं ने बाँधा तुम्हें व्यर्थ ही;

मारे हैं असंख्य यातुधान व्यर्थ रण में;
लाया पार्थिवेन्द्र-दल मैं हूँ व्यर्थ लंका में
सैन्य-सह; रक्त-स्रोत हाय! मैं ने व्यर्थ ही
वृष्टि-वारि-धारा-सा बहाकर धरित्री को
आर्द्र किया! राज्य, धन, धाम, पिता, माता को
और बन्धु-बान्धवों को हाय! भाग्य-दोष से
खो दिया है मैं ने; बस, अन्धकार-गृह की
दीप-शिखा मैथिली थी (दास यह हे विधे,
दोषी है तुम्हारे चरणों में किस दोष से?)
हाय! दुरदृष्ट ने उसे भी है बुझा दिया।
मेरा और कौन है रे भाई, इस विश्व में,
मैं ये प्राण रक्खूँ मुख देख कर जिसका?
और स्वयं जीता रहूँ इस नर-लोक में?
चलो, फिर लौट चलें हम वन-वास को
लक्ष्मण सुलक्षण! हा, कु-क्षण में माया की
छलना में भूल इस राक्षस-नगर में
भाई, हम आये थे, कहूँ मैं अब और क्या?''
शूर-सिंह रामानुज बोले वीर दर्प से—
''नाथ, रघुनाथ, किस हेतु आज इतने
होते तुम कातर हो? जो है बली दैव के
बल से, उसे क्या डर है इस त्रिलोकी में?
पक्ष में तुम्हारे सुरराज सहस्राक्ष हैं;
कैलासाद्रिवासी विरूपाक्ष; तथा शंकरी
धर्म्म की सहायिनी हैं! देखो देव, लंका की
ओर; काल-मेघ-सम क्रोध देव-कुल का
ढँक रहा स्वर्णमयी आभा सब ओर है!
आलोकित करता है शिविर तुम्हारे को
देखो प्रभो, देव-हास्य! दास को निदेश दो,
होऊँ देव-अस्त्र ले के लंका में प्रविष्ट मैं;
निश्चय तुम्हारे पद-पद्मों के प्रसाद से
मारूँगा निशाचर को। विज्ञतम तुम हो;
फिर अवहेलना क्यों देव, देव-आज्ञा की?
गति है तुम्हारी सर्वकाल धर्म्म-पथ में;
फिर यों अधर्म्म-कार्य्य, आर्य्य करते हो क्यों

आज कहो? तोड़ता है कौन पदाघात से
मंगल-कलश आप, मंगलमते, अहो?''
बोला तब सुहृद विभीषण सु-वाणी से—
''तुम ने कहा जो राघवेन्द्र रथी, सत्य है।
विक्रम में अन्तक के दूत-सा दुरन्त है
वासव का त्रास, मेघनाद, विश्वविजयी।
किन्तु व्यर्थ डरते हैं आज हम उससे।
रघुकुल-चूड़ामणि, मैं ने स्वप्न देखा है,—
रक्षःकुल-राजलक्ष्मी मेरे शिरोभाग में
बैठ कर, करके उजेला-सा शिविर में
शुचि किरणों से, सती बोली इस दास से;—
''हाय! तेरा भाई हे विभीषण, मदान्ध है!
सोच के रहूँ क्या इस पापमय पुर में
पाप-द्वेषिणी मैं? भला पंकिल सलिल में
खिलती है पद्मिनी क्या? मेघावृत व्योम में
देखता है कौन, कब, तारा? किन्तु फिर भी,
तेरे पूर्व-पुण्य से प्रसन्न हूँ मैं तुझ पै;
शून्य राज सिंहासन और छत्र-दण्ड तू
पायगा! मैं करती प्रतिष्ठित हूँ तुझको
रक्षोराज-पद पै, विधाता के विधान से!
मारेगा यशस्वि कल लक्ष्मण सहज ही
तेरे भ्रातृपुत्र मेघनाद को; सहाय तू
होगा वहाँ उसका! प्रयत्न युत पालना
देवों का निदेश हे भविष्य लंकाधीश तू।''
जाग उठा देव, यह स्वप्न देख कर मैं;
पूर्ण हुआ शिविर अपार्थिव सुगन्धि से!
दिव्य मृदु वाद्य सुने दूर मैं ने नभ में।
विस्मय के साथ मैं ने द्वार पै शिविर के
देखी वह माधुरी, अपूर्व, मनोमोहिनी;
मोहती है मदन-विमोहन को जो सदा!
कन्धरा ढँके थी अहा! कादम्बिनीरूपिणी
कबरी, सु-रत्न-राजि शोभित थी केशों में;
उसके समक्ष है क्या द्वार मेघमाला में
चंचला की चमक! अदृश्य हुई सहसा

देवी जगज्जननी! सतृष्ण-स्थिर दृष्टि से
देखता रहा मैं बड़ी देर तक, किन्तु हा!
पूरा हुआ फिर न मनोरथ, मुझे पुनः
माता नहीं दीख पड़ीं। दाशरथे, ध्यान से
यह सब वार्ता सुनो और मुझे आज्ञा दो,
लक्ष्मण के संग वहाँ जाऊँ जहाँ अग्नि की
पूजा करता है मेघनाद मखागार में।
पालो नरपाल, देव-शासन सुयत्न से;
निश्चय ही इष्ट-सिद्धि प्राप्त होगी तुमको!''
उत्तर में साश्रुनेत्र सीतापति बोले यों—
''पूर्व-कथा सोच मित्र, व्यग्र प्राण रोते हैं,
कैसे फेंक दूँ मैं भ्रातृ-रत्न को अतल में
रक्षोवर? हाय! उस मन्थरा की माया में
भूली जब केकयी माँ, मेरे भाग्य-दोष से
निर्दय हो; मैं ने जब छोड़ा राज-भोग को
तात-सत्य-रक्षा-हेतु; छोड़ा तब स्वेच्छा से
राज-सुख लक्ष्मण ने, भ्रातृ-प्रेम-वश हो!
रोई अवरोध में सुमित्रा माँ पुकार के,
रोई बधू उर्म्मिला; मनाया कितना इसे
सारे पुर-वासियों ने, कैसे मैं कहूँ भला?
किन्तु अनुरोध नहीं माना, (प्रतिविम्ब-सा)
अनुज अनुग हुआ मेरा हर्ष भाव से;
आया घोर वन में दे सुख को जलांजली
भाई, नवयौवन में! बोली माँ सुमित्रा यों—
''मेरा नेत्र-रत्न तू ने हरण किया है रे
रामचन्द्र! जानें किस माया के प्रभाव से
वत्स को भुलाया? सौंपती हूँ यह धन मैं
तुझको; तू रखना सयत्न मेरे रत्न को,
भिक्षा वार वार यही माँगती हूँ तुझसे।''
मित्रवर, काम नहीं सीता समुद्धार का;
लौट जावें दोनों हम फिर वन-बास को!
देव-दैत्य-नर-त्रास, दुर्द्धर समर में
है रथीन्द्र रावणि! अवश्य ही महाबली
है सुकण्ठ, अंगद है दक्ष रण-रंग में;

वायु-सूनु हनूमान है महा पराक्रमी
अपने प्रभंजन पिता के तुल्य हे सखे,
है धूम्राक्ष धूमकेतु-तुल्य रणाकाश में
अग्निरूप; धीर नील, वीर नल, केसरी
केसरी विपक्ष हेतु; और सब योद्धा हैं
देवाकृति, देववीर्य्य; तुम हो महारथी;
लेकर परन्तु इन सब को भी युद्ध में
उसके विरुद्ध नहीं काम देती बुद्धि है!
कैसे उस राक्षस के संग फिर एकाकी
लक्ष्मण लड़ेंगे? हाय! मायाविनी आशा है,
कहता तभी तो हूँ, अलंघ्य सिन्धु लाँघ के
आया हूँ सखे, मैं इस यातुधानपुर में।''
सहसा अनन्त में अनन्तसम्भवा गिरा,
मधुर निनाद से निनादित हुई वहाँ—
''योग्य है तुम्हें क्या अहो! वैदेहीपते, कहो,
संशय करो जो तुम सत्य देव-वाणी में?
देद-प्रिय तुम हो, अवज्ञा करते हो क्यों
वीर, देवादेश की? निहारो शून्य-ओर को।''
विस्मय से देखा रघुराज ने कि व्योम में
लड़ता भुजंग-भोजी केकी से भुजंग है!
केकारव मिल के फणी की फुफकार से
शून्य को प्रपूर्ण करता है, भीम भाव से;
दीर्घ पक्षच्छाया घन-राशि-सी है घेरती
अम्बर को; जलता है कालानल-तेज से
बीच में हलाहल। अपूर्व युद्ध दोनों ही
करते हैं आपस में। वार वार धरती
काँप उठी; जल-दल उथल-पुथल-सा
होने लगा नाद युक्त। किन्तु कुछ देर में
होके गतप्राण गिरा शिखिवर भूमि पै;
गरजा भुजंगवर विजयी समर में!
बोला रावणानुज कि—''देखा निज नेत्रों से
अद्भुत व्यापार आज; क्या यह निरर्थ है?
सोच देखो, सीतानाथ, दृष्टि-भ्रम है नहीं;
शीघ्र ही जो होगा वही देवों ने प्रपंच के

रूप में दिखाया तुम्हें; चिन्ता अब छोड़ दो;
लक्ष्मण करेंगे वीर-हीना आज लंका को!"
करके प्रवेश तब प्रभु ने शिविर में,
आप प्रियानुज को सजाया देव-अस्त्रों से।
तारकारि-तुल्य वीर शोभित हुए अहा!
वक्ष पर वर्म वर पहना सुमति ने
तारामय; इन्द्र-धनुर्वर्ण-सारसन में
झलमल झूल उठा रत्नों से जड़ा हुआ—
तेजोमय तीक्ष्ण खंग। रवि की परिधि-सी
हस्ति-दन्त-निर्मित सुवर्णमयी ढाल ने
पीठ पर पाया स्थान; संग संग उसके
सशर निषंग डुला। वाम कर में लिया
देव-धन्वा धन्वी ने; सुशोभित हुआ अहा!
(सौर-कर-निर्मित-सा) मुकुट सु-भाल पै।
मंजु मुकुटोपरि सु-चूड़ा हिलने लगी,
केसरी के पृष्ठ पर केसर ज्यों! हर्ष से
रामानुज शूर सजे, अंशुमाली भानु ज्यों
दीख पड़ता है मध्य वासर में तेजस्वी!
निकले सवेग बली बाहर शिविर से
व्यग्र, यथा चंचल तुरंग श्रृंगनाद से;
समर तरंगें जब उठतीं सघोष हैं!
आये वीर बाहर; विभीषण थे साथ में
रण में विभीषण, विचित्र वीर-वेश से!
देवों ने प्रसून बरसाये; नभोदेश में
मांगलिक वाद्य बजे; नाचीं अप्सराएँ त्यों;
स्वर्ग, मर्त्य और नागलोक जयनाद से
पूर्ण हुए! देख तब अम्बर की ओर को
हाथ जोड़ राघव ने की यों शुभाराधना—
"आश्रय तुम्हारे पद-अम्बुजों में अम्बिके,
चाहता है राघव भिखारी आज! दास को
भूलो मत, धर्म्म-हेतु कितना प्रयास है
दास ने उठाया, उन अरुण पदाब्जों में
अविदित देवि, नहीं। फल उस धर्म्म का
मृत्युंजय मोहिनि, अभाजन को आज दो;

रक्षा करो माता, इस राक्षस-समर में,
प्राणाधिक भ्राता इस लक्ष्मण किशोर की!
मार के दुरन्त दानवों को, देव-दल को
तुमने उबारा था, उबारो माँ, अधीन को;
दुर्मद निशाचर का महिषविमर्दिनी,
करके विमर्दन, बचाओ इस बच्चे को!"
रक्षोरिपु राम ने यों शंकरी की स्तुति की!
ले जाता समीर यथा परिमल-धन को
राजालय में है तथा शब्दवह व्योम ने
शीघ्र पहुँचाई यह राघव की प्रार्थना
कैलासाद्रि धाम में। दिविन्द्र हँसा दिव में;
वैसे ही बढ़ाया शब्द-वाहक को वायु ने।
सुन गिरिराज-नन्दिनी ने शुभाराधना
तत्क्षण तथास्तु कहा स्वस्ति युक्त हर्ष से।
ऊषा उदयाद्रि पर हँसती दिखाई दी,
आशा यथा अन्धकार-पूरित हृदय में
दुःख-तमोनाशिनी! विहंग-कुल कुंजों में
कूज उठा, गूँज कर दौड़े सब ओर को
भृंग मधु-जीवी; चली रात मृदु गति से
तारा-दल संग लिये; ऊषा के सु-भाल पै
सोही एक तारा, शत तारकों के तेज से!
कुन्तलों में फूल खिले सौ सौ, नये तारों-से!
बोले रघुवीर तब धीर विभीषण से—
"जाओ मित्र, देखो, किन्तु सावधान रहना।
सौंपता है राघव भिखारी तुम्हें अपना
एक ही अमूल्य रत्न रथिवर! बातों का
काम नहीं, बस, यही कहता हूँ आज मैं—
जीवन-मरण मेरा है तुम्हारे हाथ में!"
आश्वासन देते हुए वीर महेष्वास को
बोले श्री विभीषण कि—"देव-कुल-प्रिय हो
रघु-कुल-रत्न तुम, डरते हो किस को?
मारेंगे अवश्य प्रभो, आज वहाँ युद्ध में
श्री सौमित्रि शूर उस मेघनाद शूर को।"
करके सौमित्रि तब प्रभु-पद-वन्दना,

सुहृद विभीषण समेत चले हर्ष से।
सघन घनों ने किया आवृत यों दोनों को—
करता है कुहरा ज्यों जाड़े के सवेरों में
शृंगों को; अदृश्य चले लंका ओर दोनों वे।
कमलासनस्थित यहाँ थी जहाँ कमला
रक्षःकुल-राजलक्ष्मी—रक्षोबधू-वेश में,
आयी उस स्वर्ण के सु-मन्दिर में मोहिनी
माया देवी। बोली हँस केशव की कामना—
"आज किस हेतु माया देवि, इस पुर में
तुम हो पधारीं? कहो रंगिणि, क्या इच्छा है?"
शक्तीश्वरी माया हँस उत्तर में बोली यों—
"संवरण तेज तुम आज करो अपना
नील-सिन्धु-बाले! इस सोने के नगर में
आ रहे हैं देवाकृति लक्ष्मण महारथी;
शिव के निदेश से वे मारेंगे निकुम्भला—
यज्ञागार-मध्य जा के दम्भी मेघनाद को।
तेज तब तेजस्विनि, कालानल-तुल्य है;
घुस सकता है यहाँ कौन अरि-भाव से?
राघव के ऊपर हे देवि, तुम तुष्ट हो,
मेरी यही प्रार्थना है! तारो वरदान से
माधव-रमणि, धर्म्म-मार्ग-गामी राम को।"
आह भर बोली सविषाद तब इन्दिरा—
"साध्य किसका है विश्वध्येये, इस विश्व में,
आज्ञा की अवज्ञा करे अल्प भी तुम्हारी जो?
रोते हैं परन्तु प्राण इन सब बातों को
सोच कर! हाय! कैसे आदर से मुझको
पूजता है रक्षःश्रेष्ठ, मन्दोदरी महिषी,
क्या कहूँ मैं उसको? परन्तु निज दोष से
डूबता है रक्षोराज! संवरण अपना
तेज मैं करूँगी; कौन प्राक्तन की गति को
रोक सकता है? कहो लक्ष्मण से, आवें वे
निर्भय हृदय हो के। होकर प्रसन्न मैं
देती वरदान हूँ कि मारेंगे अवश्य वे
मन्दोदरी-नन्दन अरिन्दम को युद्ध में!"

पद्मालया पद्मा चली पश्चिम के द्वार को,
शिशिर-विधौत-फुल्ल फूल ज्यों प्रभात में!
संग चली माया महा रंगिणी उमंग से।
सूख गयी रम्भा-राजि देखते ही देखते,
मंगल-कलश फूटे; नीर सोखा पृथ्वी ने;
अरुण-पदों में मिली आके अहा! शीघ्र ही
तेजोराशि; होती है प्रविष्ट प्रातःकाल में
जैसे चन्द्रमा की कान्ति भानु-कर-जाल में!
विगत श्री लंका हुई,—खोई फणिनी ने ज्यों
कुन्तल-विभूषा मणि! की गभीर गर्जना
दूर बादलों ने; व्योम रोया वृष्टि-मिस से!
कल्लोलित सिन्धु हुआ; काँपी महाक्षेप से
क्षोणी; अयि रक्षःपुरि, तेरे इस दुःख में,
स्वर्णमयि, तू है इस विश्व की विभूषणा!
देखा चढ़ उन्नत प्राचीर पर दोनों ने
लक्ष्मण को, मानों कुहरे से ढँका भानु हो
किं वा अग्नि धूम में! विभीषण था साथ में,
वायु-सखा-संग वायु दुर्द्धर समर में।
कौन कर लेगा आज रावणि का त्राण हा!
जो भरोसा राक्षसों का है इस जगत में?
जैसे घन-वन में विलोक दूर मृग को
चलता सुयोग का प्रयासी मृगराज है—
गुल्मावृत किं वा नदी-गर्भ में नहाते को
देख कर दूर से, सवेग उसे धरने
दौड़ आता घोर यम-चक्र-रूपी नक्र है,
अति ही अदृश्यता से, लक्ष्मण महारथी
सुहृद विभीषण समेत चले वैसे ही
राक्षस के मारने को, स्वर्ण-लंकापुर में।
माया को विदा दे, सविषाद आह भर के,
लौटी निज मन्दिर में सुन्दरी श्री इन्दिरा।
रोई लोक-लक्ष्मी हाय! सोखे समुल्लास से
अश्रु-विन्दु वसुधा ने, सोखती है शुक्ति ज्यों
यत्न से हे कादम्बिनि, तेरे नयनाम्बु को,
मंजु महा मुक्ताफल फलता है जिससे।

माया के प्रभाव से प्रविष्ट हुए पुर में
दोनों वीर। द्वार खुला लक्ष्मण के छूने से,
करके कुलिश-नाद; किन्तु गया किसके
श्रवणों में शब्द! हाय! जितने सुभट थे
अन्ध हुए माया के प्रताप से, उलूक ज्यों;
कोई नहीं देख सका दोनों कालदूतों को,
कौशल से साँप घुसे मानों फूल-राशि में!
देखी चतुरंगसेना लक्ष्मण ने द्वार पे,
चारों ओर। हाथियों के ऊपर निपादी हैं,
घोड़ों पर सादी हैं, रथों पर महारथी,
भूपर पदातिक, कराल काल-दूत-से—
भीमाकृति, भीमवीर्य्य, रण में अजेय हैं।
कालानल-तुल्य विभा उठती है व्योम में!
देखा भययुक्त वीर लक्ष्मण ने वह्नि-सा
प्रक्ष्वेड़न धारी, महा रक्षःविरूपाक्ष है,
स्वर्ण-रथारूढ़; और ऊँचा ताल-तरु-सा
तालजंघा शूर है भयंकर गदा लिये,
मानों गदाधारी हों मुरारि; गज-पृष्ठ पै
शत्रु कुल-काल कालनेमि है; सुरण में
कुशल रणप्रिय है; मत्त वीर-मद से
सतत प्रमत्त है; सुदक्ष यक्षपति-सा
चिक्षुर है; और बहु योद्धा हैं महाबली
देव-दैत्य-नर-त्रास! धीरे बढ़े दोनों ही।
देखा चुपचाप बली लक्ष्मण ने मार्ग के
दोनों ओर शत शत हेम-हर्म्य, शालाएँ,
मन्दिर, विपणि, उत्स, उपवन, सर हैं;
मन्दुरा में अश्व और वारण हैं वारी में;
अग्नि-वर्ण स्यन्दन असंख्य रथ-शाला में;
अस्त्रशाला, चारु चित्रशाला, नाट्यशालाएँ,
रत्नों से जटित हैं; अहा! ज्यों सुरपुर में।
कह सकता है कौन लंका के विभव को?
दैवतों का लोभ वह, दानवों की ईर्ष्या है!
कर सकता है भला कौन जन गणना—
सागर के रत्नों की, नभस्तल के तारों की?

देखा वीर लक्ष्मण ने बीचोंबीच पुर के
कौतुक से, रक्षोराज-राज-गृह। भाते हैं
श्रेणीबद्ध हेम-हीर-स्तम्भ; नभ छूती है
उच्च गृहचूड़ा, यथा हेमकूट-शृंगाली
आभामयी। हस्तिदन्त हेमकान्ति-युक्त है
शोभित झरोखों और द्वारों में, प्रमोद दे
आँखों को, प्रभात में ज्यों होता सुशोभित है
सौर-कर-राशि-युक्त संचय तुषार का!
विस्मय समेत तब देख विभीषण को,
विपुल यशस्वी वीर रामानुज बोले यों—
"रक्षोवर, अग्रज तुम्हारा राज-कुल में
धन्य है, सु-महिमा का अर्णव जगत में।
और किसका है अहा! भव में विभव यों?"
शोक से विभीषण ने आह भर के कहा—.
"शूर-रत्न तुम ने कहा सो सब सत्य है!
और किसका है हाय! भव में विभव यों?
किन्तु चिरस्थायी नहीं कुछ इस सृष्टि में।
एक जाता, दूसरा है आता, यही रीति है,
सागर-तरंग यथा! अस्तु, चलो शीघ्र ही
रथिवर, कार्य्य साधो, मार मेघनाद को,
पाओ अमरत्व देव, पीकर यशः सुधा!"
दोनों चले सत्वर, अदृश्य माया-बल से
देखीं बली लक्ष्मण ने तीरों पै तड़ागों के,
मीन-मद-भंजिनी मृगाक्षी यातु-बधुएँ,
कक्षों में सुवर्ण-घट, होठों पर हास्य है!
कमल जलाशयों में फूले हैं प्रभात में!
कोई भीमकाय रथी बाहर को वेग से
जा रहा है, फूल-शय्या छोड़, वर्म्म पहने,
पैदल; बजा रहा है कोई भीमनाद से
शृंग, निद्रा छोड़ के; सजाता अश्वपाल है
अश्व; गज गरज पकड़ता है शुण्ड से
मुग्दर; पड़ी है झूल पीठ पर रेशमी,
जिसमें सु-मुक्तामयी झालर है झूलती;
स्वर्ण-केतु-रथ में अनेक अस्त्र सारथी

रखता है। मन्दिरों में वाद्य प्रातः काल के
बजते हैं, जैसे मनोहारी गौड़-गेह में
देव-दोल-उत्सव में, आ के जब देवता
भूमि पर, करते हैं पूजन रमेश का!
चुन कर फूल कहीं जा रही है मालिनी
करके सुगन्धिमय मार्ग को, उजेला-सा
फैला कर चारों ओर, फूल-सखी ऊषा-सी!
दुग्ध-दधि-भार लिये जाते कहीं भारी हैं;
बढ़ता है यातायात चारों ओर क्रमश;
सारे पुर-वासी-जन जागते हैं निद्रा से।
कोई कहता है—'चलो, बैठें चल कोट पै;
शीघ्र नहीं जायँगे तो ठौर नहीं पायँगे,
युद्ध देखने के लिए अद्भुत। जुड़ायँगे
आँखें आज, देख रण-सज्जा युवराज की,
और सब वीरों की!' प्रगल्भता से कोई यों
उत्तर में कहता है—'कोट पर जाने का
काम क्या है? मारेंगे कुमार क्षण-मात्र में
राम और लक्ष्मण को; उनके प्रहारों से
रह सकता है खड़ा कौन, बोलो, विश्व में?
दग्ध यों अरिन्दम करेंगे वैरि-वृन्द को,
शुष्क तृण-पुंज को ज्यों करता कृशानु है!
चण्डाघात से दे दण्ड तात विभीषण को,
बाँधेंगे अधम को वे और फिर आवेंगे
राज-सभा-धाम में अवश्य रण-विजयी;
इससे सभा में चलो, मेरी बात मान के।'
कितना! बली ने सुना, देखा तथा कितना,
क्यों कर कहेगा कवि? हँस मन मन में,
देवाकृति, देववीर्य्य, दिव्यायुध, दिव्यधी
लक्ष्मण विभीषण समेत चले शीघ्र ही;
आ गया निकुम्भला का यज्ञागार अन्त में।
बैठ के कुशासन के ऊपर, अकेले में,
पूजता है इन्द्रजित वीर इष्टदेव को;—
पट्टवस्त्र-उत्तरीय धारण किये हुए।
भाल पर चन्दन की बिन्दी और कण्ठ में

फूलमाला शोभित है। धूप धूपदानों में
जलती है, चारों ओर पूत-घृत-दीप हैं
प्रज्वलित; गन्ध-पुष्प राशि राशि रक्खे हैं;
खंग-शृंग निर्मित भरे हुए हैं अरघे,
गंगे, पाप-नाशक तुम्हारे पुण्य तोय से!
हेम-घण्टा आदि वाद्य रक्खे हैं समीप में,
नाना उपहार स्वर्ण-पात्रों में सजे हुए;
द्वार है निरुद्ध; बैठा एकाकी रथीन्द्र है,
मानों चन्द्रचूड़ स्वयं तप में निमग्न हैं
योगिराज, कैलासाद्रि, तेरी उच्च चूड़ा पै!
होता है प्रविष्ट भूखा व्याघ्र गोष्ठगृह में
जैसे, यमदूत भीमबाहु माया-बल से
लक्ष्मण प्रविष्ट हुए देवालय में। अहा!
झन झन खंग हुआ कोष में, निषंग में
संघर्षित बाण हुए, मानों धरा धसकी,
काँप उठा मन्दिर सु-वीर-पद-भार से।
चौंक कर, बन्द आँखें खोल कर सहसा
देखा वली रावणि ने देवाकृति सामने
तेजस्वी महारथी,—हो तरुण तरणि ज्यों
अंशुमाली!
करके प्रणाम पड़ पृथ्वी पै,
हाथ जोड़ बोला तब वासव-विजेता यों—
''पूजा शुभयोग में है आज हे विभावसो,
किंकर ने तुमको, तभी तो प्रभो, तुमने
करके पदार्पण पवित्र किया लंका को!
किन्तु तेजोधाम, किस हेतु कहो, आये हो
रक्षोवंश-वैरी, नर, लक्ष्मण के रूप में,
कृपया कृतार्थ करने को इस दास को?
लीला यह कैसी है तुम्हारी विभो, बीर ने
माथा टेक फिर भी प्रणाम किया भक्ति से।
रौद्रमूर्ति दाशरथि बोले वीर-दर्प से—
''पावक नहीं मैं, देख रावणि, निहार के!
लक्ष्मण है नाम मेरा, जन्म रघु-कुल में!
मारने को शूर-सिंह, तुझको समर में
आया हूँ यहाँ मैं; अविलम्ब मुझे युद्ध दे।''

सहसा उठाये फन देख फणिवर को
पथ में, पथिक भीत, हीनगति होता है
जैसे, बली लक्ष्मण की ओर लगा देखने।
भीत हुआ आज भय-शून्य हिया! हाय रे!
विगलित सार हुआ तीक्ष्णतम ताप से!
ग्रास किया सहसा प्रभाकर को राहु ने!
सोख लिया सागर को दारुण निदाघ ने!
कलि ने प्रवेश किया नल के शरीर में!!!

विस्मय से बोला बली "सत्य ही जो तुम हो
रामानुज, तो हे रथि, किस छल से कहो,
रक्षोराज-पुर में घुसे हो तुम? सैकड़ों
यक्षपति-त्रास रक्ष, तीक्ष्ण शस्त्रपाणि जो,
सावधान रक्षा करते हैं पुर-द्वार की;
शृंगधर-सा इस पुरी का परकोटा है
ऊँचा, घूमते हैं जहाँ अयुत महारथी
चक्रावली रूप में; भुलाया इन सब को
कौन माया-बल से बताओ, बलि, तुमने?
मानव हो तुम तो, परन्तु अमरों में भी
ऐसा रथी कौन इस विश्व में है, जो कभी
कर दे विमुख इस यातुधान-दल को,
एकाकी समर में? प्रपंच यह दास को
करता है वंचित तुम्हारा क्यों, कहो प्रभो,
सर्वभुक? कौतुकि, तुम्हारा यह कौन सा
कौतुक है? लक्ष्मण नहीं है निराकार जो
हो सके प्रविष्ट इस मन्दिर में हे शुचे!
देखो, अब भी है द्वार रुद्ध! इस दास को
देव, वर-दान करो, राघव को मारके,
निःशंका करूँगा आज मातृभूमि लंका को!
किष्किन्धा-कलत्र को खदेड़ँगा सु-दूर मैं,
बाँध कर, राज चरणों में विभीषण को–
जो कि राज-द्रोही, कुल-कण्टक है–लाऊँगा।
सुनो, वह शृंग-नाद देव, सब ओर से
शृंगवादि-वृन्द करता है महानन्द से!
मग्नोद्यम होगी चमू देर जो करूँगा मैं;

देव, कृपा-कोर कर किंकर को दो बिदा!''
बोले फिर देवाकृति श्री सौमित्रि केसरी—
''रे दुरन्त रावणि, कृतान्त मैं तो तेरा हूँ!
भूतल को भेद कर काटता भुजंग है
आयु-हीन जन को! तू मद से प्रमत्त है;
देव-बल से है बली; तो भी देव-कुल की
करता अवज्ञा है सदैव अरे दुर्मते!
आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना!
देवादेश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
करता प्रचारित हूँ युद्ध-हेतु तुझ को!''
कह के रथीन्द्र ने यों, निष्कोषित असि की
घोर धार वाली! महा कालानल तेज से
दृष्टि झुलसाकर जो—देवराज-कर में
गाज-सी—दिखाई पड़ी! बोला मेघनाद यों—
''रामानुज लक्ष्मण हो यदि तुम सत्य ही,
तो हे महाबाहो, मैं तुम्हारी रण-लालसा
मेटूँगा अवश्य घोर युद्ध में; भला! कभी
होता है विरत इन्द्रजित रण-रंग-से?
लो आतिथ्यसेवा शूर-सिंह, तुम पहले,
मेरे इस धाम में जो आ गये हो, ठहरो!
रक्षोरिपु तुम हो, अतिथि तो भी आज हो!
सज लूँ ज़रा मैं वीर-साज से। निरस्त्र जो
वैरी हो, प्रथा नहीं है शूर-वीर वंश में
मारने की उसको, इसे हो तुम जानते,
क्षत्रिय हो तुम; मैं कहूँ क्या और तुम से?''
बोले तब लक्ष्मण गभीर घन-घोष से—
''छोड़ता किरात है क्या पा के निज जाल में
बाघ को अबोध? अभी वैसे ही करूँगा मैं
तेरा वध! जन्म तेरा रक्षःकुल में है, मैं
क्षत्रियों का धर्म्म कैसे तेरे संग पालूँगा?
शत्रुओं को मारे, जिस कौशल से हो सके!''
बोला तब इन्द्रजित (वीर अभिमन्यु ज्यों
रोष-वश तप्त साराकार, सप्त शूरों से)
''क्षत्र-कुल का है तू कलंक, तुझे धिक है

लक्ष्मण! नहीं है तुझे लज्जा किसी बात की।
मूँद लेगा कान वीर-वृन्द घृणा करके,
सुन कर तेरा नाम! दुष्ट, इस घर में
चोर-सा प्रविष्ट तू हुआ है; अभी दण्ड दे
करता निरस्त हूँ यहाँ रे नीच, मैं तुझे!
साँप घुस आवे यदि गेह में गरुड़ के,
लौट सकता है फिर क्या निज विवर को?
लाया तुझे कौन यहाँ, दुर्मति रे, नीच रे?''

अरघा उठा कर तुरन्त महावीर ने
मारा घोरनादयुक्त लक्ष्मण के भाल में।
पृथ्वी पर वीर गिरे भीषण प्रहार से,
गिरता प्रभंजन से जैसे तरुराज है
चड़ मड़! देवायुध झन झन हो उठे;
काँप उठा देवालय मानों महि-कम्प में;
शोणित की धारा बही! देव-असि शीघ्र ही
धर ली सु-वीर इन्द्रजित ने, परन्तु हा!
उसको उठा न सका! चाप खींचा, वह भी
लक्ष्मण के हाथ में से खींचा नहीं जा सका!
पकड़ा फलक क्रोध युक्त खींच लेने को,
निष्फल परन्तु हुआ योद्धा उस यत्न में!
शुण्ड में पकड़ के करी ज्यों शैल-शृंग को
खींचे वृथा, खींचा तूण अति बलशाली ने!
जान सकता है कौन माया महामाया की?
देखा द्वार ओर तब साभिमान मानी ने।
दीख पड़े वीर को सु-विस्मय के साथ में
भीम शूलपाणि, धूमकेतु-सम, सामने
काका श्री विभीषण—विभीषण समर में!

'जाना अब' बोला यों अरिन्दम विषाद से—
''कैसे हुआ लक्ष्मण प्रविष्ट इस पुर में?
हा! क्या तात, उचित तुम्हारा यह काम है?
जननी तुम्हारी निकषा है, और भाई है
रक्षोराज और कुम्भकर्ण शूली शम्भु-सा?
भ्रातृपुत्र वासव-विजेता मेघनाद है!
निज गृह-मार्ग तात, चोर को दिखाते हो?

और राज-गृह में बिठाते हो श्वपच को?
निन्दा किन्तु क्या करूँ तुम्हारी, गुरुजन हो,
तात, पितृ-तुल्य तुम। द्वार-पथ छोड़ दो,
जाऊँ और लाऊँ अभी अस्त्र अस्त्रागार से;
लक्ष्मण को शीघ्र पहुँचाऊँ यमलोक में,
लंका का कलंक मैं मिटाऊँ महा युद्ध में।"

उत्तर में बोला यों विभीषण कि—"धीमते,
व्यर्थ यह साधना है। मैं हूँ राघवेन्द्र का
दास; कैसे कार्य्य करूँ उनके विपक्ष में,
रक्षा करने को मैं तुम्हारे अनुरोध की?"
कातर हो मेघनाद फिर कहने लगा—
"काका, मरने की आप इच्छा मुझे होती है
बातें ये तुम्हारी आज सुन कर, लज्जा से!
राघव के दास तुम? कैसे इस मुख से
बात निकली है यह? तात, कहो दास से।
शंकर के भाल पर की है विधु-स्थापना
विधि ने; क्या भूमि पर पड़ कर चन्द्रमा
लोटता है धूलि में? बताओ तुम मुझको,
भूल गये कैसे इसको कि तुम कौन हो?
जन्म है तुम्हारा किस श्रेष्ठ राजकुल में?
कौन वह नीच राम? स्वच्छ सरोवर में
केलि करता है राजहंस पद्म-वन में,
जाता वह है क्या कभी पंक-जल में प्रभो,
शैवल-निकेतन में? मृगपति केसरी,
हे सुवीर-केसरि, बताओ, क्या शृगाल से
सम्भाषण करता है मान कर मित्रता?
सेवक है अज्ञ और विज्ञतम तुम हो,
इन चरणों में कुछ अविदित है नहीं।
क्षुद्रमति मर्त्य यह लक्ष्मण है, अन्यथा
करता प्रचारित क्या शस्त्र-हीन योद्धा को?
क्या यही महारथि-प्रथा है हे महारथे?
ऐसा एक शिशु भी नहीं है इस लंका में
हँस न उठे जो यह बात सुन! छोड़ दो
मार्ग तुम तात, अभी लौट के मैं आता हूँ;

देखूँगा कि आज किस दैव-बल से मुझे
करता पराङ्मुख है लक्ष्मण समर में!
देव, दैत्य और नर-युद्धों में स्वनेत्रों से
देखा शौर्य्य रक्षःश्रेष्ठ, तुमने है दास का!
दास क्या डरेगा देख ऐसे क्षुद्र नर को?
आया है प्रगल्भता से दाम्भिक निकुम्भला
यज्ञागार मध्य घुस; दास को निदेश दो,
दण्ड दूँ अभी मैं इस उद्धत अधम को।
चरण तुम्हारी जन्मभूमि पर रक्खे यों
वनचर! विधाता, हा! नन्दनविपिन में
घूमें दुराचार दैत्य? विकसित कंज में
कीट घुसे? तात, अपमान यह कैसे मैं
सह लूँ तुम्हारा भ्रातृपुत्र हो के? तुम भी
सहते हो रक्षोवर, कैसे, कहो, इसको?''

मन्त्र-बल से ज्यों फणी नत शिर होता है,
लज्जा-वश म्लानमुख बोला विभीषण यों—
''दोषी मैं नहीं हूँ वत्स, व्यर्थ यह भर्त्सना
करते हो मेरी तुम! हाय! इस सोने की
लंका को डुबोया निज कर्म्म-फल-दोष से
राजा ने स्वयं ही! अघ-द्वेषी सदा देव हैं,
और अघ-पूर्ण हुई लंका अब पूर्णतः;
डूबती इसीसे है कराल काल-जल में,
डूबती है एक साथ पृथ्वी ज्यों प्रलय में!
मैं इसीसे रक्षा-हेतु राघव-पदाश्रयी
जाकर हुआ हूँ! वत्स, सोचो तुम्हीं मन में,
चाहता है मरना क्या कोई पर-दोष से?''

रुष्ट हुआ इन्द्रजित! रात में जो व्योम में
करता गभीर घोष रोष कर मेघ है,
बोला बली—''धर्म्म-पथगामी तुम नामी हो
रक्षोराजराजानुज, बोलो, इस दास से
धर्म्म वह कौन सा है, जिसके विचार से
जाति-पाँति, भ्रातृ-भाव, सब को जलांजली
दी है तुम ने यों आज? कहता है शास्त्र तो—
पर-जन हों गुणी भी, निर्गुण स्वजन हों,

निर्गुण स्वजन तो भी श्रेष्ठ हैं सदैव ही;
पर हैं सदैव पर! शिक्षा अहो! तुम ने
पाई कहाँ रक्षोवर? किन्तु मैं वृथा तुम्हें
हे पितृव्य, दोष दूँ क्यों? ऐसे सहवास से
क्यों न तुम ऐसी महा वर्वरता सीखोगे?
नीच-संग करने से नीचता ही आती है!''

होकर सचेत यहाँ माया के प्रयत्न से,
घोर हुहुंकार कर रामानुज शूर ने
टंकारित चाप किया और तीक्ष्ण बाणों से
बिद्ध किया वैरिन्दम इन्द्रजित वीर को,
बेधा था शरों से महेष्वास तारकारि ने
तारक को जैसे! रक्त-धारा बही वेग से,
भूधर-शरीर से ज्यों वारि-स्रोत वर्षा में।
भीग गये वस्त्र और भीग गयी वसुधा!
होकर अधीर हाय! प्राणान्तक पीड़ा से
शंख, घण्टा और उपहार-पात्र आदि जो
यज्ञ-गृह में थे, लगा एक एक फेंकने
क्रोध से रथीन्द्र! अभिमन्यु यथा युद्ध में
होकर निरस्त्र सप्त रथियों के बल से,
फेंकता कभी था रथ-चक्र, कभी चूड़ा ही,
छिन्न चर्म, भिन्न वर्म, भग्न असि ही कभी,
आ गया जो हाथ में! परन्तु महामाया ने
सब को हटाया दूर, फैला कर हाथ यों—
सोते हुए बालक के ऊपर से जननी
मच्छड़ हटाती है हिला के कर-कंज ज्यों!
दौड़ा तब रावणि सरोष, भीमनाद से
गर्ज कर लक्ष्मण की ओर, यथा केसरी
टूटता है सम्मुख प्रहारक को देख के!
माया की अपार माया! चारों ओर वीर को
तत्क्षण दिखाई दिये—बैठे भीम भैंसे पै
कालदण्डधारी यमराज, शूली, हाथ में
शूर लिये; और शंख, चक्र, गदा, पद्म से
शोभित चतुर्भुज; सभीत देखा शूर ने
देव-कुल-रथियों को दिव्य व्योमयानों में!

दीर्घश्वास ले के सविषाद खड़ा हो गया:
निष्फल कलाधर ज्यों राहु-ग्रास से, बली;
किं वा केसरी ज्यों दृढ़ जाल में फँसा हुआ!
धन्वा छोड़ लक्ष्मण ने तीक्ष्णतर असि ली,
देख कर फलक-प्रकाश दृष्टि झुलसी!
अन्धा हुआ हाय रे! अरिन्दम महाबली
इन्द्रजित तत्क्षण ही घोर खंगाघात से
गिर पड़ा पृथ्वी पर, भीग कर रक्त से।
थर थर काँपी धरा, जलनिधि गरजा
उथल-पुथल हो के; भैरव निनाद से
पूर्ण हुआ विश्व! स्वर्ग, मर्त्य, रसातल में
अमरामर जीव हुए आतंकित शंका से!
बैठा था सभा में जहाँ स्वर्ण-सिंहासन पै
रक्षोराज, सहसा किरीट खस उसका
गिर पड़ा पृथ्वी पर, चूड़ा यथा रथ की
कट कर शत्रु-रथी-द्वारा गिरे भूमि पै।
शंकर को याद किया शंका मान चित्त में
लंकाराज रावण ने! तत्क्षण प्रमीला का
वामेतर नेत्र नाचा! हो के आत्मविस्मृता
सहसा सती ने पोंछ डाला भव्य भाल का
सुन्दर सिन्दूर-बिन्दु! मन्दोदरी महिषी
अच्छे-भले में ही अकस्मात हुई मूर्च्छिता!
सोते हुए मोदमयी गोदियों में माँओं की
रोने लगे बच्चे, आर्तनाद करते हुए,
रोये व्रज-वत्स थे ज्यों पीछे, जब थे गये
करके अँधेरा, व्रज-चन्द्र मधुपुर को!
यों अन्याय-संगर में गिर के महारथी,
रक्षःकुल का भरोसा, इन्द्रजित अन्त में,
बोला क्रूर वचनों से, रामानुज शूर से—
"क्षत्र-कुल-ग्लानि तू सुमित्रा-पुत्र, है! तुझे
धिक शत वार! रावणात्मज मैं मृत्यु से
डरता नहीं हूँ! किन्तु तेरे कराघात से
मरता हूँ, नीच, यही दुःख रहा मन में!
दानव-दलन देवराज का समर में

दलन किया था हाय! तेरे ही करों के क्या
आज मरने के लिए मैं ने? किस पाप से
दैव ने दिया है यह ताप इस दास को,
कौन जानें? और क्या कहूँ मैं अब तुझ से?
बात यह रक्षोराज जब सुन पायँगे,
कौन कर लेगा तब तेरा त्राण दुर्मते?
अतल-पयोधि-तल में तू यदि डूबेगा
पामर, प्रविष्ट होगा घोर वड़वाग्नि-सा
राज-रोष सत्वर वहाँ भी! घन-वन में,
दावानल हो के तुझे जाकर जलावेगा,
यदि तू छिपेगा वहाँ! रात्रि-तम भी तुझे
ढँक न सकेगा अरे, रात्रिंचर-रोष से!
दैत्य, नर, देव, ऐसी शक्ति किसकी है जो
त्राण करे नीच, तेरा रावण के रोष से?
कौन रे कलंकि, यह मेटेगा कलंक ही
तेरा?" यही कहके विषाद से सुमति ने
याद किये मातृ-पितृ-पाद-पद्म अन्त में।
अस्थिर-अधीर हुआ धीर याद करके
नित्य नवानन्दमयी प्रेयसी प्रमीला को!
रक्त-संग बहके अनर्गल प्रवाह से
आँसुओं ने आर्द्र किया हाय! धरातल को।
शान्तरश्मि भानु या कृशानु निर्वापित-सा,
दीख पड़ा वीर वर भूपर पड़ा हुआ।

बोला साश्रुनेत्र रावणानुज निहार के—
"कौशिकशयनशायी वीरबाहो, तुम हो
सर्वदा, पड़े हो आज हा! किस विराग से
पृथ्वी पर? क्या कहेंगे रक्षोराज तुमको
देख इस शय्या पर? मन्दोदरी महिषी?
इन्दुमुखी सुन्दरी प्रमीला? दिति-पुत्रियाँ—
देवबाला-दीप्ति-म्लानकारिणी—वे दासियाँ?
जरठा पितामही तुम्हारी सती निकषा?
क्या कहेगा रक्षःकुल? वत्स, उस कुल के
चूड़ामणि तुम हो; पड़े हो तात, क्यों? उठो!
छोड़ता तुम्हारे द्वार-पथ को हूँ मैं अभी

मान के तुम्हारा अनुरोध! अस्त्रागार से
अस्त्र लाओ, लंका का कलंक मेटो युद्ध में!
रक्षःकुल-गर्व, कहो, क्या मध्याह्न में कभी
विश्वदृगानन्द, अंशुमाली अस्त होता है?
फिर इस वेश में यशस्वि, तुम आज क्यों
भूपर पड़े हो? सुनो, शृंगनादी तुम को,
शृंगनाद करके बुलाते हैं, उठो, अहो!
देखो, हय हींसते हैं, गज हैं गरजते;
सजती है चण्डिका-सी राक्षस-अनीकिनी।
शत्रुंजय, देखो, पुर-द्वार पर वैरी है;
निज कुल-मान रक्खो वीर, इस रण में!''
यों बहु विलाप किया वीर विभीषण ने
शोक-वश। लक्ष्मण सशोक मित्र-शोक से
बोले तब—''रक्षःकुल-चूड़ामणे, शान्त हो,
रोको शोक; लाभ क्या है व्यर्थ इस खेद से?
वीर-वध मैंने किया, विधि के विधान से;
दोष क्या तुम्हारा भला? आओ, चलें लौट के
दास बिना चिन्ताकुल चिन्तामणि हैं जहाँ।
मांगलिक वाद्य सुनो, बजते हैं स्वर्ग में!''
दिव्य वाद्य-नाद सुना कान दे के वीर ने
चित्तहारी, स्वप्न में ज्यों! लौटे शीघ्र दोनों ही,
सिंहिनी के पीछे यथा मार सिंह-शिशु को,
जाता है किरात ऊर्ध्वश्वास—वायु-वेग से—
प्राण ले के, जिसमें न आके कहीं सहसा
आक्रमण भीमा करे, विवशा विषाद से,
देख हतजीव शिशु! किं वा द्रोण-पुत्र ज्यों
सुप्त पंच बालकों को—पाण्डव-शिविर में—
मार रजनी में, मनोगति से, अधीर हो,
हर्ष-भय-पूर्वक गया था कुरुक्षेत्र में,
भंगऊरु कौरवेश दुर्योधन था जहाँ!
दोनों ही अदृश्य चले, माया के प्रसाद से,
वैदेही-विलासी वीर थे जहाँ शिविर में।
करके प्रणाम चरणों में, कर जोड़ के
श्री सौमित्रि बोले—''इन पैरों के प्रसाद से

देव, रघुवंश-अवतंस, हुआ विजयी
दास यह! मारा गया इन्द्रजित युद्ध में!''
आदर से माथा चूम; आलिंगन करके,
बोले नेत्र-नीर भर प्रभु यों अनुज से—
''पाया आज सीता को तुम्हारे भुज-बल से
हे भुजबलेन्द्र! तुम धन्य वीर-कुल में!
जननी सुमित्रा धन्य! धन्य रघुकुल है!
तात, तब जन्मदाता धन्य दशरथ हैं!
धन्य मैं तवाग्रज हूँ! धन्य जन्मभूमि है,
नगरी अयोध्या! तव सुयश सदैव ही
विश्व में रहेगा यह! शक्ति-दाता देवों को
पूजो वत्स, दुर्वल सदैव हैं स्वबल से
मानव; सु-फल दाता देव ही हैं विश्व में!''
यों कह, सुहृद्धर विभीषण से, प्रेम से,
बोले प्रभु—''पाया तुम्हें मैं ने शुभयोग में
मित्र, इस राक्षसी-पुरी में, भाग्य-बल से!
क्रीत किया आज रघुवंश को है तुमने
अपने गुणों से गुणधाम! कहूँ और क्या?
मित्र-कुल-राज तुम, भानु ग्रहराज ज्यों!
आओ, अब पूजें उन्हें, जो हैं माँ शुभंकरी
शंकरी।'' सुरों ने बरसाये पुष्प व्योम से;
'जय जय सीतापति' नाद किया सेना ने
हर्ष से;—सशंका जगी लंका उस नाद से।

इति श्री मेघनाद-वध
काव्ये वधो नाम
षष्ठः सर्गः

सप्तम सर्ग

उदित दिनेश हुआ अब उदयाद्रि पै,
सुप्त पद्म-पर्ण पर आहा! पद्मयोनि ने,
खोल कर पद्म-नेत्र, सुप्रसन्न भाव से
मानों भूमि-ओर देखा! पुष्पकुन्तला मही
मुक्ताहार पहने गले में, हँसी हर्ष से।
मांगलिक वाद्य मन्दिरों में बजते हैं ज्यों
उत्सव में, श्रेष्ठ स्वरलहरी निकुंजों में
उठने लगी त्यों। खिली नलिनी सु-जल में,
तुल्य प्रेम वाली स्वर्ण सूर्य्यमुखी स्थल में।

देह अवगाहता है ज्यों निशि-शिशिर में
कुसुम, प्रमीला सती सुरभित नीर से
स्नान कर, माँग गुंथवाने लगी युवती।
सोही स्निग्ध कवरी में मोतियों की पंक्ति यों—
मेघावली मध्य इन्दुलेखा ज्यों शरद में।
रत्नमय कंकण, मृणाल-भुज वाली ने
करने को विभूषित मृणाल-भुज, पहना,
वेदना दी आहा! दृढ़ बन्ध-सम उसने!
पीड़ा मृदु कण्ठ को दी स्वर्ण-कण्ठमाला ने
फाँसी के समान! सती विस्मय के भाव से
वासन्ती, वसन्त की-सी गन्ध वाली, आली से
बोली—"क्यों पहन नहीं सकती हूँ सखि, मैं
आभूषण? और नगरी में सुनती हूँ क्यों
रोदन-निनाद दूर हाहाकार शब्द हा?
वामेतर नेत्र बार-बार नाचता है क्यों?

रोये उठते हैं प्राण! आलि, नहीं जानती
आज मैं पड़ूँगी हाय! कौन-सी विपत्ति में?
यज्ञागार में हैं प्राणनाथ; तुम उनके
पास जाओ, रोको उन्हें, युद्ध में न जावें वे
शूरशिरोरत्न इस दुर्दिन में। स्वामी से
कहना कि पैरों पड़ रोकती है किंकरी!''

मौन वीणा-वाणी हुई, बोली तब वासन्ती—
''श्रवण लगा के सुनो इन्दुमुखि, क्रमशः
बढ़ता है आर्तनाद! कैसे कहूँ, आज क्यों
रो रहे हैं पौरजन! आओ, चलें शीघ्र ही
मन्दिर में, पूजा करती हैं जहाँ महिषी
मन्दोदरी—आशुतोष शंकर की भक्ति से।
अश्व, गज, रथ, रथी मत्त रण-मद से
चलते सघन राज-पथ में हैं, कैसे मैं
जाऊँगी मखालय में, सजते हैं जिसमें
कान्त तव सीमन्तिनि, चिर रणविजयी
श्रेष्ठ रण-सज्जा से? तुरन्त चली दोनों ही
चन्द्रचूड़-मन्दिर में मन्दोदरी महिषी
पुत्र-रक्षा-हेतु जहाँ चन्द्रचूड़ाराधना
करती थीं व्यर्थ! व्यग्र दोनों चलीं शीघ्र ही।

विरसवदन आज कैलासाद्रि धाम में
बैठे हैं गिरीश। सविषाद आह भर के,
हैमवती-ओर देख बोली ईश उनसे—
''सफल मनोरथ तुम्हारा हुआ देवि है;
मारा गया इन्द्रजित योद्धा काल-रण में।
यज्ञागार-मध्य उसे कौशल से माया के
मारा बली लक्ष्मण ने! मेरा महा भक्त है
रक्षःकुलराज सति, दुख देख उसका
होता हूँ सदा मैं दुखी। शूल यह जो शुभे,
देखती हो तुम इस हाथ में, हा! इसके
घोराघात से भी घोर होता पुत्रशोक है!
रहती सदैव वह वेदना है, उसको
मेट नहीं सकता है सर्वहर काल भी!
रावण कहेगा क्या सुपुत्र-नाश सुन के?

सहसा मरेगा यदि रुद्रतेज दान से
रक्षा मैं करूँगा नहीं सर्व शुभे, उसकी।
तुष्ट किया इन्द्र को तुम्हारे अनुरोध से,
अनुमति दो कि अब रावण को तोष दूँ।''
बोली श्री भवानी तब—''चाहो सो करो प्रभो,
वासव की वासना को पूर्ण करने की थी
भिक्षा चरणों में, वह सिद्ध अब हो गयी।
दासी का सुभक्त रथी दाशरथि है विभो,
बात यह विश्वनाथ, मन में बनी रहे!
इन चरणाम्बुजों में दासी और क्या कहे?''
शूली हँसे, याद किया वीरभद्र शूर को।
प्रणत पदों में हुआ भीममूर्ति सुरथी;
बोले हर—''वत्स, हतजीव हुआ रण में
इन्द्रजित आज। उसे जाके मखागार में
लक्ष्मण ने मार डाला, गौरी के प्रसाद से;
दूत डरते हैं कहने को राक्षसेन्द्र से
बात यह। जानते नहीं हैं वे विशेषतः
मारा किस कौशल से लक्ष्मण ने है उसे।
देव-भिन्न देव-माया कौन इस विश्व में
जान सकता है वत्स? शीघ्र स्वर्णलंका में
जाओ महाबाहो, तुम, रक्षोदूत-रूप में;
रुद्र-तेज-दान करो आज दशानन को।''
भीमबली वीरभद्र व्योम-पथ से चला;
प्रणत सभीत हुए व्योमचर देख के
चारों ओर; निष्प्रभ दिनेश हुआ दीप्ति से,
होता है सुधांशु ज्यों निरंशु उस रवि की
आभा से। भयंकरी त्रिशूल-छाया पृथ्वी पै
आ के पड़ी। करके गभीर नाद सिन्धु ने
वन्दना की भीम-भव-दूत की। महारथी
राक्षसपुरी में अवतीर्ण हुआ शीघ्र ही;
थर थर काँपी हेमलंका पद-भार से,
काँपती है जैसे वृक्ष-शाखा जब उस पै
बैठती है पक्षिराज वैनतेय उड़के।
होकर प्रविष्ट मखागार में सुवीर ने

देखा पड़ा पृथ्वी पर रावणि महारथी!
फूला हुआ किंशुक-सा उत्पाटित आँधी से!
आँसू भरे वीर के विलोक यों कुमार को।
देख मर-दुःख हुआ अमर-हिया दुखी!
कनकासनस्थ जहाँ रक्षःकुलराज था
दूतवेशी वीर वीरभद्र वहाँ पहुँचा,
भस्मावृत वह्नि-सम तेजो हीन अधुना।
आशीर्वाद देकर प्रणाम-मिस मन में
रावण को, हाथ जोड़ सम्मुख खड़ा हुआ
साश्रु नेत्र वीर वर। विस्मय से राजा ने
पूछा—''कह दूत, तेरी वाणी क्यों विरत है
कार्य्य निज साधने में? राघव मनुष्य है,
भृत्य उसका तू नहीं वार्तावह, फिर क्यों
तेरा मुख म्लान है? सरोज-रवि लंका का
देव-दैत्य-नर-त्रास सजता है युद्ध को
आज, क्या अशुभ बात मुझसे कहेगा तू?
वज्र-तुल्य भीषण प्रहारण से रण में
हत यदि राम हुआ, कह उस बात को,
तुझ को पुरस्कृत करूँ मैं।'' छद्मवेशी ने
धीरे से कहा यों—''हाय! देव, इन पैरों में
क्यों कर सुनाऊँ बुरी बात, क्षुद्र प्राणी मैं?
अभय प्रदान करो किंकर को पहले!'
व्यग्रता से बोला बली—''तुझको क्या भय है
दूत? कह शीघ्र तुझे देता हूँ अभय मैं;
घटता शुभाशुभ है विधि के विधान से!''
बोला विरूपाक्ष-चर रक्षोदूत-वेश में—
''(कैसे कहूँ) रक्षोराज, आज हत हो गया
रक्षःकुल-गर्व रथी मेघनाथ रण में!''
जैसे घोर वन में कठोर व्याध-बाण से
बिद्ध हुआ सिंह भीम नाद कर भूमि पै
गिरता है, रावण सभा में गिरा वैसे ही!
घेर लिया हाहाकार कर सब ओर से
सचिव जनों ने उसे, कोई जन दौड़ के
हिमजल लाया, लगा कोई हवा करने।

वीरभद्र शूर ने सचेत किया शीघ्र ही
रुद्रतेजोद्धारा उसे, ज्यों बारूद भभके
अग्नि-कण पाके, उठ बोला बली दूत से–
"मारा कह दूत, आज किसने है रण में
चिर-रण-जेता उस इन्द्रजित योद्धा को?
शीघ्र कह?" बोला छद्मवेशी–"छद्मवेश से
लक्ष्मण ने होकर प्रविष्ट मुखागार में
मारा उसी दुष्ट ने है न्यायहीन रण में
वीर युवराज को; हा! उत्पाटित आँधी से
फूला हुआ किंशुक-सा मैंने उन्हें देखा है
मन्दिर में। रक्षोनाथ वीर श्रेष्ठ तुम हो,
भूलो सुत-शोक आज वीरकर्म्म करके।
राक्षस-कुलांगनाएँ पृथ्वी को भिगोवेंगी
आँसुओं से। देव, तुम पुत्रघाती शत्रु को
मार कर भीषण प्रहारों से समर में
तुष्ट महेष्वास, करो पौरजन-वृन्द को।"
सहसा अदृश्य हुआ देव-दूत, स्वर्ग का
सौरभ सभा में सब ओर अहा! छा गया!
देखी तब रावण ने विकट जटावली,
भीषण-त्रिशूल-छाया! दोनों हाथ जोड़ के
करके प्रणाम शैव बोला–"यह भृत्य क्या
याद आया इतने दिनों के बाद हे प्रभो,
भाग्यहीन? मायामय माया यह आपकी
कैसे समझूँ मैं मूढ़? किन्तु प्रभो, पहले
आपका निदेश पालूँ, पीछे मन में है जो
उन पद-पद्मों में निवेदन करूँगा मैं।"
तेजस्वी अपूर्व आज रुद्रमहातेज से
रोषयुत रक्षोराज बोला–"इस पुर में
जितने धनुर्धर हैं सब चतुरंग से
सज्जित हों एक संग! घोर रण रंग में
आज यह ज्वाला–यह घोर ज्वाला–भुलूँगा,
भूल जो सकूँगा मैं!"
सभा में हुआ शीघ्र ही
दुन्दुभिनिनाद घोर, शृंगवादि-वृन्द ने

प्रलय-समान शृंगनाद किया! और ज्यों
उस घननाद से है भूत-कुल सजता
कैलासाद्रि-शृंग पर, सज्जित हुआ यहाँ
रक्षःकुल चारों ओर; वीर-पद भारों से
काँप उठी हेम लंका! निकले तुरन्त ही
अग्नि-वर्ण स्यन्दन सुवर्ण-ध्वज वेग से;
धूम्रवर्ण वारण, उछाल भीम शुण्डों को
मुग्दर सदृश; अश्व हेषाध्वनि करके;
आया चतुरंग युत चामर गरज के
अमरों का त्रास; रथि-वृन्द युत—रण में
उग्र सा-उदग्र; गज-वृन्द-मध्य साहसी
वास्कल—घनों के बीच वज्री घनारूढ़-सा!
आया हुहुंकार असिलोमा-अग्निपुंज-सा—
अश्वपति; वीर बिडालाक्ष रणमत्त हो
पैदलों के संग भीम राक्षस महाबली!
केतुवह-वृन्द आया, केतु उड़े व्योम में
मानों धूमकेतु! रण-वाद्य बजे वेग से।
देव-तेज से ज्यों जन्म ले के दैत्यदलिनी
चण्डी-देव-अस्त्रों से सजी थी, रणोल्लास से
अट्टहास करके, सजी त्यों स्वर्णलंका में
भैरवी-सी यातुसेना—उग्रचण्डा युद्ध में।
गज-बल बाहु-बल; अश्व-गति गति है;
स्वर्णरथ शीर्षचूड़ा; अंचल पताका है
रत्नमय; भेरी, तूर्य्य, डंका आदि बाजों का
वाद सिंहनाद। शर, शूल, शेल, शक्तियाँ,
मुग्दर, परशु आदि अस्त्र तीक्ष्ण दन्त हैं!
तेजोमय वर्म्मों की छटा ही नेत्र-वह्नि है!
थर थर काँपी धरा; आलोड़ित भय से
कल्लोलित सिन्धु हुआ घोर नाद करके;
अचल विचल हुए गर्जन से भीमा के;
गरजी सरोष मानों चण्डी फिर जन्म ले!
भानु-कुल-भानु शूर चौंक के शिविर में
सुहृद विभीषण से बोले—"सखे, देखो तो,
काँपती है वार वार लंका, महि-कम्प-सा

हो रहा है घोर, धूम-पुंज उड़ सूर्य को
आच्छादित करता है घन-घन भाव से;
करती उजेला है अनन्त में भयंकरी
कालानल-सम्भवा सी आभा! सुनो, कान दे,
कल्लोलित हो रहा है सिन्धु ज्यों प्रलय में
विश्व-लय करने को!'' पाण्डु-गण्ड भय से
बोला यों विभीषण—''कहूँ मैं देव, और क्या?
काँपती है लंका यातु-वीर-पद-भारों से,
यह महिकम्प नहीं! कालानल-सम्भवा
आभा नहीं, देखते हो जो यह गगन में,
स्वर्ण-वर्म्म-कान्ति यह आयुधों के तेज से
मिलके दिशाएँ दसों करती प्रदीप्त है!
कोलाहल रुद्ध करता है श्रवणों को जो
सागर का नाद नहीं, राक्षस-अनीकिनी
गरज रही है मत्त हो के रण-मद से!
सजता सुतेन्द्र-शोक-कातर हो सुरथी
लंकाधिप रावण है! देव, अब सोच लो,
लक्ष्मण का रक्षण करोगे किस भाँति से
घोर इस संकट में? और सब वीरों का?''
सुस्वर से बोले प्रभु—''जाओ त्वरा करके
और बुला लाओ मित्र, सैन्याध्यक्ष-दल को;
देवाश्रित दास यह रक्षक है देवता!''
भीम शृंगनाद किया मित्र रक्षोवर ने।
किष्किन्ध्या-कलत्र आया गजपति-गति से;
आया वीर अंगद विशारद समर में;
देवाकृति नील-नल; आया प्रभंजन-सा
भीम बली आंजनेय; धीर जाम्बुवान भी;
सुप्रभ-शरभ शूर; राक्षसों का भय-सा
लोहिताक्ष गर्वित गवाक्ष; वीर-केसरी
और जो जो नेता थे सवेग सब आ गये।
करके समादर समस्त शूरवीरों का,
बोले प्रभु—''आज रक्षोराज पुत्र-शोक से
आकुल हो सैन्य सह सजता है युद्ध को;
काँपती है लंकापुरी वीर-पद-भारों से!

तुम हो त्रिलोकजयी वीर सब रण में;
सज्जित हो शीघ्र और रक्षा करो राम की
घोर इस संकट में। मैं स्वभाग्य-दोष से
वीरो, बन्धु-बान्धव-विहीन वन-वासी हूँ;
राम का भरोसा, बल, विक्रम, प्रताप भी
रण में तुम्हीं हो! अब वीर एक मात्र ही
लंका में बचा है, वीर-वृन्द, आज उसको
मारो! सिन्धु बाँधा है तुम्हारे ही प्रसाद से
मैं ने; और शम्भु-सम शूली कुम्भकर्ण को
तुमुल समर में है मारा, और मारा है
देव-दैत्य-नर-त्रास मेघनाद योद्धा को
लक्ष्मण ने! मेरा कुल, मान, प्राण रण में
रक्खो रघु-बन्धु, तुम; रघु-वधू अब भी,
राक्षस के छल से है रुद्ध कारागार में!
क्रीत किया तुमने मुझे है प्रेम-पण से,
बाँधो रघु-वंश को कृतज्ञता के पाश में
दाक्षिणात्य वीरो, आज दक्षिणता करके!''
मौन रघुनाथ हुए सजल नयन से।
मेघ-सम वाणी से सुकण्ठ तब बोला यों—
''युद्ध में मरूँगा मैं कि रावण को मारूँगा,
इन चरणों में आज मेरा यही प्रण है!
भोगता हूँ देव, मैं तुम्हारे ही प्रसाद से
राज-सुख-भोग; धन-मान-दाता तुम हो;
सहज कृतज्ञता के पाश से सदैव ही
बद्ध है अधीन यह इन पद-पद्मों में।
और क्या कहूँ मैं देव, मेरे संगि-दल में
ऐसा एक वीर नहीं जो तुम्हारे कार्य्य के
साधने में मृत्यु से भी डरता हो मन में!
सज्जित हो लंकापति, प्रस्तुत हैं हम भी;
निर्भय हृदय होके जूझेंगे समर में।''
गरजे सरोष सब सैन्याध्यक्ष मिल के,
गरजी विकट सेना—'जै जै राम'—रव से!
सुन वह भीमनाद राक्षस-अनीकिनी
गरजी सरोष, वीर-मद से भरी हुई;

नाद करती है यथा दुर्गा दैत्यदलिनी
दैत्यों का निनाद सुन! गूँजी हेमनगरी!
कमलासनस्थिता थी देवी जहाँ कमला
रक्षःकुल-राजलक्ष्मी, नाद वहाँ पहुँचा;
चौंक उठी शीघ्र सती, देखने लगी तथा
नीलकमलाक्षी, यातुधान-दल रोष से
अन्ध-सम सजता है; उड़ते हैं व्योम में
रक्षःकेतु–जीव-कुल-हेतु कुलक्षण से!
बजते हैं रक्षोवाद्य घोर नाद करके।
देख-सुन, पूर्ण शरदिन्दुमुखी इन्दिरा
शून्य-पथ धार चली वैजयन्त धाम को।
बजते विचित्र-वाद्य त्रिदिव सभा में हैं,
नाचती हैं अप्सराएँ; गाते हैं सु-तानों से
किन्नर; सु-देव और देवियों के दल में
कनकासनस्थित हैं देवराज, उसकी
बाईं ओर बैठी है सुचारुहासिनी शची;
बहता अनन्त गन्ध वायु है वसन्त का
सुस्वन से; चारों ओर पारिजात-पुष्पों की
सुगुणी गन्धर्व वर्षा करते हैं हर्ष से।
पहुँची उपेन्द्रप्रिया इन्द्रसभातल में।
करके प्रणाम इन्द्र बोला–"पद-धूलि दो
जननि, तुम्हारी कृपा-दृष्टि के प्रसाद से
निर्भय हुआ है दास, मारा गया युद्ध में
मेघनाद योद्धा आज! स्वर्ग-सुख-भोग मैं
भोगूँगा निरापद हो अब से। कृपामयी,
जिस पै तुम्हारी कृपा-दृष्टि हो जगत में
फिर क्या अभाव उसे?" उत्तर में हँस के
रत्नाकर रत्नोत्तमा बोली रमा सुन्दरी–
"शत्रु तब दैत्यरिपो, भूपर पतित है;
किन्तु अब रक्षोराज रक्षोदल-बल से
सजता है, व्याकुल है राजा पुत्र-वध का
बदला चुकाने को! सजे हैं संग उसके
लक्ष लक्ष रक्षोवीर। कहने को मैं यही
आयी हूँ तुम्हारे पास। रामानुज शूर ने

साधा है तुम्हारा कार्य्य; रक्षा करो उसकी
अब तुम आदितेय। उपकारी जन का
प्राण-पण से भी त्राण करना उचित है
संकट से, सज्जनों को! अधिक कहूँ क्या मैं?
रक्षःकुल-विक्रम तुम्हें हे शक्र ज्ञात है!
सोचो शचीकान्त, कैसे राघव को रक्खोगे।''

उत्तर में बोला इन्द्र—''उत्तर में स्वर्ग के
देखो जगदम्ब, तुम अम्बर प्रदेश में
सज्जित अमर-दल। निकलेगा युद्ध को
रक्षःकुलनाथ यदि तो मैं संग उसके
जाकर करूँगा रण-रंग हे दयामयी!
रावण-अरावणि-से माँ, मैं डरता नहीं!''

देखी वासवीय चमू चौंक कर पद्मा ने
उत्तर में स्वर्ग के। जहाँ लों दृष्टि जाती है,
देखा सुन्दरी ने निज देवदृष्टि डाल के—
गज, रथ, अश्व, सादी, सुरथी, निषादी हैं
कालजयी; उन्मद पदाति रणविजयी।
किन्नर, गन्धर्व, देव कालानल-कान्ति हैं;
स्यन्दन-शिखिध्वज-में तारकारि स्कन्द हैं
सेनानी; विचित्र रथ में है तथा सुरथी
चित्ररथ। जलती है व्योम में दवाग्नि-सी;
धूम-राशि-सी है गजराज-राजि उसकी;
और है शिखा-सी शूल-दीप्ति दृग-धर्षिणी!
चंचला अचंचला-सी सोहती पताका है,
भास्कर-परिधि से भी तेजोमय तेज में!
झक झक चर्म, वर्म झलमल होते हैं!

पूछा कमला ने—''हे सुरेन्द्र, कहाँ आज हैं
अग्नि, वरुणादि दिकपाल? शून्य उनसे
क्यों है यह स्वर्ग-सेना?'' बोला तब वृत्रहा—
''निज निज राज्य-रक्षा करने का उनको
मैंने है निदेश दिया; कौन जानें जननी,
क्या हो आज देव और राक्षसों के रण में?
दोनों कुल दुर्जय हैं! सम्भव है, अवनी
डूब जावे, डूबती है ज्यों वह प्रलय में;

सम्भव है, सारी सृष्टि जाय रसातल को!''

दे आशीष केशव की कामना सुकेशिनी
वासव को, लोकमाता लौट आयी लंका में,
बैठ के सुवर्णमय मेघों पर शीघ्र ही;
हो कर प्रविष्ट निज मन्दिर में खेद से,
कमलासनस्था हुई; रक्षःकुल-दुःख से
विरस वदन तो भी रूप-रश्मि-जाल से
करके प्रदीप्त-सी दिशाएँ दसों देवी श्री!

सजता है रक्षोराज शूर रण-मत्त हो;
हेमकूट-हेमशृंग-तुल्योज्वल तेज से
शोभित रथीन्द्र-वृन्द चारों ओर है अहा!
बजते अदूर रण-वाद्य हैं; गगन में
उड़ते हैं रक्षःकेतु, और हुहुंकार से
राक्षस गरजते हैं, अगणित संख्या में।
ऐसे ही समय में सभा में राजमहिषी
मन्दोदरी प्राप्त हुई, पारावती देख के
नीड़ शिशु-शून्य यथा! हाय! पीछे सखियाँ
दौड़ती हैं। राज-चरणों में पड़ी महिषी।

यत्न से सती को उठा, राक्षसेन्द्र बोला यों
खेद युक्त—''रक्षःकुलेन्द्राणि, हुआ वाम है
आज हम दोनों पर दैव! किन्तु फिर भी
जीवित हूँ अब भी जो मैं सो बस, उसका
बदला चुकाने के लिए ही! शून्य गृह में
लौट जाओ देवि, तुम; मैं अनीक-यात्री हूँ,
रोकती हो मुझको क्यों? रोने के लिए हमें
गृहणि, पड़ा है चिरकाल! हम दोनों ही
छोड़ के असार इस राज्य-सुख-भोग को,
बैठ के अकेले में करेंगे याद उसकी
रात-दिन। लौट जाओ, जाऊँ मैं समर में,
क्रोधानल क्यों यह बुझाऊँ अश्रु-जल से?
भू पर पड़ा है आज भूषण अरण्य का
शाल; हुआ तुंगतम शृंग चूर्ण शैल का;
व्योम-रत्न-चन्द्र चिर राहु-ग्रस्त हो गया!''

पकड़ सती को सखी-वृन्द अवरोध में

ले गया। सरोष तब बाहर निकल के
गर्ज कर, राक्षसों से बोला राक्षसेन्द्र यों—
"जिसके पराक्रम से राक्षस-अनीकिनी
देव-दैत्य और नर-युद्ध में थी विजयी;
जिसके कराल शर-जाल से समर में
कातर सुरेन्द्र युत शूर सुर थे सदा,
अतल रसातल में नाग, नर मर्त्य में;
मारा गया वीर वह! चोर सम घुसके
लक्ष्मण ने मारा उसे, जब कि अकेले में
पुत्र था निरस्त्र! मनोदुःख से प्रवास में
मरता प्रवासी जन जैसे है, न देख के
कोई स्नेह-पात्र, निज माता, पिता, दयिता,
भ्राता, बन्धु-बान्धव; मरा है स्वर्ण लंका में
स्वर्णलंका-अलंकार हाय! आज वैसे ही!
मैं ने वहु काल से है पाला तुम्हें पुत्र ज्यों;
पूछो, इस विश्व में है ख्याति किस वंश की
रक्षोवंश-ख्याति-सम? किन्तु मैं ने व्यर्थ ही
देव-नर-दैत्यों को हरा के धरा-धाम में
कीर्ति-वृक्ष रोपण किया है; हाय! मुझसे
इतने दिनों में अब वाम हुआ सर्वथा
निर्दय विधाता; सुनो, तब तो अकाल में
सूख गया मेरा आलवाल जल से भरा!
किन्तु मैं विलाप नहीं करता, विलाप से
लाभ ही क्या? पा सकूँगा क्या मैं अब उसको?
अश्रु-वारि-धारा से कृतान्त का कड़ा हिया
पिघला कभी है हाय! जाकर समर में
मारूँगा अधर्मी मूढ़ लक्ष्मण को अब मैं,
छद्मसमरी है जो, प्रतिज्ञा यही मेरी है;
निष्फल हुआ जो प्रण, फिर न फिरूँगा मैं,
रक्खूँगा चरण इस जन्म में न लंका में!
देव-दैत्य-नर-त्रास वीर वरो, तुम हो
विश्वजयी; आओ, चलो, याद करके उसे;
मारा गया मेघनाद, सुन इस बात को,
कौन जीना चाहता है आज रक्षोवंश में?

रक्षोवंश-गर्व बली योद्धा मेघनाद था!''
मौन महेष्वास हुआ, आह भर खेद से;
मेघ-घटा-घोष-सम, क्षोभ और रोष से,
गरजी निशाचरों की सेना वहाँ पृथ्वी को
आर्द्र कर, नेत्र-वारि-धारा-वृष्टि करके।
सुन वह भीमनाद राघव-अनीकिनी
गरजी गभीर नाद करके। त्रिदिव में
गरजा त्रिदिवनाथ धीर नाद करके।
क्रुद्ध हुए सीतानाथ, श्री सौमित्रि केसरी,
सुभट सुकण्ठ, वीर अंगद तथा हनू,
रक्षोयम नील, नल आदि सैन्याध्यक्षों ने
भीम गर्जना की 'जय राम' नाद करके!
मेघों ने सुनाया मन्द्र ढँक कर व्योम को;
चौंधा कर विश्व को विशाल वज्र गरजा;
चण्डिका की हास्य-राशि तुल्य हँसी चंचला,
देवी ने किया था जब हास्य वध करके
दैत्य-दुर्मदों का, घोर-रण-मद-मत्त हो!
आप तमोनाशी भानु डूबा तमोराशि में;
वैश्वानर-श्वास रूपी वायु बहा वेग से
चारों ओर घोर; जली दावानल वन में;
पल्ली-पुर-ग्रास किया प्लावन ने सहसा
नाद कर; काँपी धरा डग मग भाव से,
अट्ट गिरे, वृक्ष गिरे, जीव मरे कितने
चिल्ला कर, रोते हुए, मानों सृष्टि-लय में!
घोर भयभीता भूमि रोकर चली अहो!
विश्रुत वैकुण्ठधाम। हेमासन पै जहाँ
विष्णु थे विराजमान; पूत पद-पद्मों में
करके प्रणाम की सती ने प्रभु-प्रार्थना—
''रख बहु रूप दयासिन्धो, इस दासी को
वार वार तुमने उबारा है विपत्ति से;
पृष्ठ पर मुझको बिठाया कूर्म्म रूप में;
बैठी हूँ गदाधर, मैं दशन-शिखर पै,
(जैसे है शशांक में कलंक-रेखा राजती)
जब थी वराह-मूर्ति रक्खी प्रभो, तुमने।

रख नरसिंह रूप कनककशिपु को
मार कर तुमने जुड़ाया था अधीना को
खर्व वलि-गर्व किया खर्वाकार छल से,
वामन! तुम्हारी दया-दृष्टि के प्रसाद से
रक्षिता रही हूँ रमानाथ, कहूँ और क्या?
सर्वदा पदाश्रिता है दासी; पद-पद्मों में
आयी है इसीसे इस संकट की वेला में।''
पूछा हँस माधव ने सुमधुर वाणी से—
''कातर क्यों आज जगन्माता, तुम वसुधे,
हो रही हो? कष्ट तुम्हें वत्से, कौन देता है?''
रोकर धरा ने कहा—''जानते हो क्या नहीं
तुम अखिलज्ञ? देखो, लंका-ओर हे प्रभो!
युद्ध-मत्त रक्षोराज; युद्ध-मत्त राम हैं;
युद्ध-मत्त देवराज! तीन मत्त गज ये
पीड़ा दे रहे हैं प्रभो, आज इस दासी को!
रथपति, देवाकृति श्री सौमित्रि शूर ने
मारा मेघनाद को है नाथ आज रण में;
शोकाकुल होके किया रावण ने प्रण है
लक्ष्मण सुलक्षण को मारने का रण में;
शक्र ने किया है प्रण रक्षण का उनके;
शीघ्र समारम्भ हरे, काल-रण लंका में
देव-नर-राक्षस करेंगे। यह यातना
कैसे मैं सहूँगी, कहो पीताम्बर, मुझ से?''
लंकापुर ओर हँस देखा रमानाथ ने।
निकल रहा है राक्षसों का दल रोष से
अन्ध चतुस्कन्ध रूपी, अगणित संख्या में;
जग को कँपाता हुआ चलता प्रताप है
आगे, कर्णभेदी शब्द चलता है पीछे से;
उसके अनन्तर पराग घन घन-सा
चलता है दृष्टि-पथ रोक कर सब का;
काँपती है हेमलंका! देखा वहिर्भाग में
माधव ने राघव का सैन्यदल, सिन्धु में
मानों महा ऊर्म्मिकुल क्षिप्त वैरी वायु से!
देखा कमलाक्ष ने कि देव-दल वेग से

दौड़ता है लंका ओर, दूर यथा देख के
पक्षिराज गरुड़ भुजंग-निज भक्ष्य-को
भीषण हुंकार कर टूटता है सहसा!
विश्व पूर्ण होता है गभीरतम घोष से!
भागते हैं योगिजन योग-याग छोड़ के;
गोदों में उठाये हुए शिशुओं को माताएँ
रोती हैं भयाकुल हो; जीव-गण मूढ़ सा
भागता है चारों ओर! क्षण भर सोच के,
योगिजन-मानस-मराल बोले पृथ्वी से—
"विषम विपत्ति सति, देखता हूँ तुझको!
रक्षोराज रावण को आज विरूपाक्ष ने
रुद्र-तेज-दान कर तेजस्वी बनाया है।
दृष्टि नहीं आता मुझे कोई यत्न वसुधे!
जाओ, उनके ही पास।" रो के पद पद्मों में
बोली धरा—"हाय! प्रभो, शूली सर्वनाशी हैं,
साधन निधन का ही करते सदैव हैं!
सतत तमोगुण से पूर्ण त्रिपुरारि हैं।
उगल विषाग्नि सब जीवों को जलाने की
इच्छा रखता है शौरि, काल सर्प सर्वदा!
तुम हो दया के सिन्धु विश्वम्भर, विश्व का
रक्खोगे न भार तुम तो हा! कौन रक्खेगा?
दासी को बचाओ, यही प्रार्थना है दासी की
श्रीधर, तुम्हारे इन अरुण पदाब्जों में।"
हँस फिर बोले प्रभु "जाओ निज धाम को
वसुधे, तुम्हारा कार्य्य साधन करूँगा मैं
देव-कुल-वीर्य्य आज संवरण करके।
कर न सकेगा त्राण लक्ष्मण का वृत्रहा;
दुःखी हैं उमेश आज राक्षस के दुःख से।"
आनन्दित हो के गयी पृथ्वी निज धाम को।
प्रभु ने कहा यों तब सुगति गरुड़ से—
"उड़के सुपर्ण, तुम शीघ्र नभोदेश में—
कर लो हरण तेज रण गत देवों का,
हरता तमारि रवि जैसे सिन्धु-वारि है;
अथवा हरा था स्वयं तुमने अमृत ज्यों

वैनतेय, सिद्ध करो कार्य्य मेरी आज्ञा से।"
फैला कर दीर्घ दोनों पक्ष उड़ा व्योम में
पक्षिराज; शीघ्र महा छाया पड़ी पृथ्वी पै,
छाकर नदी, नद, अरण्य, शैल सैकड़ों।
उत्तेजित अग्नि लगने से यथा गेह में
ज्वालाएँ निकलती हैं सत्वर गवाक्षों से,
निकली निशाचरों की सेना चार द्वारों से,
नाद कर रोष युक्त; चारों ओर गरजी
राघवेन्द्र-सेना; देव-वृन्द आया युद्ध में।
गजवर ऐरावत आया रण-मत्त हो;
पीठ पर शोभित सुरेन्द्र वज्रधारी है,
दीप्तिमान मेरु-श्रृंग मानों भानु-कर से;
किं वा मध्य वासर में सोहता है सूर्य्य ज्यों;
आये स्कन्द तारकारि वर्हिध्वज-रथ में
सेनापति; आया सुविचित्र रथ में रथी
चित्ररथ; किन्नर, गन्धर्व, यक्ष आये त्यों
विविध विमानों पर। बाजे बजे स्वर्ग के;
सातंका सु-लंका हुई नाद सुन उनका;
काँपा चौंक सारा देश अमर-निनाद से!
करके प्रणाम सुर-नायक से राम यों
बोले तब—"देव-कुल-दास यह दास है
देवपते, कितना किया था पूर्व जन्म में
पुण्य मैं ने, सो क्या कहूँ? आज तब तो मिला
आश्रय तुम्हारे चरणों का इस कष्ट में;
तब तो पवित्र किया देव-पद-स्पर्श से
त्रिदिव-निवासियों ने आज धरातल को!"
उत्तर में राघव से बोला स्वरीश्वर यों—
"रघुकुल-रत्न, तुम देव-कुल-प्रिय हो!
बैठ रथि, देव-स्थ-मध्य, भुज-बल से;
मारो दुराचारी दुष्ट राक्षस को रण में।
मरता है रक्षोराज आप निज पाप से;
कर सकता है राम, रक्षा कौन उसकी?
पाया था अमृत यथा मैं ने मथ सिन्धु को,
छिन्नभिन्न लंका कर, मार यातुधान को,

साध्वी मैथिली को आज देव-कुल वैसे ही
अर्पण करेगा तुम्हें! अतल सलिल में
कब लों रहेगी श्री अँधेरा कर विश्व में?''
होने लगा घोर रण रक्षो-नर-देवों में।
अम्बुराशि-जैसा कम्बुराशि-रव हो उठा
चारों ओर धन्वा निज टंकारित करके
रुद्ध किया कर्ण-पथ धन्वी धीर वीरों ने!
भेद कर चर्म-वर्म-देह उड़े व्योम में
कुलिश-स्फुलिंग-शर, धारा बही रक्त की!
राक्षस, मनुष्य रथी योद्धा गिरे क्षेत्र में;
कुंजरों के पुंज गिरे—पत्र ज्यों निकुंजों में,
प्रबल प्रभंजन से; वाजि गिरे गर्ज के;
पूर्ण रणभूमि हुई भैरवनिनाद से।
टूटा चतुरंग दल ले के देव-दल पै
चामर—अमरत्रास। चित्ररथ सुरथी
सौरतेज रथ में प्रविष्ट हुआ रण में,
वारणारि सिंह यथा वारण को देख के।
आ के ललकारा भीव रव से सुकण्ठ को
रथिप उदग्र ने, विधूर्ण हुए रथ के
चक्र सौ-सौ स्रोतों के समान शब्द करके।
वेग से बढ़ाया गज-यूथ यूथनाथ ज्यों
कालबली वास्कल ने, देख कर दूर से
अंगद को; रुष्ट युवराज हुआ देख के,
मृग-दल देख शिशु सिंह यथा होता है!
तीक्ष्ण असिधारी असिलोमा ने प्रकोप से,
संग लिये वाजि-राजि, आगे बढ़ शीघ्र ही
घेर लिया वीरर्षभ सुप्रभ-शरभ को।
वीर विडालाक्ष (विरूपाक्ष सर्वनाशी ज्यों)
लड़ने सरोष लगा आ के हनूमान से।
आये रणमध्य, बैठ दिव्य रथ में, रथी
रामचन्द्र; आहा! यथा देवपति दूसरे
वज्रधारी! विस्मय से तारकारि स्कन्द ने
शूर श्रेष्ठ लक्ष्मण में निज प्रतिमूर्ति-सी
देखी मर्त्यलोक मध्य! उड़ घन भाव से

चारों ओर धूल छाई; डगमग भाव से
डोली हेमलंका; क्षुब्ध हो के सिन्धु गरजा!
अद्भुत अपूर्व व्यूह बाँधा बलाराति ने।
पुष्पक में बैठा हुआ रक्षोराज निकला;
घूमे रथ-चक्र घोर घर्घर निनाद से,
उगल कृशानु-कण; हींसे हय हर्ष से।
चौंधा कर आगे चली रत्न-सम्भवा विभा,
ऊषा चलती है यथा आगे उष्णरश्मि के,
जब उदयाद्रि पर एकचक्ररथ में
होता है उदित वह! देख रक्षोराज को
रक्षोगण गरजा गभीर धीर नाद से।
बोला सारथी से रथी—''केवल मनुष्य ही
जूझते नहीं हैं आज; देखो सूत, ध्यान से,
धूम-पुंज में ज्यों अग्निराशि, रघु-सैन्य में
देव-सेना सोहती है। आया इन्द्र लंका में,
सुन कर आज हत इन्द्रजित योद्धा को!''
याद कर पुत्र को निशाचरेन्द्र रोष से
करके गभीर नाद बोला—''सूत, शीघ्र ही
रथ को बढ़ाओ, जहाँ वज्री बलाराति है।''
दौड़ा रथ तत्क्षण मनोरथ की गति से।
भागी रघु-सेना, वन-जीव यथा देख के
मदकल नाग भागते हैं ऊर्ध्व श्वास से!
किं वा जब वज्रानलपूर्ण घोर नाद से
भीमाकृति मेघ उड़ता है वायु-पथ में,
देख तब जैसे उसे भागते हैं भय से
भीत पशु-पक्षी सब ओर! क्षण भर में
धनुष चढ़ाके व्यूह भेद डाला वीर ने;
तोड़ता है जैसे अनायास बाँध बालू का,
प्लावन-प्रवाह, महा घोर घनाघात से!
किं वा गोष्ठ-वेष्टन निशा में यथा केसरी!
प्रत्यंचा चढ़ाके रोपयुक्त बली स्कन्द ने
रोका उस स्यन्दन का मार्ग। हाथ जोड़ के,
उनको प्रणाम कर लंकेश्वर बोला यों—
''शंकरी को, शंकर को देव, सदा भक्ति से

पूजता है किंकर! निहारता हूँ फिर क्यों
वैरि-वृन्द-संग तुम्हें आज इस लंका में?
करते रथीन्द्र, क्यों हो मनुजाधम राम की
तुम अनुकूलता यों? न्यायहीन युद्ध में
मेरे श्रेष्ठ नन्दन को लक्ष्मण ने मारा है;
मारूँगा अभी मैं उस मूढ़ छली योद्धा को;
छोड़ दो कुमार, मेरा मार्ग, कहूँ और क्या?''
बोले उमानन्दन—''सुरेश के निदेश से
लक्ष्मण का रक्षण करूँगा यहाँ आज मैं।
मुझको हराओ महाबाहो, बाहुबल से,
अन्यथा मनोरथ न सिद्ध कर पाओगे!''
तेजस्वी अपूर्व महा रुद्रतेज से बली
रावण ने अग्नि-सम छोड़े अस्त्र रोष से,
और किया कातर शरों से शक्तिधर को!
बोली विजया से तब अभया अधीर हो—
देख सखि, लंका ओर तीक्ष्णतर बाणों से
विद्ध करता है क्रूर राक्षस कुमार को!
हरता है देव-तेज पक्षिराज नभ में;
जा तू सखि, शीघ्र वहाँ, चंचला की गति से,
युद्ध से विरत कर सत्वर कुमार को।
छाती फटती है हाय! देख कर वत्स के
कोमल शरीर में से रक्त-धारा बहती।
देव सदानन्द भक्तवत्सल हैं; भक्त को
प्यार करते हैं पुत्र से भी सविशेष वे;
है दुर्वार रावण इसीसे कालरण में!''
सौरकर रूपिणी सुनीलाम्बर-मार्ग से
दौड़ गयी दूतो शीघ्र। आके रणक्षेत्र में
कहने लगी यों कर्णमूल में कुमार के—
''रोको युद्ध शक्तिधर, शक्ति के निदेश से;
लंकेश्वर आज महारुद्रतेजःपूर्ण है!''
हँसके फिराया रथ तारकारि स्कन्द ने।
कटक असंख्य काट, सिंहनाद करके
दौड़ा शीघ्र रक्षोराज—वर्द्धित कृशानु-सा—
ऐरावत-पृष्ठ पर वज्री जहाँ इन्द्र था।

घेर लिया रावण को चारों ओर दौड़ के
किन्नर, गन्धर्व तथा वानरों ने वेग से;
घोर हुहुंकार कर शूर ने निमेष में
सब को निरस्त किया, जैसे वनराजि को
भस्म करता है वह्नि। लज्जा को जलांजली
देकर सुभट-वृन्द भागा! इन्द्र क्रुद्ध हो
आया, देख पार्थ को ज्यों कर्ण कुरुक्षेत्र में।
करके हुंकार भीम तोमर तुरन्त ही
ऐरावत-भाल पर मारा राक्षसेन्द्र ने।
अर्द्ध पथ में ही उसे काट दिया शक्र ने।
बोला कवुरेन्द्र गर्व पूर्वक सुरेन्द्र से—
"काँपते सदा थे निज वैजयन्त धाम में
शूर शचीकान्त, तुम नाम से ही जिसके;
मारा गया आज वह रावणि तुम्हारे ही
कौशल से छलमय युद्ध में इसी से क्या
आये हो अलज्ज, तुम हेमलंकापुर में?
अमर अवध्य तुम, अन्यथा निमेष में
दमन तुम्हारा यहाँ शमन-समान मैं
करता! परन्तु तो भी मेरा यह प्रण है—
तुम न बचा सकोगे लक्ष्मण को मुझ से।"
भीम गदा ले के रथी कूद पड़ा रथ से,
डगमग डोली धरा पद-युग-भार से,
कोषगत खंग हुआ झन झन पार्श्व में!
करके हुंकार वज्र लेने लगा वज्री जो,
हर लिया देव-तेज वैसे ही गरुड़ ने;
कुलिश उठा न सका हाय! स्वयं कुलशी!
रावण ने भीम गदा मारी गज-भाल में,
मारता प्रभंजन है जैसे गिरि-शिर में,—
अभ्रभेदी वृक्ष को उखाड़ कर आँधी से!
होकर निरस्त गज घोर घनाघात से
गिर पड़ा दोनों घुटनों के बल शीघ्र ही।
हँस कर राक्षसेन्द्र बैठा निज रथ में।
लाया तब दिव्य रथ मातलि मुहूर्त में;
वासव ने छोड़ दिया मार्ग अभिमान से।

दिव्य रथारूढ़ तब दाशरथि सामने
आये, सिंहनाद कर, धन्वा लिये हाथ में।
बोला वीर रावण निहार कर उनको—
''चाहता नहीं मैं आज सीतानाथ, तुमको;
एक दिन और तुम इस भवधाम में
जीते रहो निर्भय निरापद हो! है कहाँ
अनुज तुम्हारा वह नीच छद्म समरी?
मारूँगा उसे मैं, तुम अपने शिविर में
लौट रघुश्रेष्ठ, जाओ!'' दीर्घ धन्वी रोष से
गरजा विलोक दूर शूर रामानुज को,
सिंह वृषपाल को ज्यों, शूरशिरोरत्न वे
राक्षसों को मारते हैं, बैठ कभी रथ में
और कभी पैदल, अपूर्व वीर्य्य-बल से!
पुष्पक सवेग चला घर्घर सु-घोष से,
अग्नि-चक्र-तुल्य रथ-चक्र लगे छोड़ने
अग्नि-राशि; धूमकेतु-तुल्य रथ-केतु की
शोभा हुई! देख कर दूर ज्यों कपोत को,
फैला कर पंख श्येन दौड़ता है शून्य में,
दौड़ा राक्षसेन्द्र त्यों ही देख रण-भूमि में
पुत्रघाती लक्ष्मण को; दौड़े सब ओर से
देव-नर गर्ज कर, शूर के बचाने को।
दौड़े तथा रक्षोगण देख रक्षोराज को।
करके पराजित विपक्षी विडालाक्ष को
दौड़ा वीर आंजनेय, घोर प्रभंजन-सा
गर्ज कर; देख कर काल-सम शूर को
चिल्ला कर भाग उठी राक्षस-अनीकिनी,
जैसे तूल-राशि उड़ती है वायु-वेग से!
क्रोध कर रावण ने तीक्ष्ण तीक्ष्ण बाणों से
बिद्ध कर शीघ्र किया विचलित वीर को
मारुति अधीर हुआ, जैसे भूमि-कम्प में
होता है महीध्र! घोर संकट में शूर ने
ध्यान किया अपने पिता के पद युग्म का;
निज बल दान किया नन्दन को वायु ने,
देता है स्वतेज जैसे सूर्य्य सुधानिधि को।

तेजस्वी परन्तु महारुद्र तेज से रथी
रावण ने तत्क्षण निवारित किया उसे;
छोड़ रण-रंग हनूमान भगा हार के।
किष्किन्धा-कलत्र आया, विग्रह में मार के
उद्धत उदग्र को। सहास्य उसे देख के
बोला दशकण्ठ—"किस कु-क्षण में छोड़ के
राज-सुख-भोग अरे वर्वर, तू आया है
दूर इस कर्बुरपुरी में? वह तारा जो
तारा-तुल्य दीप्तिसारा, तेरी भ्रातृदारा है,
छोड़ उसे तू क्यों यहाँ आया रथि-वृन्द में?
जा रे, तुझे छोड़ दिया, भाग जा स्वेदश को,
विधवा बनाने चला मूढ़, फिर क्यों उसे?
कोई और देवर है दुर्मति, क्या उसका?"
उत्तर सुकण्ठ ने दिया यों भीमनाद से—
"तुझ-सा अधर्म्मी कौन है इस जगत में
रक्षोराज? दुष्ट, पर-दार-लोभ करके
डूबा है सवंश तू! कलंक निज कुल का
है तू नीच! मेरे हाथ से ही मृत्यु तेरी है।
मार तुझे, मित्र-बधू आज मैं उबारूँगा।"
कह यों बली ने गिरि-शृंग फेंका गर्ज के,
करके अँधेरा-सा अनम्बर प्रदेश में
शिखिर सवेग चला; तीक्ष्ण शर छोड़ के
काटा उसे रावण ने खण्ड खण्ड करके;
फिर निज दीर्घ चाप टंकारित करके
घोर हुहुंकार कर तीक्ष्णतर बाणों से
छेद डाला रावण ने रण में सुकण्ठ को!
पीठ दे सुमति भागा आर्त घनाघात से!
भागी रघु-सेना सब ओर भयभीत हो,
(कल जल-राशि यथा टूटने से बाँध के;)
देव-दल तेजोहीन होके अहा! अधुना
नर-दल-संग भगा, जैसे वायु-वेग से
धूम-संग अग्नि-कण आप उड़ जाते हैं!
देवाकृति लक्ष्मण को रावण ने सामने

देखा, वीर मद से है दुर्मद समर में
रक्षोराज, गरजा रथीन्द्र हुहुंकार से;
गरजे सौमित्रि शूर निर्भय हृदय से,
मत्त करि जैसे मत्तकरि के निनाद से
नाद करता है! देवदत्त धन्वा धन्वी ने
तत्क्षण सगर्व किया टंकारित रोष से।
बोला रोषयुक्त रक्षोराज—"अरे, इतनी
देर में तू लक्ष्मण, क्या मेरे हाथ आया है
रण में रे पामर? कहाँ है अब वृत्रहा
वज्री? कहाँ वर्हिध्वज तारकारि स्कन्द हैं
शक्तिधर? और कहाँ तेरा वह भाई है
राघव? सुकण्ठ कहाँ? पामर, बता तुझे
कौन बचावेगा? इस कालासन्न रण में,
जननी सुमित्रा और ऊर्म्मिला बधू को तू
याद करले रे, अब मरने के पहले!
मांस तेरा दूँगा अभी मांसभोजी जीवों को;
रक्त-स्रोत सोख लेगी पृथ्वी इस देश की।
कुक्षण में दुर्मति, हुआ है सिन्धु पार तू,
चोर-तुल्य होकर प्रविष्ट रक्षोगेह में,
रक्षोरत्न तू ने हरा—जग में अमूल्य जो।"
गरजा सरोष राजा भैरव विराव से
अग्नि-शिखा-तुल्य शर धन्वा पर रख के;
भीम सिंहनादी वीर लक्ष्मण ने उसको
उत्तर दिया यों भीम सिंहनाद कर के—
"क्षत्र कुल में है जन्म मेरा, कभी रण में,
रक्षोराज, काल से भी डरता नहीं हूँ मैं;
फिर किस कारण डरूँगा भला तुझ से?
कर ले जो साध्य हो सो, पुत्र-शोक से है तू
व्याकुल विशेष आज, तेरा शोक मेटूँगा
भेज तुझे तेरे उस पुत्र के ही पास मैं।"
होने लगा घोर रण; देव-नर दोनों की
ओर अति विस्मय के साथ लगे देखने;
करके हुंकार वार वार बाण वैरी के

काटे वीर लक्ष्मण ने! विस्मित हो बोला यों
रावण—"बड़ाई करता हूँ बार बार मैं
तेरे शौर्य्य-वीर्य्य की हे लक्ष्मण महारथे!
शक्तिधर से भी शक्ति तुझ में विशेष है;
किन्तु तेरी रक्षा नहीं आज मेरे हाथ से!"
यादं कर पुत्र को सरोष महाशूर ने
छोड़ी महाशक्ति! घोर वज्रनाद करके,
नभ में उजेला कर, दामिनी-सी दारुणा
छूटी शत्रुनाशिनी! सकम्प हुए भय से
देव-नर! लक्ष्मण कठोर घोराघात से
गिर पड़े पृथ्वी पर, ज्यों नक्षत्र टूटा हो;
झन झन अस्त्र हुए, आभाहीन रक्त से
सम्प्रति। सनाग-नग-तुल्य गिरे धीर धी।
विद्ध कर गहन अरण्य में हरिण को
अपने अमोघ शर द्वारा दौड़ता है ज्यों
उसको पकड़ने किरात, रथ छोड़ के
दौड़ा बली रक्षोराज शव के उठाने को!
चारों ओर आर्तनाद होने लगा सहसा।
घोर हाहाकार कर देव-नर वीरों ने
घेर लिया लक्ष्मण को। कैलासाद्रि धाम में
शंकर के चरणों में बोली व्यग्र शंकरी—
"मारा प्रभो, लक्ष्मण को रावण ने रण में।
धूल में सुमित्रा-पुत्र देखो, अब है पड़ा!
तुष्ट किया राक्षस को भक्तप्रिय, तुमने;
वासव का सर्व गर्व खर्व किया रण में,
प्रार्थना है किन्तु विरूपाक्ष, यही दासी की
रक्षा करो लक्ष्मण के देह की—दया करो।"
शूली हँस बोले तब वीरभद्र शूर से—
"रोको वीर, रावण को।" मन की-सी गति से
वीरभद्र जाकर गभीर धीर वाणी से
रावण के कान में यों बोला—"हत शत्रु है
रक्षोराज, काम क्या है अब रणभूमि में?
लौट जाओ वीर वर, हेमलंका धाम को।"

यों कह अदृश्य हुआ देव-दूत स्वप्न-सा।
रथ पर बैठा शूर-सिंह सिंहनाद से;
रक्षोरणवाद्य बजे, रक्षोगण गरजे;
पुर में प्रविष्ट हुई राक्षस-अनीकिनी—
भीमा जय लाभ कर, मानों महा चण्डिका
मार रक्तबीजासुर, नृत्य करती हुई,
अट्टहास पूर्वक प्रसन्न समुल्लास से
लौटी आर्द्र देह वाली शोणित के स्रोत से!
और ज्यों सती की वन्दना की देव-दल ने,
भूरि अभिनन्दन किया त्यों जय-गीतों से
राक्षस चमू का महानन्दी वन्दि-वृन्द ने!
हो के पराभूत यहाँ, अति अभिमान से,
सुर-दल-संग सुरराज गया स्वर्ग को।

इति श्री मेघनाद-वध काव्ये
शक्तिनिर्भेदो नाम
सप्तमः सर्गः

अष्टम सर्ग

राज-काज सांग कर, जाकर विराम के
मन्दिर में राजा यथा मुकुट उतार के
रखता है, अस्ताचल-चूड़ा पर सन्ध्या में
मस्तक-किरीट-रवि रक्खा दिनदेव ने;
तारा-दल संग लिये आई तब यामिनी,
आया यामिनी का प्रिय कान्त शान्त चन्द्रमा।
अग्नि-पुंज जले चारों ओर रणक्षेत्र में
सौ सौ, शूर लक्ष्मण पड़े हैं जहाँ पृथ्वी पै;
नीरव पड़े हैं वहीं सीतापति! आँखों से
अविरल अश्रुजल बह कर वेग से
भ्रातृ-रक्त-संग मिल पृथ्वी को भिगोता है,
बह गिरि-गात्र पर गैरिक से मिल के
गिरता है पृथ्वी पर निर्झर का नीर ज्यों!
हो रहे हैं शूर सब शून्यमना शोक से
सुहृद विभीषण विभीषण समर में,
सुहृद सुकण्ठ शूर, मारुति महाबली,
अंगद, कुमुद, नल, नील वीरकेसरी,
शरभ, सुबाहु आदि प्रभु के विषाद से
हो रहे विषण्ण सब साश्रुमुख मौन हैं!
होकर सचेत नाथ कातर हो बोले यों—
"छोड़ कर राज्य हुआ जब वनवासी मैं
लक्ष्मण, कुटी के द्वार पर तुम रात में
जागते थे धीर धन्वि, धन्वा लिये हाथ में
मेरे रक्षणार्थ; आज राक्षसनगर में—
आज इस राक्षस-नगर में, विपक्षों के

बीच हो रहा मैं मग्न संकट-समुद्र में;
तो भी महाबहो, तुम भूल मुझे पृथ्वी पै
सोते हो पड़े यों? कौन आज मुझे रक्खेगा
रक्षित? उठो कब विरत वीर, तुम हो
भ्रातृ-आज्ञा पालन में? किन्तु यदि तुमने
मेरे भाग्य-दोष से—सदा मैं भाग्यहीन हूँ—
त्याग दिया प्राणाधिक, मुझको है, तो, कहो,
किस अपराध से तुम्हारी अपराधिनी
जानकी अभागिनी है? याद कर अपने
श्री सौमित्रि देवर को, रक्षोवन्दिगृह में
रोती रहती है दिन-रात! कैसे भूले हो
भाई, तुम आज कैसे भूले हो उसे, कहो?
सब कुछ भूल कर, माता-सम जिसकी
सेवा करते थे सदा आदर से, यत्न से!
रघुकुल-रत्न, हा! तुम्हारे कुल की बधू
बाँध रक्खे पौलस्तेय? ऐसे दुष्ट दस्यु को
दे कर न दण्ड यह निद्रा क्या उचित है
तुमको हे भाई, कहो, शौर्य्य तथा वीर्य्य में
सर्वभुक-तुल्य तुम दुर्द्धर जो युद्ध में?
रघुकुल-केतु उठो, वीर विजयी, उठो!
देखो, मैं तुम्हारे बिना कैसा असहाय हूँ,
होता है रथीन्द्र जैसे चक्रहीन रथ में!
सोने से तुम्हारे हनूमान बलहीन है,
धनु गुण-हीन यथा; रोता है विषाद से
अंगद; सुकण्ठ मित्र कितना विषण्ण है!
सुहृद विभीषण अधीर हो रहे हैं ये;
व्याकुल है सैन्य-दल, भाई, उठो अब तो!
आँखें ये जुड़ाओ तुम, शीघ्र आँखें खोल के!
किन्तु यदि क्लान्त हुए तुम इस युद्ध में,
तो हे धन्वि, लौट चलें, आओ, वनवास को;
काम नहीं भाग्यहीना सीता-समुद्धार का
प्रियतम, काम नहीं राक्षस-विनाश का।
जननी सुमित्रा-पुत्रवत्सला तुम्हारी हा!
सरयू किनारे जहाँ रो रही हैं, जा के मैं

कैसे वहाँ वत्स, उन्हें मुँह दिखलाऊँगा,
जाओगे न मेरे संग यदि तुम लौट के?
क्या कहूँगा उनसे मैं, माता जब पूछेंगी—
"मेरा नेत्र-रत्न कहाँ अनुज तुम्हारा है
राम भद्र?" ऊर्मिला बधू को समझाऊँगा
कह कर क्या मैं? और पौरजन-वृन्द को
बोलो? उठो वत्स, तुम आज उस भाई से
विमुख हुए क्यों अहो! प्रेम-वश जिसके
राज-सुख छोड़ हुए घोर वनवासी हो?
रोते समदुःख से थे देख इन आँखों में
आश्रु तुम; पोंछते थे वार वार उनको;
किन्तु आज हो रहा हूँ आँसुओं से आर्द्र मैं,
देखते नहीं हो तुम मेरी ओर फिर भी
प्राणाधिक? लक्ष्मण, यही क्या तुम्हें योग्य है,
(विश्व में विदित भ्रातृवत्सल जो तुम हो)
मेरे चिरानन्द भाई, बोलो तुम मुझसे?
जन्म से ही मैं ने रख ध्यान में स्वधर्म्म को
पूजा सदा की है देव-कुल की, फल क्या मुझे
देवों ने दिया है यही? हे निशे, दयामयी
तुम हो, शिशिर-वृष्टि करके सदैव ही
करती हो सरस निदाघ-शुष्क फूलों को;
मेरी प्रार्थना है, इस फूल को हरा करो!
तुम हो सुधानिधि सुधांशु, देव, कृपया
जीवन प्रदायिनी सुधा का दान करके
लक्ष्मण की रक्षा करो—रक्षा करो राम की
करुणानिधान तुम, राघव भिखारी की।"
यों बहु विलाप किया रक्षोवंश-वैरी ने
अपने प्रियानुज को गोद में लिये हुए;
उच्छ्वसित वीर हुए चारों ओर शोक से,
होते हैं महीरुह ज्यों उच्छ्वसित रात में,
बहता है वायु जब निविड़ अरण्य में।
कैलासाद्रि धाम में भवानी निरानन्द है
राघवेन्द्र-वेदना से, रक्खे हुए अंक में
शंकर के चरण-सरोजों को, भिगोती हैं

अविरल आँसुओं से, जैसे उषा सुन्दरी
शिशिर-कणों से है भिगोती अरविन्दों को!
बोले प्रभु—"देवि, क्यों अधीरा तुम आज हो?"
"जानते नहीं क्या तुम देव?" कहा देवी ने—
"लक्ष्मण के शोक-वश रामचन्द्र लंका में
करुण विलाप सुनो, करते हैं कितना;
चित्त है अधीर मेरा राम के विलाप से!
कौन अब विश्वनाथ, पूजेगा जगत में
दासी को? अतीव लज्जा दी है मुझे तुमने
आज; प्रभो, नाम मेरा तुमने डुबो दिया
विषम कलंक-जल में है। तपोभंग के
दोष से है दोषी यह दासी, क्या इसी लिए
तापसेन्द्र, दण्ड दिया ऐसा आज मुझको?
कुक्षण में देवराज मेरे पास आया था!
कुक्षण में हाय! मुझे राघव ने पूजा था!"
मौन महादेवी हुई रो के अभिमान से।
हँस कर बोले हर—"तुच्छ इस बात से
होती निरानन्द हो क्यों तुम गिरिनन्दिनी?
भेजो राघवेन्द्र को कृतान्त-पुर में प्रिये,
माया-संग; देह धरे, मेरे अनुग्रह से
पावेगा प्रवेश उस प्रेतपुर में रथी
दाशरथि। और पिता दशरथ उसको
युक्त बता देंगे फिर लक्ष्मण के जीने की;
छोड़ो निरानन्द यह चन्द्रानने! माया को
दो यह त्रिशूल मेरा, अग्नि-स्तम्भ-सा यही
दीपित करेगा तमःपूर्ण यम-लोक को;
पूजेगा सभक्ति वहाँ प्रेतकुल इसको,
पूजा करती है प्रजा जैसे राजदण्ड की।"
याद किया अम्बिका ने तत्क्षण ही माया को।
आके अविलम्ब हुई प्रणत कुहुकिनी;
हैमवती बोली मृदु स्वर से यों उससे—
"जाओ तुम लंका में अभी हे विश्वमोहिनी,
रो रहे हैं सीतापति लक्ष्मण के शोक से
कातर हो; सम्बोधन दे कर सुवाणी से,

संग निज प्रेतपुर ले जाओ उन्हें अभी;
युक्ति बता देंगे पिता दशरथ उनको
फिर से सुमति शूर लक्ष्मण के जीने की
और सब वीरों के, मरे जो इस युद्ध में!
निज कर कंज में लो शूल यह शूली का,
दीपित करेगा तमःपूर्ण यम-लोक को
अग्नि-स्तम्भ-तुल्य यही सति, निज तेज से!"
माया चली करके प्रणाम महामाया को।
छाया-पथ में से भगी छाया दूर म्लान-सी,
रूप की छटा से! हँसी तारावली आभा से,
रत्नावली खिलती है जैसे रवि-कान्ति से।
पीछे, नभ-ओर, रख रेखा सु-प्रकाश की—
सिन्धु-जल में ज्यों तरी चलती है—रूपसी
लंकापुर-ओर चली। आयी कुछ क्षण में
देवी जहाँ सैन्य सह क्षुण्ण रघुरत्न थे।
पूर्ण हुई हेमलंका स्वर्ग की सुगन्ध से।

बोली जननी यों तब राघव के कान में—
"पोंछो रथि, दाशरथि, अश्रुधारा अपनी,
प्राणप्रिय अनुज बचेगा; सिन्धु तीर्थ में
स्नान कर, चलो, मेरे संग यम-लोक को;
पाओगे प्रवेश तुम शिव के प्रसाद से
सुमति, शरीर सह आज मेरे साथ में!
युक्ति बता देंगे पिता दशरथ तुमको
लक्ष्मण सुलक्षण के प्राण पुनः पाने की।
सृजन करूँगी मैं सुरंग-पथ उसमें
निर्भय प्रवेश करो, शीघ्र चलो सुमते।
मार्ग दिखलाती हुई तुमको, चलूँगी मैं
आगे। शूर सुग्रीवादि हैं जो, कहो सब से—
सावधान रक्षा करें लक्ष्मण के शव की।"

विस्मय से राघवेन्द्र—सेनाध्यक्ष शूरों को
करके सतर्क—चले सिन्धु महातीर्थ को।
स्नान कर शीघ्र महाभाग शुचि स्रोत में।
तुष्ट कर तर्पण से देव-पितरादि को,
शिविर के द्वार पर आये शीघ्र एकाकी।

उज्ज्वल निवेश देखा देवतेजःपुंज से
सम्प्रति सुधार्म्मिक ने, भक्ति युक्त पूजा की
हाथ जोड़, पुष्पांजलि देकर सुदेवी की।
रख फिर वीर-वेश वीर-कुल-वन्द्य ने
निर्भय प्रवेश किया माया के सुरंग में—
क्या भय उसे है देव जिससे प्रसन्न हैं?
रघुकुल-रत्न चले, तिमिर-अरण्य में,—
जैसे पथी चलता है, जब उस वन में
खेलती सुधाकर की किरणें हैं रात में।
संग आगे आगे चली माया मौन भाव से।
चौंक कुछ देर में निनाद सुना प्रभु ने,
मानों क्षुब्ध सौ सौ सिन्धु कल्लोलित होते हैं!
दीख पड़ी सम्मुख कराल पुरी उनको
चिर तमसावृत! सदैव वज्रनाद से
बहती है परिखा-सी वैतरणी तटिनी;
उठती तरंगें हैं सवेग रह रह के,
जैसे तप्त भाजन में पय है उबलता
उगल उगल धूम, त्रस्त वह्नि-तेज से!
होता नहीं उदित दिनेश उस व्योम में,
किं वा चन्द्र, तारा-वृन्द; पावक उगल के
घोर घन घूमते हैं नित्य शून्य-पथ में,
करते कठोर गर्जना हैं, ज्यों प्रलय में
कुपित पिनाकी, रख विशिख पिनाक पै!
देखा सेतु अद्‌भुत नदी पर नरेन्द्र ने
विस्मय के साथ, कभी अग्निमय है, कभी
धूमावृत और कभी सुन्दर सुवर्ण से
निर्मित-सा! लक्ष लक्ष कोटि कोटि प्राणी हैं
दौड़ते सवेग उस सेतु-ओर सर्वदा—
हाहाकार-युक्त कोई, कोई समुल्लास से!
पूछा तब राघव ने—"कहिए कृपामयी,
रखता है सेतु यह नित्य नाना वेश क्यों?
और क्यों असंख्य प्राणी (अग्नि-शिखा देख के
शलभ-समान) दौड़ते हैं सेतु-ओर क्यों?"
देवी ने कहा कि—"कामरूपी यह सेतु है

सीतापते, पापियों के अर्थ अग्निमय है
धूमावृत; किन्तु पुण्यप्राणी जब आते हैं,
होता है सुरम्य यथा स्वर्ण-पथ स्वर्ग में!
देखते हो जो ये तुम अगणित आत्माएँ,
आती प्रेतपुर में हैं, देह तज भव में,
कर्म्म-फल भोगने को; पुण्य-पथगामी जो
जीव हैं, सहर्ष सेतु-पथ से वे जाते हैं,
उत्तर या पश्चिम या पूर्व वाले द्वार से;
और जो हैं पापी, महा क्लेश से वे तरके
रात-दिन होते नदी पार हैं, पुलिन में
पीड़ा यमदूत उन्हें देते हैं प्रहारों से,
जलते हैं प्राण पण मानों तप्त तैल में!
चलो नररत्न, मेरे साथ, शीघ्र देखोगे
देखा नर-चक्षुओं ने जिसको नहीं कभी।''

पीछे रघुवीर चले मन्द मन्द गति से,
आगे चली कांचन की दीवट-सी मोहिनी,
करके उजेला उस विकट प्रदेश में।
सेतु के समीप देखा राघव ने भय से
दीर्घाकार दण्डपाणि कालदूत है खड़ा।
बोला वह वज्रनाद पूर्वक गरज के—
''कौन तुम साहसि? सदेह किस बल से
आये हो अगम्य इस आत्ममय देश में?
शीघ्र बोलो, अन्यथा मैं घोर दण्डाघात से
मारूँगा मुहूर्त भर में ही तुम्हें!'' हँस के
देवी ने दिखाया शम्भु-शूल यमदूत को।
करके प्रणाम वह बोला नतभाव से—
''मेरी शक्ति क्या है जो तुम्हारी गति रोकूँ मैं?
स्वर्णमय सेतु हुआ आप समुल्लास से,
साध्वि, देखो, व्योम यथा ऊषा के मिलन से!''

वैतरणी-पार हुए दोनों। रघुवीर ने
लोहे का पुरी का द्वार देखा तब सामने;
चक्राकृति राशि राशि अग्नि चारों ओर है
जलती उजेला कर नित्य एक गति से!
अग्नि-अक्षरों में लिखा देखा नररत्न ने

तोरण-ललाट पर—"पापी इस मार्ग से
जाते दुःख-देश में हैं चिर दुख भोगने,
बचो हे प्रवेशि, इस देश के प्रवेश से!"
द्वार पर अस्थि-चर्म-सार ज्वर रोग को
राघव ने देखा। कभी काँपता है शीत से
थर थर क्षीण देह; और कभी दाह से
जलता है, जैसे सिन्धु बड़वानल-ताप से।
कफ कभी, पित्त कभी, वात कभी उसको
घेरते हैं कोप कर सारा ज्ञान हरके।
पास उसी रोग के है दीर्घाकार धारिणी
उदरपरायणता;—भोजन अजीर्ण के
उगल उगल वार वार है निगलती
लेकर सु-खाद्य दोनों हाथों से अभागिनी!
उसके समीप है प्रमत्तता प्रमादिनी,
आधी खुली, आधी मुँदी आँखें लिये हँसती,
रोती कभी, गाती कभी, नाचती कभी तथा
बकती कभी है ज्ञानहीना, ज्ञानहारिणी!
उसके समीप काम, विगलित देह है
शव-सम, तो भी दुष्ट रत है सुरत में,
जलता हिया है सदा कामानल-ताप से।
उसके समीप बैठी यक्ष्मा महा भीषणा,
शोणित उगलती है रात-दिन, खाँस के;
साँस चलती है शीघ्र शीघ्र, महा पीड़ा है!
विकटा विशूचिका है ज्योतिर्हीनलोचना;
रक्त बहता है मुख और मल-द्वार से,
जैसे जल-स्रोत! तृषा रूपी रिपु घेरे है;
अंगग्रह नाम घोर यमचर अंगों को
ग्रास करता है—यथा व्याघ्र वन-जीव को
मार कर कौतुक से रह रह उसको
काटता है! बैठी उस रोग के समीप ही
विषमा उन्मत्तता है; उग्र कभी होती है—
आहुति से अग्नि यथा; और कभी दुर्बला!
नाना विध भूषणों से भूषिता कभी; कभी
नंगी—यथा काली विकराल रण-रंग में!

गाती कभी गीत करताल दे के उन्मदा;
रोती कभी, हँसती कभी है घोर हास्य से,
दाँतों को निकाल कर; काटती है शस्त्र से
कण्ठ कभी अपना स्वयं ही; विष पीती है;
बाँध निज ग्रीवा कभी डूबती है पानी में!
और कभी हाव-भाव विभ्रम-विलास से
कामातुरा कामियों को निकट बुलाती है!
न कर विचार कुछ मूत्र और मल का
अन्न में मिला के हाय! खाती अनायास है!
शृंखला-निबद्धा कभी, धीरा कभी होती है,
पवन-विहीन यथा स्रोतोहीन सरिता!
गिन सकता है कौन और जो जो रोग हैं?
देखा रथी राघव ने अग्निवर्ण रथ में
(शोणितार्द्र वस्त्र वाले, अस्त्रधारी) रण को!
आगे मूर्तिमान क्रोध बैठा सूत-वेश में;
लम्बी नर-मुण्ड-माला पहने गले में है,
दीर्घ नर-देह-राशि सामने है उसके!
दीख पड़ी हत्या खर खंग लिये हाथ में,
ऊर्ध्वबाहु नित्य हाय! निरत निधन में!
झूलती है पादप से रस्सी बाँध ग्रीवा में
मौन आत्महत्या, लोल जिह्वा, घोरलोचना!
माया महादेवी तब राघव से बोली यों–
"देखते हो जो ये सब कालदूत सन्मते,
घूमते हैं नित्य नाना वेश धर लोक में,
वन में किरात मृगयार्थ अविश्राम ज्यों!
सीताकान्त, सम्प्रति कृतान्तपुर में चलो,
चल कर आज तुम्हें मैं सब दिखाऊँगी,
कैसे इस जीवलोक में हैं जीव रहते।
दक्षिण का द्वार यह; चौरासी नरक के
कुण्ड इसमें हैं। शीघ्र आओ, उन्हें देख लो।"
प्रभु ने प्रवेश किया ऐसे उस पुर में–
जैसे ऋतुराज दाव-दग्ध वन में करे,
अथवा अमृत जैसे जीव-शून्य देह में!
छाया है अँधेरा वहाँ; होता सब ओर है

आर्तनाद; चंचल जल-स्थल हैं कम्प से;
मेघाली उगलती है कालानल क्रोध से;
मारुत दुर्गन्ध पूर्ण बहता सदैव है,
जलते श्मशान में हों लक्ष लक्ष शव ज्यों!
सम्मुख महाह्रद दिखाई पड़ा उनको
कल्लोलित; जल-मिष कालानल उसमें
बहता है! डूबते करोड़ों जीव हैं वहाँ,
छटपट करते हैं हाहाकार करके–
"हाय रे! विधाता, क्रूर, क्या हमें इसी लिए
तू ने है बनाया! अरे, माँ के ही उदर में
मर न गये क्यों हम लोग जठराग्नि से?
भास्कर, कहाँ हो तुभ? चन्द्र, तुम हो कहाँ?
आँखें क्या जुड़ा सकेंगे फिर हम तुमको
देख कर देव? कहाँ पुत्र-दारा आज हैं
आत्मवर्ग? हाय! कहाँ अर्थ, जिसके लिए
सर्वदा कुकर्म किये–धर्म्म छोड़ हमने?"
वार वार पापी-प्राण यों ही उस ह्रद में
करते विलाप हैं। प्रतिध्वनि-सा शून्य से
भैरव निनाद में यों उत्तर है मिलता–
"करते हो दुर्मते, क्यों व्यर्थनिन्दा विधि की
तुम? इस देश में स्वकर्म्म-फल पाते हो!
भूले क्यों स्वधर्म्म कहो, पाप-लोभ-वश हो?
विश्व में विदित शुभ विधि विधि-विधि है।"
भीम यमदूत, दैववाणी पूर्ण होते ही,
करते हैं दण्डाघात माथे पर उनके;
काटते हैं कोटि कीट, विकट प्रहारों से,
वज्रनखी, मांसभोजी पक्षी उड़ उड़ के
टूटते हैं छायामयी देहों पर उनकी
आँतें खींचते हैं, मांस काट हुहुंकार से!
पूरित है देश पापियों के आर्तनाद से।
माया कहने लगी कि–"नाम इस कुण्ड का
रौरव है, अग्निमय है यह सुधी, यहीं
पर-धन हारियों का होता चिर वास है;
होकर विचारक करे जो अविचार तो

डाल दिया जाता इसी कुण्ड में है वह भी;
और जो जो जीव महा पापकारी होते हैं
उनका ठिकाना यही। आग कभी इसकी
बुझती नहीं है, कीट काटते हैं सर्वदा!
अग्नि नहीं साधारण, रोष सदा विधि का
धधक रहा है पापियों को दग्ध करता!
रथिवर, देखो अब कुम्भीपाक चलके;
तप्त तैल में हैं जहाँ पापियों को भूनते
नित्य यमदूत! वह क्रन्दन सुनो ज़रा!
रोका है तुम्हारा घ्राण-मार्ग मैं ने शक्ति से,
अन्यथा कदापि तुम ठहर न सकते!
किं वा चलो वीर, जहाँ अन्धतम कूप में
आत्मघाती पापी चिर बद्ध हुए रोते हैं!''
हाथ जोड़ बोले नर-रत्न—''बस, दास को
क्षमा करो क्षेमंकरि, मैं जो और देखूँगा
ऐसे दृश्य, तो अभी मरूँगा पर-दुःख से!
हाय! मातः, इस भव-मण्डल में स्वेच्छा से
कौन जन्म ले जो यही दुर्दशा हो अन्त में?
दुर्बल मनुज कभी कलुष-कुहुक से
बच सकता है देवि?'' बोली तब माया यों—
''ऐसा विष कोई नहीं वीर, इस विश्व में
जिसकी चिकित्सा न हो! किन्तु यदि उसकी
कोई अवहेला करे, कौन फिर उसकी
रक्षा कर सकता है? लड़ता है पाप से
कर्म्म-क्षेत्र में जो धीर, देव-कुल उसके
नित्य अनुकूल रहता है; वर्म्म बन के
धर्म्म है बचाता उसे! दण्डस्थल ये सभी
देखा नहीं चाहते तो आओ इस मार्ग से।''
चल कुछ दूर, घुसे सीताकान्त वन में
नीरव, असीम था जो, पक्षी तक जिसमें
बोलते नहीं थे; नहीं बहता था वायु भी;
फूलते नहीं थे वन-शोभन प्रसून भी।
ठौर ठौर पत्र-पुंज भेद कर रश्मियाँ
आती थीं,—परन्तु तेजोहीन, रुग्ण-हास्य-सी।

घेर लिया राघव को लाख लाख जीवों ने
आकर अचानक सु-विस्मय के साथ में,
घेरती हैं मक्खियाँ ज्यों आ के मधु-पात्र को।
बोल उठा कोई जन सकरुण कण्ठ से—
"कौन हो शरीरि, तुम? किस गुण से कहो,
आये यहाँ? बोलो शीघ्र, देव हो कि नर हो?
वाक्य-सुधा-वृष्टि से दो तृप्ति हम सब को!
पापी प्राण हरण किये ये यम-दूतों ने
जिस दिन सुगुणि, हमारे, उस दिन से
रसना-जनित शब्द हमने नहीं सुना।
आँखें आज तृप्त हुईं देख इन अंगों को
शोभनांग शूर, अब तृप्त करो कानों को!"
बोले प्रभु—"जन्म रघु-वंश में है दास का;
नाम है पिता का रथी दशरथ, माता का
पाटेश्वरी कौशल्या; मुझे हैं राम कहते;
हाय! वन-वासी भाग्य-दोष से हूँ आज मैं!
शम्भु के निदेश से मिलूँगा पितृदेव से,
आया हूँ इसी से प्रेत-वृन्द, यम-लोक में।"
बोला एक प्रेत—"जानता हूँ भद्र, तुमको,
मारा था तुम्हीं ने मुझे पंचवटी-वन में!"
चौंक कर राघव ने देखा खड़ा सामने
राक्षस मारीच—अब देह से रहित है!
पूछा रामचन्द्र ने कि—"तुम किस पाप से
आये इस घोरतर कानन में हो कहो?"
"हेतु दुष्ट रावण ही है हा! इस दण्ड का
राघवेन्द्र!" शून्यदेह प्राणी कहने लगा—
"मैं ने कार्य्य साधने को उस अविचारी का
तुमको छला था, है इसी से यह दुर्दशा!"
दूषण सहित खर आया (खर खंग-सा
था जो रण मध्य, जब जीवित था) देख के
राम को, सरोष, साभिमान दूर हो गया,
जैसे विष-हीन सर्प देख के नकुल को,
बिल में, विषाद-वश, छिपता है! सहसा
पूरित अरण्य हुआ भैरव विराव से,

भागे भूत चिल्लाकर—जैसे घोर आँधी से
उड़ते हैं शुष्क पत्र! माया तब बोली यों—
राम, यह प्रेतकुल बहुविध कुण्डों में
वास करता है; यहाँ आकर कभी कभी
घूमता है नीरव विलाप करता हुआ।
देखो, यम-दूत वह निज निज ठौर को
सबको खदेड़ता है!" देखा तब वैदेही-
हृदय-सरोज-रवि ने कि श्रेणी-वद्ध हो
जा रहे हैं भूत, पीछे भीम यमदूत है;
चिल्लाकर दौड़ते हैं प्रेत-मृग-यूथ ज्यों
भागते हैं ऊर्ध्वश्वास, जब है खदेड़ता
भीमाकृति भूखा सिंह। सजल नयन हो
देव दयासिन्धु चले संग संग माया के।
सिहर उठे वे आर्तनाद सुन शीघ्र ही।
दीख पड़ी दूर उन्हें लक्ष लक्ष नारियाँ,
आभाहीन, चन्द्रलेखा जैसे दिवा-भाग में!
खींच कर केश कोई कहती है—"मैं तुम्हें
बाँधती थी स्निग्ध कर, कामियों के मन को
बाँधने के अर्थ सदा—भूल धर्म-कर्म को,
उन्मदा हो यौवन के मद से जगत में!"
चीर के नखों से वक्ष कहती है कोई यों—
"तुझ को सजा के सदा मोती और हीरों से
व्यर्थ ही बिताये दिन, अन्त में मिला क्या हा!"
कोई निज नेत्रों को कुरेद कर खेद से
(जैसे शव-नेत्र क्रूर गीध हैं निकालते)
कहती है—"पापनेत्रो, अंजन से मैं तुम्हें
करके सु-रंजित, कटाक्ष-बाण हँस के
छोड़ती थी चारों ओर, दर्पण में देख के
आभा मैं तुम्हारी घृणा करती मृगों से थी।
उस गरिमा का यही था क्या पुरस्कार हा!"
चली गयीं रोती हुईं वामाएँ विषाद से।
पीछे है कृतान्त-दूती उनको चला रही,
साँप फुफकारते हैं कुन्तल-प्रदेश में;
नख हैं कृपाण-सम; ओष्ठ रुधिराक्त हैं;

लटक रहे हैं कदाकार कुच झूल के
नाभि तक; धक धक अग्नि-शिखा नाक से
निकल रही है, नयनाग्नि मिली उससे।
बोली फिर माया—"यह नारीकुल सामने
देखते हो राघव, जो, वेश-भूषासक्त था
भूतल में। सजती थीं ये सब सदैव ही
(सजती है जैसे ऋतुराज में वनस्थली)
कामातुरा कामियों के मन को लुभाने को
हाव-भाव-विभ्रम से! हाय! वह माधुरी
और वह यौवन कहाँ है अब?" वैसे ही
सुन पड़ी प्रतिध्वनि—"हाय! वह माधुरी
और वह यौवन कहाँ है अब?" वामाएँ
चिल्लाकर रोती हुई विवश चली गयीं
निज निज नरकों में, वास जहाँ जिनका।
माया के पगों में नत हो के कहा राम ने—
"कितने विचित्र काण्ड देखे इस पुर में
आपके प्रसाद से माँ, कह नहीं सकता
किन्तु कहाँ राज-ऋषि? लक्ष्मण किशोर की
प्राण-भिक्षा माँगूँ चल उनके पदाब्जों में,
प्रार्थना है, ले चलो माँ, शीघ्र वहीं दास को।"
बोली हँस माया—"यह नगरी असीम है,
मैं ने है दिखाई तुम्हें दाशरथि, थोड़ी सी।
घूमें जो सहस्रों वर्ष हम तुम इसमें
तो भी कभी पूरा इसे देख नहीं सकते!
करती निवास सतियाँ हैं पूर्व-द्वार में
पतियों के संग सुख पूर्वक सदैव ही;
है यह अतुल धाम स्वर्ग, मर्त्य दोनों में;
शोभित हैं रम्य हर्म्य सुन्दर विपिन में;
सुकमल-पूर्ण स्वच्छ सर हैं जहाँ तहाँ;
बहता वसन्त-वायु सुस्वन से है सदा;
पंचम में कोकिलाएँ कूकती हैं सर्वदा।
बजती है वीणा स्वयं, सप्तस्वरा मुरली,
मधुर मृदंग! दधि, दुग्ध, घृत आदि के
कुण्ड सब ओर भरे; फलते हैं वन में

अद्भुत अमृत फल; करती प्रदान हैं
चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय अन्न स्वयं अन्नदा!
इष्ट जो जिसे हो वही तत्क्षण है मिलता;
स्वर्ग में ज्यों कामलता सद्यः फलदायिनी।
काम महेष्वास, वहाँ जाने का नहीं, चलो,
उत्तर के द्वार पर, घूमो वहाँ थोड़ा सा।
वत्स, अविलम्ब तुम पितृ-पद देखोगे।"
उत्तर की ओर चले दोनों शीघ्र गति से।
देखीं वहाँ राघव ने सौ सौ गिरि-राजियाँ
वन्ध्या, अहा! दग्ध यथा देवरोषानल से!
कोई रखती है तुंग शृंग पर हिम की
राशि; कोई वार वार गरज गरज के
पावक उगलती है अग्निमय स्रोतों से
करके द्रवित शिला-खण्डों को, गगन को
ढँकती है भस्म-राशि-द्वार, महानाद से
करके दिशाएँ दशों पूर्ण! देखे प्रभु ने
सौ सौ मरुक्षेत्र, नहीं सीमा कहीं जिनकी;
निरवधि तप्त वायु बह कर वेग से
बालू को उड़ा कर तरंगें-सी उठाती है!
दीख पड़ा अतट-तड़ाग महासिन्धु-सा;
आँधी से तरंगें उठती हैं कहीं शैल-सी
करके कठोर नाद; और कहीं जल की
राशि गतिहीन सड़ती है बँधी उसमें
क्रीड़ा करते हैं भीम भेक शोर करके;
तैरते हैं तक्षक अशेष देही शेष-से!
जलता हलाहल कहीं है, यथा सिन्धु में
उबल उठा था वह मन्थन-समय में।
घूमते हैं पापी जन इन सब देशों में
चिल्ला कर रोते हुए! पन्नग हैं डसते;
बिच्छू डंक मारते हैं—कीट घोर दाँतों के!
भूपर है आग और घोर शीत शून्य में!
हाय! कब कौन इस उत्तर के द्वार में
पल भर को भी कल पा सकेगा? सुरथी
तत्क्षण वहाँ से चले, संग महामाया के।

नाविक सयत्न जल-राशि पार करके,
तट के समीप जब आ के है पहुँचता,
पुष्पारण्य-जनित-सुगन्धि-सखा उसको
भेटता है वायु, और सुन चिरकाल में,
जन-रव-युक्त जैसे पिक-कुल-कण्ठ को
डूबता है मोद-जल-मध्य वह; वैसे ही
अपने समीप सुनी वाद्य-ध्वनि राम ने!
अद्भुत सुवर्ण-सौध चारों ओर उनको
दीख पड़े और वहाँ दीख पड़ी सोने के
पुष्पों से प्रपूर्ण वन-राजि दीर्घ सरसी,
अम्बुजों की शाला! तब माया मृदु स्वर से
बोली—"इस द्वार में हे वीर, वे महारथी
चिर सुख भोगते हैं जो समक्ष युद्ध में
प्राण तजते हैं। सुख-भोग इस भाग का
अन्तहीन है हे महाभाग! चलो, वन के
मार्ग से, यशस्विजन देखोगे यहाँ रथी,
जिनके सुयश से है संजीवनी नगरी,
कुंज यथा सौरभ से। इस शुचि भूमि को
विधि का सुहास्य चन्द्र, सूर्य्य, तारा-रूप में
करता प्रकाशित सदा है।" कुतूहल से
आगे बढ़े शीघ्र रथी, आगे शूलधारिणी
माया चली! देखा कुछ देर में नृमणि ने
आगे रंगभूमि का-सा क्षेत्र। किसी स्थल में
शूलों के समूह, शालवन-से, विशाल हैं;
हींसते कहीं हैं हय, गज हैं गरजते,
भूषित वे हो रहे हैं रम्य रण-सज्जा से!
खेलते कहीं हैं चर्मधारी असि-चर्म से;
पृथ्वी को कँपा के कहीं लड़ते सु-मल्ल हैं;
उड़ते हैं केतु-पट मानों रणानन्द से।
कुसुमासनस्थ, स्वर्ण वीणा लिये हाथ में,
गाते हैं सुकवि कहीं—मोह श्रोतृ-वृन्द को—
वीर-कुल-संकीर्तन। मत्त उस गान से
करता है वीर-कुल हुंकृति; सुगन्धि से
पूर्ण कर देश को न जाने कौन स्वर्ग के

फूल बरसाता है अपूर्व सब ओर से।
नाचती हैं अप्सराएँ मानसविनोदिनी;
गाते कल किन्नर हैं जैसे सुरधाम में।
माया ने बताया तब—"श्रेष्ठ सत्ययुग में
निहत हुए जो वीर सम्मुख समर में,
देखो क्षत्रचूडामणे, हैं वे इस क्षेत्र में।
वह है निशुम्भ हेमकाय हेमकूट-सा;
उज्ज्वल किरीट-कान्ति व्योम में है उठती,
अति ही बली है वीर। देव-तेज-सम्भवा
चण्डी ने इसे था स्वयं मारा महा युद्ध में।
शुम्भ को निहारो-शूलि शम्भु-सा है विक्रमी;
भीषण तुरंगदसी महिष असुर को
देखो, त्रिपुरारि-अरि सुरथी त्रिपुर को;
विश्व में विदित वृत्र आदि महा दैत्यों को।
भ्रातृ-प्रेम-जल में निमग्न पुनः देखो हैं
सुन्द, उपसुन्द।" पूछा राघव ने देवी से—
"कहिए दयामयि, दिखाई नहीं देते क्यों
शूर कुम्भकर्ण, अतिकाय, नरान्तक (जो
रण में नरान्तक था) इन्द्रजित विक्रमी
और अन्य रक्षो-वंश-वीर?" कहा माया ने—
"राघव, अन्त्येष्टि क्रिया होती नहीं जब लों
तब लों प्रवेश नहीं होता इस देश में।
घूमते हैं बाहर ही जीव-गण—जितने
दिन तक वन्धु जन करते क्रिया नहीं—
यत्न से। सुनो हे वीर सीतानाथ, विधि की
सुविधि यही है। अब देखो उस वीर को
आता इसी ओर है जो; मैं अदृश्य भाव से
साथ में रहूँगी; करो मिष्टालाप उससे।"
यों कह अदृश्य हुई माता मोददायिनी।
विस्मय सहित देखा प्रभु ने सुवीर को
तेजस्वी; किरीट पर खेलती है बिजली
झल मल होते दीर्घ देह में हैं, आँखों को
चौंधा कर, आभरण! शोभित है हाथ में
उज्ज्वल विशाल शूल, गति है गजेन्द्र की।

अग्रसर हो के शूर बोला रघुवीर से—
"आज सशरीर यहाँ कैसे तुम आये हो
रघुकुलचूडामणे, न्यायहीन रण में
मारा तुमने था मुझे, तोष दे सुकण्ठ को।
किन्तु भय छोड़ो तुम; इस यमपुर में
जानते नहीं हैं हम क्रोध, जितेन्द्रिय हैं।
मानवीय जीवन का स्रोत महिलोक में
रहता है पंकिल, परन्तु यहाँ उसकी
होती है विशुद्ध गति। सन्मते, मैं बालि हूँ।"
लज्जायुक्त राघव ने किष्किन्ध्याकलत्र को
देख, पहचाना! हँस बोला वह फिर यों—
"आओ रथि दाशरथि, मेरे साथ, पास ही
देखते हो देव, वह दिव्य उपवन जो
हेम-पुष्प-पूर्ण, वहीं घूमता जटायु है
वीर, जो तुम्हारा पितृमित्र है महाबली!
परम प्रसन्न वह होगा तुम्हें देख के।
जीवन का दान दिया धर्म-हेतु उसने
अबला सती का त्राण करने में पापी से;
गौरव असीम है इसीसे उस साधु का।"
पूछा राक्षसारि ने कि—"वीर, कहो कृपया
क्या सम सुखी हो सब तुम इस देश में?"
"खान में" कहा सुवीर बालि ने कि "सैकड़ों
होते हैं सुरत्न राम, किन्तु उन सबकी
तुल्य कान्ति होती नहीं; आभाहीन फिर भी
होता कहो, कौन?" चले दोनों प्रेम-भाव से।
रम्य वन में कि जहाँ बहती सदैव है
तटिनी अमृततोया, कल कल नाद से,
देखा वहाँ प्रभु ने सुराकृति जटायु को;
हस्तिदन्त-रचित अनेक रम्य रत्नों से
खचित वरासन पै बैठा वर वीर है!
वीणाध्वनि हो रही है चारों ओर उसके।
पद्म-पर्ण-वर्ण विभा-राशि वहाँ फैली है,
सौर-कर-राशि यथा चन्द्रातप भेद के
फैलती है उत्सव-निकेत में। वसन्त का

चिर मधु-गन्ध-पूर्ण बहता समीर है!
आदर के साथ रथी राघव से बोला यों—
"रघुकुल-रत्न, मित्र-पुत्र, अहा! तुमने
शीतल की आँखें आज मेरी; तुम धन्य हो!
रक्खा था सुलग्न में तुम्हारी धन्य माता ने
गर्भ में तुम्हें हे तात, धन्य दशरथ हैं
मित्र मेरे वत्स, जन्मदाता जो तुम्हारे हैं!
देवकुल-प्रिय हो, सदेह तभी आये हो
तुम इस देश में। कहो हे वत्स, मैं सुनूँ
युद्ध का क्या हाल है? मरा क्या महायुद्ध में
दुष्टमति रावण?" प्रणाम कर प्रभु ने
मधुर गिरा से कहा—"आपके प्रसाद से
मारा बहु राक्षसों को मैं ने महा युद्ध में;
एकाकी बचा है अब लंकाधिप लंका में।
बाण से उसीके देव, आज हतजीव है
लक्ष्मण अनुज; इस दुर्गम प्रदेश में
आया इसी हेतु दास, शिव के निदेश से।
कृपया वताओ, तवमित्र पिता हैं कहाँ?"
बोला यों जटायु बली—"पश्चिम के
द्वार में रहते राजर्षि राज-ऋषियों के साथ हैं।
मुझको निषेध नहीं वत्स, वहाँ जाने का;
आओ शत्रुनाशी, वहाँ मैं ही तुम्हें ले चलूँ।"
बहु विध रम्य देश देखे दिव्यगति ने;
सौध बहु स्वर्ण-वर्ण; देवाकृति सुरथी;
सुन्दर सरोवर-किनारे, पुष्प-वन में,
क्रीड़ा करते हैं जीव, हर्ष से, विनोद से,
जैसे मधु मास में मिलिन्द-वृन्द कुंजों में
गूँज कर; किं वा ज्योतिरिंगण त्रियामा में,
करके समुज्ज्वल दिशाएँ दशों आभा से!
जाने लगे दोनों शीघ्र गति से, निहारते;
घेर लिया राघव को लक्ष लक्ष जीवों ने।
बोला तब सब से जटायु—"रघुकुल में
जन्म इस वीर का है! शिव के निदेश से,
पितृपद दर्शनार्थ इस यमपुर में

आया है सदेह यह; तुम सब इसको
दे के शुभाशीष लौट जाओ निज स्थान को।''
प्राणिदल आशीर्वाद दे कर चला गया।
आगे बढ़े दोनों जन शीघ्र महा मोद से!
छूते कनकांग गिरि अम्बर को हैं कहीं
वृक्षचूड़, दीर्घ जटाधारी ज्यों कपर्दी हों!
बहती प्रवाहिणी है स्वच्छ, कल नाद से;
हीरा, मणि, मुक्ता, दिव्य जल में हैं फलते!
शोभित कहीं है—निम्न देश में—प्रसूनों से
श्यामला धरित्री; वहाँ पद्म-पूर्ण सर हैं।
कूजती निरन्तर हैं कोकिलाएँ वन में।
वैनतेय-नन्दन यों बोला राघवेन्द्र से—
''पश्चिम का द्वार रघुरत्न, देखो सोने का;
हीरों की गृहावली है वत्स, इस भाग में।
देखो, स्वर्ण-वृक्ष तले, मरकत-पत्र का
छत्र उच्च शीर्ष पर शोभित है जिनके,
कनकासनस्थ ये दिलीप महाराज हैं;
संग में सुदक्षिणा सती है! भक्ति-भाव से
पूजा करो वत्स, निज वंश के निदान की।
रहते राजर्षि हैं असंख्य इस देश में,
विश्रुत इक्ष्वाकु तथा मान्धाता, नहुष त्यों!
आगे बढ़ पूजो महाबाहो, पितामह को।''
बढ़ के, साष्टांग हो, प्रणाम किया प्रभु ने
दम्पती के पुण्यपद-पद्मों में; दिलीप ने
दे के शुभाशीष पूछा—''भद्र, तुम कौन हो?
कैसे सशरीर प्रेतनगरी में आये हो
देवाकृति वीर? तब चन्द्रानन देख के
मग्न हुआ मेरा मन मोद-महासिन्धु में!''
बोली श्री सुदक्षिणा—''सुभग, कहो शीघ्र ही,
कौन हो अहो, तुम? विदेश में स्वदेश के
जन को निहार यथा आँखें सुख पाती हैं,
तुमको विलोक मेरी दृष्टि सुख पाती है!
रक्खा गर्भ में है तुम्हें धीर, किस साध्वी ने?
देवाकृति, देव-कुल-जात यदि तुम हो,

करते हो वन्दना तो कैसे हम दोनों की?
देव जो नहीं तो तो बताओ, किस कुल को
उज्ज्वल किया है नर-देव-रूप, तुमने?''
हाथ जोड़ दाशरथि बोले नत भाव से—
''विश्व में विदित रघु नाम पुत्र आपके
राजर्षे, जिन्होंने विश्व जीता बाहु-बल से;
पुत्र उन दिग्जयी के पूज्य वर अज थे
पृथ्वीपाल, इन्दुमती देवी ने वरा उन्हें;
जन्मे रथी दशरथ दिव्यमति उनसे,
पाटेश्वरी उनकी हुई हे तात, कौशल्या;
जन्म इस दास का है उनके उदर से।
लक्ष्मण-शत्रुघ्न पुत्र हैं सुमित्रा माता के
रण में शत्रुघ्न हैं जो! मध्यमा माँ केकयी,
जननी प्रभो, है प्रिय भ्राता भरताख्य की।''
राजऋषि बोले—''वत्स राम, चिरजीवी हो,
तुम हो इक्ष्वाकु-कुल-शेखर, सुखी रहो;
फैलेगी तुम्हारी कीर्ति नित्य नयी विश्व में
कीर्तिमान! चन्द्र-सूर्य्य जब तक व्योम में
समुदित होंगे! कुल उज्ज्वल हमारा है
सुगुणि, तुम्हारे सुगुणों से धराधाम में।
देखते हो वत्स, वह ऊँचा हेम-गिरि जो,
उसके समीप सुप्रसिद्ध इस पुर में,
वैतरणी-तट पर अक्षय सु-वट है।
नीचे उसी वट के तुम्हारे पिता नित्य हैं
करते तुम्हारे अर्थ पूजा धर्मराज की;
जाओ, महाबाहो रघुरत्न, तुम उनके
पास। वे अधीर हैं तुम्हारे दुःख-शोक से।''
कर पद-वन्दना सुवीर महानन्द से,
देकर जटायु को विदा, चले अकेले ही,
(अन्तरीक्ष में है संग माया) स्वर्ण-शैल के
सुन्दर प्रदेश में विलोका सूक्ष्मदर्शी ने
वैतरणी-तट पर अक्षय सु-वट को
अतुल अमृततोया पृथ्वी पर; सोने की
डालें उसकी हैं, अहा! पन्ने के सु-पत्र हैं;

और फल? हाय! फल-शोभा कहूँ कैसे मैं?
देवाराध्य वृक्षराज मुक्ति-फल-दाता है!
देखकर राजऋषि दूर से ही प्राणों के
पुत्र को पसार भुज (भीग अश्रु-जल से)
बोले—"आ गया क्या इस दुर्गम प्रदेश में
इतने दिनों के बाद, देवों के प्रसाद से
प्राणाधिक, आँखें ये जुड़ाने के लिए? तुझे
आज मेरे खोये धन, पा लिया क्या मैंने है
हाय! सहा तेरे बिना कितना, सो क्या कहूँ?
कैसे कहूँ? रामभद्र! लौह अग्नि-तेज से
जैसे गलता है, देह वैसे ही अकाल में
तेरे शोक में है तजा मैं ने! नेत्र मूँदे ये
घोर मनोज्वाला-वश। निर्दय विधाता ने
मेरे कर्म-दोष से लिखा है महा कष्ट हा!
तेरे इस भाल में! तू धर्म्म-पथ-गामी है;
घटना तभी है यह घटित हुई; तभी
जीवन-अरण्य-शोभा आशा-लता मेरी हा!
तोड़ी केकयी ने, मत्त करिणी के रूप में!"
रोये राज-राज-रथी दशरथ शोक से;
रोये मौन दाशरथि, रोता देख उनको।
बोले फिर राघव—"अकूल पारावार में
तात, यह दास आज हो रहा निमग्न है;
कौन इस आपदा में रक्षक है दास का?
होता भव-मण्डल में जो कुछ है सो सभी
होता इस देश में है ज्ञात अनायास ही
तो इन पदों में नहीं अविदित है कि क्यों
आया यह दास यहाँ! हाय, घोर रण में
हत हुआ प्राणानुज सहसा, अकाल में!
पाये बिना उसको न लौटूँगा वहाँ कभी
होते जहाँ शोभित दिनेश, चन्द्र, तारे हैं!
आज्ञा दो, मरूँ मैं अभी तात, इन पैरों में?
रख सकता मैं नहीं प्राण उसके बिना!"
रोये नररत्न निज पितृपद-पद्मों में।
राजऋषि बोले, सुत-शोक से अधीर हो—

''हेतु जानता हूँ वत्स, मैं तुम्हारे आने का।
दे के सुख-भोग को जलांजलि मैं सर्वदा
पूजता तुम्हारे मंगलार्थ धर्मराज को।
लक्ष्मण को पाओगे सुलक्षण, अवश्य ही;
प्राण अब भी है बद्ध उसके शरीर में!—
भग्न कारागार में भी शृंखलित वन्दी-सा!
शैल गन्धमादन है, शृंग पर उसके
फलती विशल्यकरणी है महा ओषधी
हेमलता। उसको मँगा कर अनुज की
रक्षा करो। हो कर प्रसन्न यमराज ने
आप यह यत्न मुझे आज बतलाया है।
सेवक तुम्हारा वायु-पुत्र वायुगामी है
हनूमान; भेजो उसे, लावेगा मुहूर्त में
ओषधि, प्रभंजन-समान भीम विक्रमी।
घोर रणमध्य तुम रावण को मारोगे;
होगा दुष्ट दुर्मति सवंश नष्ट शीघ्र ही
तनय, तुम्हारे तीक्ष्ण बाणों से समर में।
पुत्र-बधू मेरी वह लक्ष्मी रघुकुल की
उज्ज्वल करेगी रघु-गेह फिर लौट के;
किन्तु सुख-भोग नहीं है तुम्हारे भाग्य है!
जल कर गन्ध रस जैसे धूपदान में
आमोदित करता है देश तात, वैसे ही
सह बहु क्लेश तुम भारत को यश से
पूरित करोगे! तुम्हें दण्ड दिया विधि ने
मेरे पाप-हेतु,—निज पाप से मरा हूँ मैं
प्राणाधिक पुत्रवर, विरह तुम्हारे में।
''आधी रात सम्प्रति हुई है धरातल में।
लौट जाओ शीघ्र तुम देव-बल से बली,
लंका नगरी में; शीघ्र भेजो हनूमान को;
औषध मँगा कर बचाओ प्रियानुज को;
रात रहते ही तात, आ जावे महोषधी।''
आशीर्वाद पुत्र को पिता ने दिया प्रेम से।
पुत्र ने पवित्र पद-पद्म-धूलि लेने को
स्वकर सरोरुह बढ़ाये; किन्तु व्यर्थ ही!

कर न सके वे पद-स्पर्श! मृदु स्वर से
बोले यों रघुज-अज-आत्मज स्वजात से--
"भूत पूर्व देह नहीं देखते हो यह जो
प्राणाधिक, छाया मात्र! कैसे, फिर इसको
छू सकोगे नश्वर शरीरी तुम? विम्ब ज्यों
दर्पण में, जल में वा, देह यह मेरी है!
जाओ अविलम्ब प्रिय वत्स, लंकाधाम को।"

करके सविस्मय प्रणाम चले सुरथी;
संग चली माया। बली शीघ्र पहुँचे वहाँ
लक्ष्मण सुलक्षण पड़े थे जहाँ क्षेत्र में;
चारों ओर वीर-वृन्द जागता था शोक से।

इति श्री मेघनाद-वध काव्ये
प्रेतपुरी नाम
अष्टमः सर्गः

नवम सर्ग

बीती निशा, आयी उषा; 'जै जै राम'
नाद से गरजी विकट सेना,चारों ओर लंका के।
छोड़ कनकासन, मही पर, विषाद से
बैठा जहाँ रक्षोराज रावण था, सिन्धु के
गर्जन-समान भीम शब्द वहाँ पहुँचा!
विस्मय के साथ बली सारण से बोला यों—
"मन्त्रिवर, शत्रु-दल नाद करता है क्यों,
था जो निरानन्द निशाकाल में विषाद से?
शीघ्र कहो! छद्मयोद्धा मूढ़ रामानुज ने
पाये फिर प्राण हैं क्या? कौन जाने ऐसा ही
जो हुआ हो, देव-कुल दक्षिण है वैरी के!
बाँधा अविरामगतिस्रोत जिस राम ने
कौशल से, जिसके अपूर्व माया-बल से
तैरी हैं शिलाएँ सिन्धु-जल में; बचा है जो
दो दो बार मर कर युद्ध में, असाध्य क्या
उसके लिए है? कहो बुधवर, क्या हुआ?"
हाथ जोड़ बोला तब सारण सखेद यों—
"कौन जानता है देव, मायामय विश्व में
देवों की अपार माया? शैलपति देवात्मा
आप गन्धमादन ने आके गत रात्रि में,
देकर महौषध बचाया फिर है प्रभो,
लक्ष्मण को! वैरी इस हेतु हैं गरजते
हर्षयुत। दूना तेज पाकर हिमान्त में
साँप ज्यों गरजता है, मत्त वीर-मद से
सिंहनाद लक्ष्मण विलक्षण है करता।

गर्जता सुकण्ठ युत दाक्षिणात्य दल है
जैसे करि-यूथ नाथ, यूथनाथ-नाद से!"
आह भर बोला तब लंकापति सुरथी—
"मेट सकता है कौन विधि के विधान को?
अमरों-मरों को कर विमुख समर में
मारा जिस शत्रु को था मैं ने बाहु-बल से,
बच गया देव-बल से है वह? काल भी
भूल गया कर्म्म निज मेरे भाग्य-दोष से!
छोड़ता है सिंह कभी मृग को पकड़ के?
किन्तु लाभ क्या है इस व्यर्थ के विलाप से
जान लिया मैं ने यह निश्चय कि डूबेगा
कर्वुरों के गौरव का भानु अन्धकार में!
भाई कुम्भकर्ण मेरा शूलधर शम्भु-सा
रण में हुआ है हत, और हुआ हत है
शक्तिधर दूसरा कुमार शक्रविजयी!
रक्खूँ किस साथ से हे सारण, ये प्राण मैं?
पा सकूँगा लोक में क्या फिर उन दोनों को?
जाओ बुधश्रेष्ठ, रथी राघवेन्द्र हैं जहाँ;
तुम उनसे यों कहना कि—'हे महारथे,
रक्षोराज रावण है भिक्षा यही माँगता
तुम से कि सात दिन शत्रुभाव छोड़ के
ठहरो ससैन्य तुम शूर, इस देश में।
राजा किया चाहते हैं सत्क्रिया कुमार की
विधियुत। वीर-धर्म्म पालो तुम धीरधी!
करते समादर हैं वीर वैरी वीर का।
वीर-शून्य है अब तुम्हारे बाहु-बल से
वीरयोनि स्वर्ण लंका! धन्य वीरकुल में
तुम हो! सुलग्न में चढ़ाया चाप तुमने!
तुम पर दैव शुभ-दाता अनुकूल है;
दैव-वश रक्षोराज संकट में है पड़ा;
पूर्ण करो पूर्णकाम, आज पर-कामना।'
जाओ शीघ्र मन्त्रिवर, राघव-शिविर में।"
करके प्रणाम राक्षसेन्द्र महाशूर को,
संगि-दल-संग चला सारण तुरन्त ही।

घोर नादयुक्त द्वार खोला द्वारपालों ने।
राक्षस सचिव चला मन्द मन्द शोक से—
सिन्धु के किनारे—चिर कोलाहल-पूर्ण जो।
रघुकुलरत्न प्रभु बैठे हैं शिविर में
मग्न मोद-सागर में; लक्ष्मण रथीन्द्र हैं
सम्मुख, हिमानी-हीन नवरस-वृक्ष ज्यों;
किं वा पूर्णिमा का चारु हास्य-पूर्ण चन्द्रमा;
अथवा प्रफुल्ल पद्म यामिनी के अन्त में!
दाईं ओर रक्षोवीर मित्र विभीषण हैं,
और सब सेनापति दुर्द्धर समर में,
देव-रथी-वृन्द यथा घेर देव-इन्द्र को!
शीघ्र समाचार दिया आकर सुदूत ने—
"रक्षः-कुल-मन्त्री प्रभो, विश्रुत जगत में
सारण, खड़ा है आज बाहर शिविर के
संगि-दल संग लिए, आपकी क्या आज्ञा है?"
प्रभु ने निदेश दिया—"सादर सुमन्त्री को
लाओ यहाँ शीघ्र। इसे कौन नहीं जानता,
होता है अवध्य दूत-वृन्द रण-क्षेत्र में?"
करके प्रवेश तब सारण शिविर में,
(राजचरणों में झुक) बोला—"हे महारथे,
रक्षोराज रावण है भिक्षा यही माँगता
तुम से कि—"सात दिन शत्रु भाव छोड़ के,
ठहरो ससैन्य तुम शूर, इस देश में!
राजा किया चाहते हैं सत्क्रिया कुमार की
विधियुत। वीर-धर्म्म पालो तुम धीरधी!
करते समादर हैं वीर वैरी वीर का।
वीर-शून्य है अब तुम्हारे बाहु-बल से
वीर-योनि स्वर्णलंका, धन्य वीर-कुल में
तुम हो! सुलग्न में चढ़ाया चाप तुमने!
तुम पर दैव शुभ-दाता अनुकूल है,
दैव-वश रक्षोराज संकट में है पड़ा;
पूर्ण करो पूर्णकाम, आज पर-कामना।"
उत्तर में बोले प्रभु—"मेरा महा वैरी है
सारण, तुम्हारा प्रभु रावण, तथापि मैं

दुःखित हूँ दुःख यह देखकर उसका!
राहु-ग्रस्त रवि को निहारकर किसकी
छाती नहीं फटती है? उसके सु-तेज से
जलता जो वृक्ष है, मलीन उस काल में
होता वह भी है ! पर, अपर विपत्ति में
मेरे लिए एक-से हैं! लौट स्वर्णलंका में
जाओ सुधि, सैन्य युत सात दिन अस्त्र मैं
धारण करूँगा नहीं। रक्षःकुलराज से
कहना सुभाषि, तुम—धार्मिक कभी नहीं
करता प्रहार धर्म-कर्म-रत जन पै!"

रक्षोराज-मन्त्री फिर बोला नत भाव से—
"रघुकुल-रत्न, तुम नरकुल रत्न हो;
अतुल जगत में हो विद्या, बुद्धि, बल में!
उचित यही है तुम्हें, अनुचित कर्म्म क्या
करते कभी हैं साधु? रक्षोदल पति है
रावण ज्यों, देव, तुम नर-दल-पति हो!
कुक्षण में—मुझको हे सुरथे, क्षमा करो,
प्रार्थना है चरणों में—कुक्षण में दोनों ने
दोनों से किया है वैर! किन्तु विधि विधि की
तोड़ सकता है कौन? देव, जिस विधि ने
वायु को बनाया सिन्धु-वैरी, मृगराज को
हाय! गजराज-वैरी; और विहगेन्द्र को
भीम भुजगेन्द्र-वैरी, माया से उसी की हैं
वैरी राम-रावण! भला मैं किसे दोष दूँ?"

पाकर प्रसाद दूत सत्वर चला गया
बैठा जहाँ रावण था मौन सुत-शोक में—
वसन भिगोता हुआ अश्रु-वारि-धारा से!
आज्ञा सैन्यनायकों को राघव ने दी यहाँ;
छोड़ रण-सज्जा सब वीर कुतूहल से
करने विश्राम लगे शिविरों में अपने।

बैठी हैं अशोक-वाटिका में यहाँ मैथिली—
अतल पयोधितल में ज्यों हाय! कमला
विरह विषण्णा सती, आयी वहाँ सरमा—
रक्षःकुल राजलक्ष्मी रक्षोबधू-वेश में।

कर पद-पद्मों में प्रणाम बैठी ललना
पैरों के समीप। देवी बोली मृदुस्वर से—
"चन्द्रमुखि, मुझको बताओ, पुर-वासी क्यों
दो दिन से हाहाकार करते हैं लंका में?
दिन भर मैं ने रण-नाद कल है सुना;
काँपा वन वार वार, मानों महि-कम्प से,
दूर शूर-वृन्द-पद-भार से; गगन में
अग्नि-शिखा-तुल्य देखे विशिख; दिनान्त में
रक्षोदल लौट आया जैजैकार करके,
रक्षो वाद्य-वृन्द बजा भैरव निनाद से।
कौन जीता? कौन हारा? शीघ्र कहो सरमे!
आकुल ये प्राण हा! प्रबोध नहीं मानते;
जान नहीं पड़ता है पूछूँ यहाँ किससे?
पाती नहीं उत्तर जो चेरियों से पूछूँ मैं।
लाल नेत्र वाली यह त्रिजटा भयंकरी
चामुण्डा-समान, खर खंग लिये हाथ में,
आयी मुझे मारने को हाय! कल रात में
अन्धी बन क्रोध-वश! चेरियों ने उसको
रोका किसी भाँति; बचे प्राण ये इसी लिए!
अब भी जी काँपता है याद कर दुष्टा को!"
बोली सती सरमा मनोज्ञ मृदु वाणी से,—
"मारा गया भाग्यवति, भाग्य से तुम्हारे है
इन्द्रजित युद्ध में, इसीसे दिन-रात यों
करती विलाप हेमलंका है विषाद से।
इतने दिनों में हुआ देवि, गतबल है
कर्वुरकुलेन्द्र बली। मन्दोदरी रोती है;
रक्षः-कुल-नारि-कुल व्याकुल है शोक से;
और निरानन्द हुए रक्षोरथी रोते हैं।
पद्मदल-लोचने, तुम्हारे पुण्य बल से,
देवर तुम्हारे रथी लक्ष्मण ने रण में
देवों से असाध्य कर्म्म सिद्ध किया, मारा है
जग में अजेय उस वासवविजेता को!"
बोली प्रियभाषिणी कि—"रक्षोबधू, लंका
में तुम 'शुभ सूचनी' हो मेरे लिए सर्वथा!

धन्य मेरे देवर हैं वीर-कुल-केसरी!
ऐसे शूर सुत को सुमित्रा सास ने सती,
रक्खा शुभ योग में था अपने सुगर्भ में!
जान पड़ता है, अब कृपया विधाता ने
खोला सखि, मेरा यह कारागार-द्वार है!
एकाकी रहा है अब रावण ही लंका में,
दुर्मति महारथी है। क्या हो अब, देखूँ मैं,—
और क्या क्या दुःख-भोग हैं इस कपाल में?
किन्तु सुनो, हाहाकार बढ़ता है क्रम से!''
कहने लगी यों तब सरमा सुवचनी—
''सन्धि कर देवि, कर्वुरेन्द्र राघवेन्द्र से,
सिन्धु के किनारे लिये जाता है तनय को
प्रेत-क्रिया हेतु। अस्त्र लेगा नहीं कोई भी
सात दिन-रात यहाँ अब अरिभाव से—
माना अनुरोध यह रावण का राम ने
देवि, दयासिन्धु कौन राघव-सा और है?
दैत्यबाला सुन्दरी प्रमीला—हाय! उसकी
याद ही से साध्वि, आज छाती फटी जाती है!
सुन्दरी प्रमीला देह छोड़ दाहस्थल में,
होगी पति-संग सती प्रेयसी पतिव्रता!
देवि, जब काम हर-कोपानल में जला
तब क्या हुई थी सती रति, पति-संग में?''

रोने लगी रक्षोबधू भीग आश्रु-जल से
शोकाकुला। भूतल में मूर्तिमती करुणा
सीता के स्वरूप में, सदैव पर-दुःख से
कातरा, सनीरनेत्रा बोली उस आली से—
''कुक्षण में जनम हुआ मेरा सखि सरमे,
सुख का प्रदीप मैं बुझाती हूँ सदैव ही
जाती जिस गेह में हूँ हाय! मैं अमंगला।
मेरे दग्ध भाल में लिखा है यही विधि ने!
पति पुरुषोत्तम वे मेरे वन-वासी हैं!
देखो, वन-वासी हाय, देवर वे मेरे हैं
लक्ष्मण सुलक्षण! मरे हैं पुत्र-शोक से
ससुर! अयोध्यापुरी अन्धकाराच्छन्न है;

शून्य राज-सिंहासन है! मरा जटायु है
विकट विपक्ष से, सुभीम भुज-बल से
मान रखने को इस दासी का! सखी, यहाँ
देखो, मरा इन्द्रजित, दोष से अभागी के,
और मरे रक्षोरथी कौन जाने कितने!
मरती है आज दैत्यबाला, विश्व में है जो
अद्वितीया तेजस्विनी—अद्वितीया सुन्दरी!
हाय रे! वसन्तारम्भ में ही यह कलिका
खिलती हुई ही सखि, शुष्क हुई सहसा!"
"दोष क्या तुम्हारा?" अश्रु पोंछ बोली सरमा—
"कहती हो तुम क्या विषाद-वश सुन्दरी?
कौन यह स्वर्ण-वल्ली तोड़ यहाँ लाया है
देवि, कर वंचित रसाल वर को, कहो?
राघव के मानस का पद्म कौन तोड़ के
लाया इस राक्षसों के देश में है चोरी से?
डूबता है लंकापति आप निज पापों से;
और यह किंकिरी कहे क्या?" सती सरमा
रोई सविषाद! रोई रक्षःकुल-शोक से,
पर-दुख-दुःखिनी, अशोकारण्यवासिनी,
मूर्तिमती करुणा, विशुद्धा राम-कामना।
पश्चिम का द्वार खुला अशनिनिनाद से।
लक्ष लक्ष रक्षोवीर निकले, लिये हुए
हाथों में सुवर्ण-दण्ड, जिनमें लगे हुए
कौशिक-पताका-पट, व्योम में हैं उड़ते।
नीरव पताकीवृन्द राज-पथ-पार्श्वों में
चलते हैं श्रेणीबद्ध। आगे अहा! सबसे
दुन्दुभि गभीर बजती है गज-पृष्ठ पै,
पूर्ण कर सारा देश! पैदल पदाति हैं
पंक्तिबद्ध; वाजिराजि-संग गज-राजि है;
सुरथी रथों में चलते हैं मृदु गति से;
सकरुण निक्वण से बजते सुवाद्य हैं!
चलती जहाँ तक है दृष्टि, सिन्धु-ओर को,
जाता निरानन्द रक्षोवृन्द मन्द मन्द है।
झक झक स्वर्ण-वर्म आँखें चौंधयाते हैं;

हेमध्वजदण्ड भानु-रश्मियों की आभा से
चमक रहे हैं, शीर्ष-रत्न शीर्ष देशों में,
म्यान कटिबन्धों में, सुदीर्घ शूल हाथों में;
विगलित अश्रु-धारा हो रही है आँखों से!
निकली सुवीरांगना (किंकरी प्रमीला की)
विक्रम में भीमा-समा, विद्याधरी रूप में,
कृष्ण हयारूढ़ा, अतिरम्य रण-वेश में,
विगलितकेशिनी, नृमुण्डमालिनी अहा!
मुख है मलिन ज्यों सुधांशु कलाभाव से
होती रजनी है! अश्रु बहते हैं आँखों से
अविरल, आर्द्र कर वस्त्र, अश्व, पृथ्वी को!
लेती है उसाँस कोई वामा, मौन कोई है
रोती, और देखती है कोई रघु-सैन्य की
ओर अग्नि-नेत्रों से, सरोष यथा सिंहिनी
(जालावृत) देख के अदूर व्याध-वर्ग को!
हाय रे! कहाँ है वह हास्यच्छटा-चंचला!
और वह विकट कटाक्ष-शर हैं कहाँ,
सर्वभेदी थे जो सदा मन्मथ-समर में?
चेरियों के बीच में है शून्यपृष्ठा बड़वा,
कुसुम-विहीन अहा! शोभाहीन वृन्त ज्यों!
चारों ओर चामर डुला रही हैं दासियाँ;
रोता हुआ वामादल पैदल है चलता
संग संग, कोलाहल उठता है व्योम में!
झलमल वीरभूषा होती है प्रमीला की
बड़वा की पीठ पर—चर्म, असि, मेखला,
तूण, चाप, मुकुट अमूल्य—जड़ा रत्नों से;
मणिमय सारसन, कवच सुवर्ण का,
दोनों हैं मनोहत-से—सारसन सोच के
हाय! वह सूक्ष्म कटि! कवच विचार के
उन्नत उरोज युग वे हा! गिरि-शृंग-से!
दासियाँ बिखेरती हैं रौप्य, स्वर्ण मुद्राएँ
और खीलें; गायिकाएँ सकरुण गाती हैं;
छाती कूट-कूट कर राक्षसियाँ रोती हैं!
निकला रथों के बीच रथ वर, मेघ-सा;

चक्रों में छटा है चंचला की; रथ-केतु है
इन्द्र-चाप रूपी; किन्तु कान्तिहीन आज है,
प्रतिमा-विमान ज्यों विसर्जन के अन्त में
प्रतिभा-विहीन, शून्य-कान्ति आप होता है!
रो रहे हैं रक्षोरथी घोर कोलाहल से,
छाती कूट, माथा पीट करते विलाप हैं
ज्ञान-शून्य; रक्खी है सुवीर-भूषा रथ में,—
ढाल, तलवार, तूण, चाप आदि अस्त्र हैं;
सौरकर-राशि-सा किरीट है, सुवर्म है;
रक्षोदुःख गा रही हैं सकरुण गीतों से,
रोती हुई गायिकाएँ! कोई स्वर्ण-मुद्राएँ
ऐसे है बिखेरता कि जैसे वृक्ष झंझा के
झोकों से बिखेरता है फूल-राशि; मार्ग में
गन्ध-वारि वारि-वाही जन हैं छिड़कते,
उच्चगामी रेणु को दबाते हुए, जो नहीं
सह सकती है पद-भार महा भीड़ का।
सिन्धु-तीर ओर रथ मन्द मन्द जाता है।

स्वर्ण-शिविका में गन्धपुष्पावृत शव के
निकट प्रमीला सती मूर्तिमती बैठी है,
रति मृत काम-सहगामिनी-सी मर्त्य में!
भाल पर सुन्दर सिन्दूर-विन्दु, कण्ठ में
फूलमाला, कंकण मृणाल-सी भुजाओं में,
विविध विभूषणों से है बधू विभूषिता।
रोती हुई चामर डुला रही हैं चेरियाँ,
रोती हुई पुष्प-वृष्टि करती हैं वामाएँ,
रक्षः कुल-नारि-कुल व्याकुल विषाद से
करता है हाहाकार। हाय, कहाँ आज है
आभा वह जो थी मुख-चन्द्र पर राजती
सर्वदा? कहाँ है वह हास्य मनोहारी जो
ओठों पर खेला करता था सदा, भानु का
रम्य रश्मि-जाल अयि कमलिनि, विम्बा-से
तेरे अधरों पर है खेलता प्रभात में?
मौनव्रत धारण किये है विधुवदनी—
मानों देह छोड़ कर उड़ गये प्राण हैं

पति के समीप, जहाँ पति है विराजता!
वृक्ष वर सूखे तो स्वयंवरा लता-बधू
सूखती है आप। संग रक्षोरथी पंक्ति से
चलते हैं, कोष-शून्य खंग लिये हाथों में,
जिन पर भानु-कर चम चम होते हैं;
चक्षु चौंधयाती है सुवर्ण कंचुकच्छटा!
उच्चारण करते हैं उच्च वेद-मन्त्रों का
चारों ओर वेद-विद, शान्ति पाठ करके
होतृजन करते हविर्वह वहन हैं;
नाना वस्त्र, भूषण, प्रसून, हिमबालुका,
केसर, अगर, मृगगन्ध आदि सोने के
पात्रों में लिये हैं क्रव्य-बधुएँ; सुवर्ण के
कलसों में पुण्य जल-राशि सुरसरि की।
चारों ओर स्वर्ण-दीप जलते हैं सैकड़ों।
बजते हैं ढोल, ढाँक, ढक्का और भेरियाँ,
शंख और झालर, मृदंग, वेणु, तुम्बकी;
करती शुभ-ध्वनि हैं रक्षः स्त्रियाँ सधवा,
भीग भीग बार बार अश्रु-वारि-धारा में—
मंगल-निनाद हा! अमंगल-दिवस में!
निकला पदव्रज निशाचरेन्द्र सुरथी
रावण;—विशद वस्त्र-उत्तरीय धार के
माला हो धतूरे की गले में यथा शम्भु के;
चारों ओर मन्त्रि-दल दूर नतभाव से
चलता है। मौन कर्वुरेन्द्र आर्द्रनेत्र है;
मौन हैं सचिव, मौन अन्य अधिकारी हैं।
रोते हुए पीछे पुर-वासी चले जाते हैं—
बालक, जरठ, युवा, नर तथा नारियाँ;
करके पुरी को शून्य अन्धकारमय ज्यों
गोकुल हुआ था कृष्णचन्द्र बिना सहसा!
सिन्धु के किनारे सब मन्द मन्द गति से
चलते हैं, आँसुओं से भीगते हुए तथा
हाहाकार-द्वारा देश पूर्ण करते हुए!
बोले प्रभु अंगद से सुमधुर स्वर से—
"दश शत शूर साथ लेकर महारथी,

तुम युवराज, जाओ, वैर-भाव भूल के,
रक्षोराज संग संग तीर पर सिन्धु के;
सादर, सतर्क और मित्रभाव रख के।
व्याकुल हैं मेरे प्राण रक्षःकुल-शोक से!
मानता नहीं हूँ मैं परापर विपत्ति में।
लक्ष्मण को भेजता मैं, किन्तु उन्हें देखके,
पूर्वकथा सोच कहीं राक्षसेन्द्र रुष्ट हो;
जाओ युवराज, तुम्हीं, राज-कुल-केसरी,
प्रवल तुम्हारे पिता वालि ने समर में
विमुख किया था उसे, आज शिष्टाचार से,
शिष्टाचारवाले तुम, तुष्ट करो उसको!"
दश शत रथियों के संग चला सुरथी
अंगद समुद्र के किनारे, यथारीति से।
देव-गण आये व्योमयानों पर व्योम में;
ऐरावत हाथी पर, चिर नवयौवना
इन्द्राणी-सहित इन्द्र आया; शिखिध्वज में
आये स्कन्द तारकारि-सुरकुल सेनानी;
आया रथी चित्ररथ चित्रित सुरथ में;
आये वीर वायुराज मृग पर बैठ के;
आये भीम भैंसे पर आप यमराज भी;
आये अलकेश यक्ष पुष्पक विमान में;
आया सुधा-धाम निशाकान्त शान्त चन्द्रमा,
आभाहीन, भास्कर के तेज के प्रताप से;
अश्विनीकुमार आये, और सब देवता।
किन्नर, गन्धर्व आये; आयीं देवबालाएँ,
आयीं अप्सराएँ; दिव्य बाजे बजे व्योम में।
वीणा लिये देवऋषि आये कुतूहल से;
त्रिदिव-निवासी और जो थे सब आये वे!
आके सिन्धु-तीर पर सत्वर चिता रची
विधियुत राक्षसों ने चन्दन-अगर की,
छोड़ा घृत। गंगा के पवित्र पुण्य जल से
शूर-शव धोकर निशाचरों ने उसको
पट पहनाया पूत, और उठा यत्न से
लेटाया चिता पर; गभीर धीर वाणी से

राक्षस-पुरोहितों ने मन्त्र पढ़े विधि से।
देह अवगाह कर सिन्धु महा तीर्थ में
पतिगतप्राणा, सती, सुन्दरी, प्रमीला ने,
खोल रत्न-भूषण वितीर्ण किये सबको।
करके प्रणाम गुरु लोगों को, सुभाषिणी
बोली मृदु वचनों से दैत्यबाला-वृन्द से—
"प्यारी सखियो, लो, आज जीव-लीला-लोक में
पूरी हुई मेरी जीव-लीला! दैत्य-देश को
तुम सब लौट जाओ! और सब बातें ये
कहना पिता के चरणों में; तुम वासन्ती,
मेरी जननी से" हाय! आँसू बहे सहसा,
मौन हुई साध्वी, भर आया गला उसका!
रोया दैत्यबाला-वृन्द हाहाकार करके!
शोक रोक क्षण में सती ने फिर यों कहा—
"मेरी जननी से कहना कि इस दासी के
भाग्य में लिखा था जो विधाता ने, वही हुआ!
दासी को समर्पित किया था पिता-माता ने
जिसके करों में, आज संग-संग उसके
जा रही है दासी यह; एक पति के बिना
गति अबला की नहीं दूसरी जगत में।
और क्या कहूँ मैं भला? भूलना न मुझको,
तुम सबसे है यही याचना प्रमीला की!"
चढ़के चिता पर (प्रसूनासन पै यथा)
बैठी महानन्दमति पति-पद-प्रान्त में;
कवरी-प्रवेश में प्रफुल्ल फूलमाला थी।
राक्षसों के बाजे बजे; वेद पाठ हो उठा
स्वर सह; रक्षोनारियों ने शुभ ध्वनि की;
मिल उस शब्द-संग, गूँज उठा व्योम में
हाहाकार! चारों ओर वृष्टि हुई फूलों की।
कुंकुम, कपूर, तिल गन्धसार, कस्तूरी,
और बहु वस्त्र-अलंकार यातु-बालाएँ
देने लगीं सविधि। सुतीक्ष्ण तलवारों से
काट पशु-कुल को, घृताक्त कर उसको
रक्खा सब ओर राक्षसों ने; महाशक्ति, ज्यों

रखते तुम्हारे पीठतल में हैं भक्ति से
शाक्त, वलिदान महा नवमी दिवस में!
आगे बढ़ बोला तब रक्षोराज शोक से—
"मेघनाद, आशा थी कि अन्त में ये आँखें मैं
मूँदूँगा तुम्हारे ही समक्ष, तुम्हें सौंप के
राज्य-भार, पुत्र, महा यात्रा कर जाऊँगा!
किन्तु विधि ने हा!—कौन जानता है उसकी
लीला? भला कैसे उसे जान सकता था मैं?—
भंग किया मेरा सुख-स्वप्न वह आज यों!
आशा थी कि रक्षःकुल-राज-सिंहासन पै
देख कर तुमको ये आँखें मैं जुड़ाऊँगा,
रक्षःकुल-लक्ष्मी, राक्षसेश्वरी के रूप में,
वाईं ओर पुत्रवधू! व्यर्थ आशा! पूर्व के
पाप-वश देखता हूँ आज तुम दोनों को
इस विकराल काल-आसन पै! क्या कहूँ?
देखता हूँ यातुधान-वंश-मान-भानु मैं
आज चिर राहुग्रस्त! की थी शम्भु-सेवा क्या
यत्न कर मैं ने फल पाने के लिए यही?
कैसे मैं फिरूँगा—मुझे कौन बतलावेगा—
कैसे मैं फिरूँगा हाय! शून्य लंका-धाम में?
दूँगा सान्त्वना क्या मैं तुम्हारी उस माता को,
कौन बतलावेगा मुझे हे वत्स? पूछेगी
मन्दोदरी रानी जब कह यह मुझसे—
'पुत्र कहाँ मेरा? कहाँ पुत्रबधू मेरी है?
रक्षःकुलराज, सिन्धुतीर पर दोनों को
किस सुख-संग कहो, छोड़ तुम आये हो?'
किस मिस से मैं उसे जा के समझाऊँगा—
कहके क्या उससे हा! कहके क्या उससे?
हा सुत! हा वीरश्रेष्ठ! चिर रणविजयी!
हाय! बधू, रक्षोलक्ष्मि, रावण के भाल में
विधि ने लिखी है यह पीड़ा किस पाप
से दारुण?"
अधीर हुए कैलासाद्रि धाम में
शूली! हुई भाल पर लोड़ित जटावली;

गरजा फणीन्द्र-वृन्द भीम फुफकार से;
धक धक माल-वह्नि-ज्वाला उठी काल-सी;
कल्लोलित गंगा हुई भैरव निनाद से,—
मानों गिरि-कन्दरा में स्रोतस्वती वर्षा में
वेगवती! थर्रा उठा कैलासाद्रि! भय से
काँप उठा सारा विश्व; सभया हो अभया
साध्वी हाथ जोड़ कर बोली महा रुद्र से—
"प्रभु क्यों सरोष हुए, दासी से कहो, अहो?
मारा गया मेघनाद विधि के विधान से;
दोषी नहीं रघुरथी! तो भी अविचार से
मारने चले हो उसे तो मुझे ही पहले
भस्म करो!" धर लिये पद युग अम्बा ने।
सादर सती को उठा ईश कहने लगे—
"छाती फटती है हाय! मेरी गिरिनन्दिनी;
रक्षोदुःख देख कर! जानती हो तुम, मैं
चाहता हूँ कितना रथीन्द्र नैकषेय को!
क्षेमंकरि, केवल तुम्हारे अनुरोध से
करता क्षमा हूँ राम-लक्ष्मण को आज मैं।"
आज्ञा दी त्रिशूली ने सखेद अग्निदेव को,
"सर्वशुचि, करके पवित्र निज स्पर्श से,
रक्षोदम्पती को शीघ्र लाओ इस धाम में।"
दौड़ा अग्नि भू पर इरम्मद के रूप में!
जल उठी दीर्घ चिता धक धक सहसा।
देखा दिव्य अग्निरथ सबने चकित हो;
कनकासनस्थ उसी रम्य रथ में अहा!
वासव-विजेता; दिव्य मूर्ति देखी सबने!
बाईं ओर सुन्दरी प्रमीला पतिप्राणा है,
यौवन अनन्त है, अनन्तकान्ति तनु में;
चिर सुख हासराशि होठों पर राजती!
रथ धर वेग युक्त व्योम-पथ से चला;
अम्बर से अमर जनों ने पुष्प-वृष्टि की,
पूर्ण हुआ सारा विश्व पुण्यानन्द नाद से!
दुग्ध-धारा द्वारा शुचि वह्नि यातुधानों ने
विधि से बुझाई; भस्म-राशि उठा यत्न से

कर दो विसर्जित पयोनिधि के तल में।
धौत कर दाहस्थल जाह्नवी के जल से,
लक्ष लक्ष-रक्षः शिल्पियों ने शीघ्र मिल के
सु-मठ चिता पर बनाया। स्वर्ण-ईंटों से—
अभ्रभेदी रत्न-मठ-शृंग उठा व्योम में।
स्नान कर सागर में लौटा अब लंका को
राक्षस-समूह, आर्द्र आँसुओं की धारा से—
मानों दशमी के दिन प्रतिमा विसर्ज के!
सात दिन-रात लंका रोया की विषाद से।

इति श्री मेघनाद-वध काव्ये
सत्क्रिया नाम
नवमः सर्गः

शब्द-कोश

अ

अंशुमाली—सूर्य।
अकूल—जिसका किनारा न हो, अपार।
अग्रज—बड़ा भाई।
अजिन—मृगचर्म।
अंजनाकुमार—हनूमान।
अटवी—वन।
अदिति-रत्न—अदिति का पुत्र, इन्द्र।
अधुना—अब, इस समय।
अनल—अग्नि।
अनर्गल—बे-रोक।
अनन्त—अपार; आकाश।
अनम्बर—वस्त्रहीन।
अनीक-यात्री—युद्ध की यात्रा करनेवाला।
अनीकिनी—सेना।
अनुग—पीछे चलने वाला, नौकर।
अन्तक—यम, काल।
अपर—दूसरा।
अब्धि—समुद्र।
अभ्र—आकाश, मेघ।
अभिनन्दन—हर्ष-प्रकाश, स्तुति, प्रशंसा।
अमर्त्य—देवता।
अम्बर—आकाश, वस्त्र।
अम्बु—पानी।
अयुत—दस हजार।
अरण्य—वन।
अरिन्दम—शत्रुओं का दमन करने वाला।
अर्णव—समुद्र।
अलक—केश।
अलि—भौंरा।
अलिन्द—द्वार के बाहर बरामदा।
अवतंस—मुकुट, भूषण।
अशन—भोजन, आहार।
अशनि—बिजली, वज्र।
अश्रुदृशी—जिसकी आँखों में आँसू हैं।
असि—तलवार।
असिकोष—म्यान।

आ

आखण्डल—इन्द्र।
आंजनेय—अंजना-पुत्र, हनूमान।
आदितेय—अदिति से उत्पन्न, देवता।
आमोदित—आनन्दित, सुगन्धित।
आयुध—हथियार।
आली—सखी।
आलोड़ित—मथित, आन्दोलित।
आशु—शीघ्र।

इ

इन्दिरा–लक्ष्मी।
इन्दीवर–कमल।
इरम्मद–वज्र।
इष्ट–चाहा हुआ।

उ

उटज–पर्णशाला, कुटी।
उत्थित–उठा हुआ।
उत्पाटित–उन्मूलित, उखाड़ा हुआ।
उत्स–झरना।
उदग्र–उन्नत, ऊँचा।
उद्भासित–प्रदीप्त, प्रकाशित।
उन्मद–मदान्ध, मतवाला।
उपत्यका–पर्वत के निकट की भूमि।
उपेन्द्र–विष्णु।
उमाकान्त–महादेव।

ऊ

ऊर्ध्व–ऊँचा।
ऊर्मिलाविलासी–लक्ष्मण।

ए

एकाकी–अकेला।

ओ

ओदन–देवान्न, भात।

क

कंचुक–कवच।
कदाकार–दुराचार।
कपर्दी–शिव।
कपोत–कबूतर।
कबन्ध–धड़।
कम्बु–शंख।
करणी–हथिनी।
करभ–हाथी का बच्चा।
करि–हाथी।
कलत्र–भार्या, स्त्री।
कलभ–हाथी का बच्चा।
कलुष–पाप।
कल्लोलित–तरंगित।
कबरी–वेणी।
कर्बुरेन्द्र–राक्षसेन्द्र, रावण।
काकली–कोमल और मधुर शब्द।
कांची–करधनी।
कात्यायनी–पार्वती।
कादम्बा–कलहंसी।
काममदा–काम से मतवाली।
कार्मुक–धनुष।
कालकूट–विष।
कालासन्न–मरने के समीप।
किंशुक–पलाश-पुष्प।
कुंकुम–केसर।
कुलिशी–वज्रधारी, इन्द्र।
कुवलय–कमल।
कुहर–छिद्र, गड्ढा।
कृशानु–आग।
केसरी–सिंह।
कौशिक–रेशमी वस्त्र।
क्रव्य–कच्चा मांस
क्रीत–खरीदा हुआ।
क्रोड़–गोद।
क्रौंच–एक जातीय पक्षि विशेष।
क्वणन–मधुर शब्द।
क्षणदा–रात्रि।
क्षुधार्त–भूखा।
क्षोणी–पृथ्वी।

ख

खगेन्द्र–गरुड़।
खर–तीक्ष्ण।
ख्यात–प्रसिद्ध।

ग

गण्ड–कपोल।
गन्धमादन–पर्वत विशेष।
गरल–विष।
गरिमा–गौरव, महत्ता, बड़प्पन।
गवाक्ष–झरोखा।
गहन–भारी, कठिन, दुर्गम।
गुल्म–छोटे छोटे झाड़।
गैरिक–गेरु के रंग वाला।
गोष्ठ–गोशाला।

घ

घनारूढ़–बादल के ऊपर सवार।
घृताक्त–घी से परिपूर्ण।
घ्राण–गन्ध, नाक।

च

चक्रनेमी–चक्र-परिधि।
चतुरंग–सेना।
चतुस्कन्ध–चतुरंगिणी सेना।
चन्द्रचूड़–महादेव।
चन्द्रातप–चाँदनी, चँदोवा।
चमू–सेना।
चर्व्य–चाबने लायक।
चिक्षुर–राक्षस विशेष।
चोष्य–चूसने लायक।

छ

छद्म–छल, कपट।

ज

जलधि–समुद्र।
जया–पार्वती की सखी।
जाम्बूनद–सोना।
जाह्नवी–गंगा।
जिष्णु–इन्द्र।
ज्योतिरिंगण–खद्योत, जुगनू।
ज्योत्स्ना–चाँदनी।

झ

झंझा–आँधी।

त

तपोधाम–तपस्वी।
तमस्रान्त–अँधेरे के बाद।
तमिस्रा–अँधेरी रात।
तरणि–सूर्य, नौका।
तापस–तपस्वी।
तारकारि–स्वामिकार्तिक।
तारिणी–तारने वाली।
तुंग–ऊँचा।
तुमुल–उत्कट, भयानक।
तुम्बकी–वाद्य विशेष।
तुरंगदमी–अश्व-जयी, अश्व से अधिक वेगवान।
तुरंगिणी–घोड़ी।
तूण–तरकस।
तृषा–प्यास।
तोमर–एक प्रकार का अस्त्र।
तोरण–दरवाजे का बाहरी भाग।
त्रस्त–डरा हुआ।
त्रिदिव–स्वर्ग।
त्रिनेत्र–शिव।
त्रिपुरारि–शिव।

त्रियामा—रात।
त्र्यम्बक—शिव।
त्वरा—जल्दी।

द

दक्षिण—दायें।
दम्भि—पाखण्डी।
दयिता—स्त्री।
दस्यु—चोर, डाकू।
दाक्षिणात्य—दक्षिण के रहने वाले।
दार—पत्नी।
दाशरथि—दशरथ के पुत्र।
दिति—दैत्यों की माता।
दिवा—दिन।
दिविन्द्र—इन्द्र।
दुकूल—वस्त्र।
दुरदृष्ट—दुर्भाग्य।
दुहिता—पुत्री।
दोलायित—झूलता हुआ।
द्रुत—शीघ्र।
द्विरद—हाथी।

ध

धनाधिप—कुबेर।
धन्वा—धनुष।
धन्वी—धनुषधारी, धनुर्धर।
धात्री—धाय।
धी—बुद्धि, ज्ञान।
धूर्जटि—शिव।
धौत—धोया हुआ।
ध्वान्त—अन्धकार।

न

नकुल—नेवला।
नक्र—मगर।
नगेन्द्र—हिमालय।
नरान्तक—मनुष्य के लिए यम।
नाग—हाथी, सर्प।
नाद—ध्वनि।
निक्वण—वीणा की ध्वनि।
निकषा—राक्षसों की माँ।
निकुम्भला—लंका की एक देवी।
निगड़—शृंखला, बेड़ी।
निनाद—ध्वनि।
निमीलित—सिंचे हुए।
निरवधि—निरन्तर।
निरंशु—किरण-हीन।
निर्वापित—बुझा हुआ।
निवेश—शिविर-गृह।
निशीथ—आधी रात।
निशुम्भ—एक दैत्य।
निषंग—तूणीर, तरकस।
निहत—मरा हुआ।
नीड़—घोंसला।
नीलकण्ठ—शिव।
नीलोत्पल—नीला कमल।
नृमणि—नर-रत्न।
नैकषेय—निकषा के पुत्र, रावणादि।

प

पंकिल—कीचड़ वाली जगह।
पण—बाजी।
पतंग—सूर्य।
पदव्रज—पैदल चलना।
पदातिक—पैदल सिपाही।
पद्म—कमल।
पद्मदृशी—कमलनयनी।
पद्मनाभ—विष्णु।

पद्मयोनि—ब्रह्मा।
पद्मालया—लक्ष्मी।
पन्नग—सर्प।
पयोधि—समुद्र।
परन्तप—शत्रुओं को ताप देनेवाला।
पराङमुख—विमुख।
परापर—पराया और अपना।
पराभूत—हारा हुआ।
परिखा—दुर्ग आदि के चारों ओर खोदी हुई खाई।
परिमल—सुगन्ध।
पर्ण—पत्ता।
पाणि—हाथ।
पाण्डु—पीला।
पादप—वृक्ष।
पाद्य—पैर धोने के लिए जल।
पामर—नीच।
पारावत—कबूतर।
पारिजात—देवताओं का एक वृक्ष।
पार्थ—अर्जुन।
पार्थिव—पृथ्वी का, इसी लोक का।
पार्श्व—समीप, बगल।
पावक—अग्नि।
पावन—पवित्र।
पाशी—पाश अस्त्रधारी, वरुण, यम।
पाशुपति—महादेव।
पितृव्य—चाचा।
पिनाकी—शिव।
पीन—स्थूल, मोटा।
पुंज—समूह।
पुरन्दर—इन्द्र।
पुरस्कृत—पुरस्कार पाया हुआ।
पुलिन—किनारा।
पुष्पधन्वा—कामदेव।
पूत—पवित्र।
पूरित—भरा हुआ, सम्पन्न।
पृथुल—विशाल, विस्तृत।
पेय—पीने योग्य।
पौलस्तेय—पुलस्त्य के पुत्र, रावण-आदि।
प्रक्ष्वेड़न—लौहमय वाण।
प्रगल्भ—प्रतिभा सम्पन्न, वाक्पटु।
प्रचेतः—वरुण।
प्रणत—झुका हुआ।
प्रणाश—ध्वंस, नष्ट।
प्रतिमा—मूर्ति।
प्रतिबिम्ब—परछाईं।
प्रत्यंचा—धनुष की डोरी।
प्रतिष्ठित—स्थापित किया हुआ।
प्रदत्त—दिया हुआ।
प्रफुल्ल—खिला हुआ।
प्रभंजन—वायु।
प्रमत्त—पागल।
प्रमोद—आनन्द।
प्रवाहिणी—नदी।
प्रवासी—परदेश में रहने वाला।
प्रस्तर—पत्थर।
प्रसून—फूल।
प्रहरण—अस्त्र।
प्राक्तन—पूर्वकालीन, अदृष्ट, भाग्य।
प्राचीर—दीवार।
प्रेषित—भेजा हुआ।
प्लावन—बाढ़।

फ

फणी—साँप।
फणीन्द्र—शेषनाग।
फलक—गाँसी।

व

बलाराति–इन्द्र।
बहु–बहुत।

भ

भंजिनी–तोड़नेवाली।
भर्त्सना–झिड़कना।
भद्र–सभ्य।
भव–संसार; महादेव।
भवेश–महोदव।
भारती–सरस्वती।
भिन्दिपाल–एक प्रकार का अस्त्र।
भीति–डर।
भीम–भयंकर।
भुजग–सर्प।
भुजंग–सर्प।
भूधर–पर्वत।
भृंगराज–पक्षि विशेष।
भेकी–मेढ़की।
भैरवी–शंकरी, पार्वती।

म

मकरालय–समुद्र।
मख–यज्ञ।
मघवा–इन्द्र।
मतंगिनी–हथिनी।
मदकल–मदान्ध हाथी।
मधुकरि–भ्रमरी।
मधु–वसन्त।
मधुचक्र–शहद का छत्ता।
मनोज्ञ–सुन्दर।
मन्दर–पर्वत विशेष।
मन्दार–देववृक्ष।
मन्दुरा–अश्वशाला।
मन्द्र–गम्भीर शब्द।
मन्दास्कन्द–घोड़े की गति विशेष।
मर्त्य–पृथ्वी।
महानन्दी–शिवजी का वाहन।
महिष–भैंसा।
महिषी–रानी।
महीध्र–पर्वत।
महेश्वास–महाधनुर्धर।
मातलि–इन्द्र का सारथी।
मातामह–नाना।
मातृकोड़–माता की गोदी।
मानस–मानसरोवर, मन।
मारुति–हनूमान।
मार्जित–स्वच्छ किया हुआ।
मालिका–पुष्पहार।
मीनध्वज–कामदेव।
मुक्त–खुला हुआ, मोक्ष प्राप्त।
मुक्ताफल–मोती।
मुक्ता-हार–मोतियों की माला।
मुष्टि–मुट्ठी।
मृगमद–कस्तूरी।
मृगया–शिकार, आखेट।
मृगेन्द्र–सिंह।
मृणाल–कमल की डंडी।
मृत्युंजय–मृत्यु को जीतने वाले, शिव।
मेखला–स्त्री की कमर का गहना।
मेघाली–मेघों की श्रेणी।
मैथिली–सीता।
मैनाक–पर्वत विशेष।

य

यक्षराज–कुबेर।
यन्त्रिदल–बाजेवाले।

यष्टि–ध्वजादि दण्ड।
याचना–माँगना।
यातना–कष्ट।
यातायात–गमनागमन।
यान–जहाज, वृक्ष, नौका।
यूथनाथ–दलपति।

र

रजोदीप्ति–चाँदी जैसा प्रकाश।
रति–कामदेव की स्त्री।
रत्न-सम्भवा–रत्नों से उत्पन्न।
रव–शब्द।
रसना–जीभ।
रसाल–आम।
रश्मियाँ–किरणें।
रात्रिंचर–राक्षस।
रावणि–रावण का पुत्र, मेघनाद।
रुद्रेश्वर–शिव।
रूपसी–सुन्दरी।
रेणु–धूलि, पराग।
रौप्य–चाँदी।

ल

लंकाधिप–रावण।
लांछन–कलंक
लास्य–नाच।
लुब्ध–शिकारी, लम्पट, लोभी।
लेह्य–चाटने योग्य।
लोल–चंचल।
लोह–लोहा।

व

वक्ष–छाती।
वज्रपाणि–इन्द्र।
वज्री–इन्द्र।
वड़वा–समुद्र की अग्नि।
वराननना–सुन्दर मुख वाली स्त्री।
वर्तुल–गोलाकार।
वर्म–कवच।
वर्मावृत्त–कवच से ढका हुआ।
वर्वर–नीच।
वसुधा–पृथ्वी।
वह्नि–आग।
वांछा–इच्छा।
वामदेव–शिव।
वामन–छोटे कद का, बौना, एक अवतार।
वामीश्वरी–घोड़ी।
वामेतर–दाहिना।
वारण–निवारण; हाथी।
वारि–जल।
वारिवाह–मेघ।
वारी–गज-शाला।
वारीन्द्राणि–वरुणानी।
वार्तावह–संवाददाता, दूत।
वासर–दिन।
वासव–इन्द्र।
वासुकि–सर्पराज।
विकच–विकसित।
विकीर्ण–फैला।
विजया–पार्वती की एक सखी।
विद्रुम–नवपल्लव; मूँगा।
विनिंद्या–जिसकी निन्दा की जाय।
विपणि–दूकान।
विपन्न–संकट में पड़ा हुआ।
विभा–प्रकाश, शोभा, किरण।
विम्ब–परछाईं।
विरामदा–विश्राम देने वाली।
विराव–छन्द।

विरूपाक्ष—शिव।
विवर—छिद्र।
विशारद—चतुर।
विशिख—वाण।
विश्रुत—प्रसिद्ध।
विषण्ण—म्लान।
वीणापाणि—सरस्वती।
वीतिहोत्र—अग्नि।
वीरबाहु—रावण का पुत्र।
वृन्त—वृक्षादि का वह भाग जिस पर फूल लगता है।
वृष—बैल।
वेणु—बाँसुरी।
वेद-विद—वेदों का ज्ञाता।
वेष्टित—घिरा हुआ।
वैजयन्त—इन्द्र का प्रासाद।
वैनतेय—गरुड़।
वैरिन्दम—वैरी का दमन करने वाला।
वैश्वानर—अग्नि।
व्योम—आकाश।
व्योमकेश—महादेव।

श

शक्र—इन्द्र।
शची—इन्द्राणी।
शत्रुंजय—शत्रु को जीतने वाला।
शमन—यमराज।
शम्पा—बिजली।
शम्बरारि—कामदेव।
शरभ—हाथी का बच्चा।
शर्वरी—रात्रि।
शाक्त—शक्ति देवी का उपासक।
शायक—वाण।
शावक—बच्चा।
शास्ति—दण्ड।
शिखण्डिनी—मयूरी।
शिखि—मयूर।
शिंजित—मधुर शब्द।
शिथिल—क्षीण, अलस, दुर्वल।
शिविर—तम्वू, छावनी।
शिहर—भय या विस्मय से काँपना।
शीर्षक—पगड़ी, मस्तक।
शुक्ति—सीप।
शुम्भ—दानव विशेष।
शुष्क—सूखा।
शूलपाणि—शिव।
शृंग—चोटी, सींग।
शैल—गिरि।
शैव—शिव का उपासक।
शैवाल—सिवार।
श्रान्त—थका हुआ।
श्येन—वाज।
श्वपच—चांडाल।

ष

षडानन—कार्तिकेय।

स

संकलित—संग्रहीत।
संगर—युद्ध।
संघर्ष—द्वन्द्व, मर्दन।
सचिव—मन्त्री।
सत्वर—शीघ्र।
सदाशिव—महादेव।
सन्तत—सर्वदा।
सफरी—मछली।

समर्पित—अर्पण किया हुआ।
समागम—संगम।
सरसी—पुष्करिणी।
सविता—सूर्य।
सांग—पूर्ण।
सादी—सवार।
सारण—रावण का मन्त्री।
सारसन—कटि-बन्धन, कटि-भूषण।
सीमन्तनि—सधवा स्त्री।
सुनाशीर—इन्द्र।
सूनु—पुत्र।
सूर्यसुता—यमुना।
सृजन—निर्माण, रचना।
सेतु—पुल।
सोपान—सीढ़ी।
सौध—प्रासाद।
सौमित्रि—लक्ष्मण।
सौरकर—सूर्य की किरणें।
स्कन्द—कार्तिकेय।
स्पन्द—थोड़ा हिलना।
स्यन्दन—रथ।
स्निग्ध—कोमल, मधुर, चिकना।

ह

हम्बा—गाय का रँभाना।
हर्म्य—महल।
हलाहल—विष।
हविर्वह—यज्ञाग्नि।
हिम—बर्फ।
हिमानी—तुषार।
हृषीकेश—विष्णु।
हेम—सोना।
हेमकूट—पर्वत विशेष।
होतृजन—याज्ञिक, यज्ञ करने वाले।

वीरांगना

निवेदन

कुछ समय पूर्व वंगीय कविश्रेष्ठ माइकेल मधुसूदन दत्त के 'व्रजांगना' काव्य का भाषान्तर मातृभाषा हिन्दी के चरणों में उत्सर्ग किया जा चुका है। आज उक्त कविवर का 'वीरांगना' काव्य भी राष्ट्रभाषा के चरणों में अर्पित हुआ।

यह काव्य अमित्राक्षर छन्द में लिखा गया है। मधुसूदन दत्त ने ही सब से पहले बँगला में इस तरह की कविता लिखना आरम्भ किया। इस काम में उन्हें सफलता भी पूरी हुई। अपनी विलक्षण कवित्वशक्ति के बल से उन्होंने वंगभाषा में अपूर्वता उत्पन्न कर दी। उनके काव्य इसके साक्षी हैं।

इस तरह की कविता में न तो भावों की खींचतान करनी पड़ती है, न शब्दों की तोड़ मरोड़। इस कारण कविता में एक प्रकार की ओजस्विता आप ही आप आ जाती है। माइकेल की कविता में इस ओजस्विता की पूरी मात्रा है। उनके प्रबल वाक्य-प्रवाह में तुक की कमी तिनके की तरह न जाने कहाँ बह जाती है। अनुवाद में जहाँ तक हो सका है, मूल के क्रम की रक्षा करने का यत्न किया है। परन्तु कहा नहीं जा सकता कि सफलता कहाँ तक हुई है।

माइकेल मधुसूदन दत्त के जीवनचरित-लेखक और 'पृथ्वीराज' एवं 'शिवाजी' नामक महाकाव्यों के कर्त्ता श्रीयुक्त योगीन्द्रनाथ वसु बी. ए. ने 'वीरांगना' की जो आलोचना लिखी है उसका अनुवाद भी दिया जाता है। उसे पढ़कर पाठक देखेंगे कि इसमें कितना काव्य-सौन्दर्य है। अनुवादक हिन्दी-प्रेमियों से कवि के शब्दों में यही कहना उचित समझता है—

मलयानिल रूप आओ, गन्धहीन पाओ जो
तुम इस फूल को तो लौट जाना हाल ही।

मूल छन्द चौदह अक्षर का होता है। यदि हिन्दी में उसी का प्रयोग किया जाता तो ठीक न होता। दो एक कवियों ने उसमें हिन्दी कविता लिखी भी पर वह प्रचलित न हो सका। बात यह है कि उच्चारण वैचित्र्य के कारण बँगला के ही अनुरूप उसका गठन है। ऐसी दशा में अनुवादक किसी मात्रिक छन्द का आश्रय लेने का विचार

कर रहा था। इन्हीं दिनों 'सरस्वती' में 'यात्री' नाम की एक कविता प्रकाशित हुई। उसमें लेखक ने 'मिताक्षरी' नाम देकर प्रसिद्ध 'घनाक्षरी' छन्द के अर्द्धांश का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया था। 'घनाक्षरी' या 'कवित्त' का प्रयोग हिन्दी कवियों ने जिस ढंग से किया है उसमें प्रायः एक विषय-वर्णन की एक ही छन्द में समाप्ति हो जाती है। धारावाहिक वर्णन उसमें शायद उतना अच्छा न मालूम हो। 'यात्री' नाम की कविता में जिस ढंग से उसका प्रयोग किया गया है वह धारावाहिक वर्णन के लिए अच्छा जान पड़ता है। इस कारण इस पुस्तक के अनुवाद में उसी छन्द का प्रयोग किया गया है। इस विषय में यह पहला उद्योग है। अनुवादक की योग्यता और शक्ति भी अल्प है, इस कारण बहुत सम्भव है कि अनेक स्थलों पर त्रुटियाँ रह गयी हों। पर आशा है, भविष्य में समर्थ कवियों के हाथों से परिमार्जित होकर यह छन्द हिन्दी में धारावाहिक वर्णन के लिए उसी तरह काम देगा जिस तरह संस्कृत में 'अनुष्टुप्' और बँगला में 'पयार' छन्द काम देते हैं। तथास्तु।

—अनुवादक

श्रीगणेशाय नमः

वीरांगना

प्रथम सर्ग

(दुष्यन्त के प्रति शकुन्तला)

[महर्षि विश्वामित्र द्वारा मेनका अप्सरा के गर्भ से शकुन्तला का जन्म हुआ था। शैशव में ही माता-पिता के त्याग देने पर कण्व मुनि ने उसका पालन किया था। एक बार मुनि की अनुपस्थिति में आखेट करते हुए महाराज दुष्यन्त उनके आश्रम में आये। शकुन्तला ने उनका यथा विधि सत्कार किया। दुष्यन्त उसके रूप-लावण्य पर मोहित हुए और यह सुनकर कि वह क्षत्रिय पिता की पुत्री है उस पर प्रेमासक्त हो गये। इसके बाद दोनों का गान्धर्व विवाह हुआ। कुछ दिन ठहर कर राजा अपनी राजधानी को लौट आये। लौटने पर जब उन्होंने शकुन्तला की कोई सुध न ली तब उसने उन्हें निम्नलिखित पत्र लिखा।]

राज पद-पंकजों में दासी वनवासिनी
करती प्रणाम है, नरेन्द्र, उसे भूले हो—
तुम, पर भूल सकती है वह क्या तुम्हें?
आशामदोन्मत्ता हा! अभागिनी मैं जो कभी
देखती हूँ रेणुराशि उड़ती गगन में
और सुनती हूँ वायु-शब्द दूर वन में
तत्क्षण ही चौंकती हूँ और सोचती हूँ, यों—
मदकल कुंजर है आश्रम में आ रहा,
आभूषित मणियों से,—सेना लिये संग में,—
वाजि-राजि, रथ-रथी, दास तथा दासियाँ।

आशा-वश दोनों सखियों को बुला लाती हूँ
और कहती हूँ—'सखि, देखो, आज दासी को
याद किया इतने दिनों में नरनाथ ने!
उड़ती है धूलि-राशि देखो, वह नभ में!
और सुनो कोलाहल! पौरजन आये हैं
नाथ के निदेश से सहर्ष मुझे लेने को!'
रोती गला धर के है नीरव प्रियंवदा
और अनसूया सखी करती विलाप है।
जाती उस कुंजवन में हूँ दौड़ कर मैं,
पूजे थे तुम्हारे पद मैंने जहाँ पहले।
देखती हूँ व्यग्रता से चारों ओर उसमें
फूले फूल, हरित लताएँ कलियों-भरी,
सुनती हूँ कोकिल की तान, गान भौंरों का,
वाद्य-तुल्य स्रोतोनाद, नाचते हैं पत्र भी
मर्मर निनाद कर, कूकते कपोत हैं,—
मुख को मिलाकर कपोतिनी के मुख से,—
डालों पर बैठे। कर निन्दा फूल-राशि की
पूछती हूँ,—'कुंजशोभे, हँसती है आज क्यों?
देती है सुगन्धि-सुधा क्यों तू यहाँ वायु को?'
कहती हूँ कोकिल से,—'कोकिल, तू क्यों भला
ढालता है कर्णामृत आज इस वन में!
रोने की दशा में कभी कोई कहीं गाता है?
काम-वश मधु है, तू मधु के अधीन है,
मुग्ध वही काम रूप-गुण से है जिनके
कैसे विना उनके तू आज यहाँ गाता है?'
भृंग-रव सुनके विचारती हूँ,—रोती हैं
धीरे वनदेवियाँ ये दुःखिनी के दुःख से।
सोचती हूँ स्रोतोनाद सुन,—घननाद से
करते हैं निन्दा-सी तुम्हारी वनदेवता।
काँपती हूँ—शाप कहीं दे उठें न वे तुम्हें।
कहती हूँ पत्र से—'सरस तुझे जानके
नाचता है वायु तेरे साथ प्रेम करके;
किन्तु फेंक देगा वही करके घृणा तुझे
नीरस हुआ तू जहाँ, हाय! आज ऐसे ही

दूर है किया क्या इस दुःखिनी को देव ने?'
बैठ के रसाल तले, मूँद दग्ध नेत्र ये
भ्रान्त हुई सोचती हूँ,—शीघ्र ही मैं पाऊँगी
वे पुनीत पाद-पद्म; छाती है धड़कती,
होता पद-शब्द है तो आँखें खोलती हूँ मैं
हर्ष से, परन्तु मृगी देख के विषाद से
रोने लगती हूँ, उसे मार हटा देती हूँ।
भौंरों को पुकारती हूँ,—'आओ, शिलीमुख हे
पुष्पसखे, दग्ध इन ओठों पर हा! तुम्हीं
गूँज कर टूट पड़ो सहसा तो दासी को
आकर बचाने प्राणनाथ दृष्टि आवेंगे।'
किन्तु बुलाती हूँ वृथा, प्रेमी मधु के हैं जो
यह मुख देख कान्त, आयेंगे वे अब क्यों?
चाहता है कौन भला नीरस कुसुम को?
रोती हुई जाती लता-मण्डप में हूँ, जहाँ—
सोच देखो, याद हो नरेन्द्र, जो तुम्हें—जहाँ
एक दिन बैठ प्रेम-कौतुक से तुमको
पद्म-दल पै थी लिखी गीतिका अभागी ने;
और जहाँ आकर अचानक ही तुमने
मेटी थी वियोग-व्यथा। पद्म-पत्र लेके मैं
लिखती हूँ कितना क्या, कैसे कहूँ अब सो?
हाथ जोड़ कहती हूँ मैं कभी समीर से,—
'वायुकुलराज, तुम्हीं मेरे इस पत्र को
डाल दो उड़ा के शीघ्र राज-पद-पद्मों में,
राजासनासीन जहाँ राजगृह में हों वे
राजराज।' मृग से ही शून्य मन से कभी
कहती हूँ,—'काम-गति दी है तुझे विधि ने,
ले जा हे कुरंग, तू ही मेरे इस लेख को,—
प्राणाधार वे हों जहाँ, मरती हूँ मैं यहाँ।
पाला है प्रयत्न कर मैंने तुझे छोटे से,
आज बचा मेरे दग्ध प्राण कृपा करके।'
और किससे क्या कहती हूँ, व्यर्थ क्या कहूँ,
सोच देखो देव, तुम्हीं आवे यदि मन में।
आली अनसूया वा प्रियंवदा को छोड़ के

कोई नहीं जानता है हाय! इस वन में
दुःख हतभागिनी का। आती जब पास हैं
दोनों सखियाँ ये, झट आँखें पोंछ लेती हूँ,
क्योंकि मुझे व्याकुल विलोक ऋषिबालाएँ
निन्दा करती हैं कटु वाक्यों से तुम्हारी हा!
लगती है वज्र जैसी निन्दा दग्ध उर में;
छाती फटती है, कण्ठ रुँधता है क्षोभ से।
और जितने हैं ठौर, रो रोकर सब में
घूमती हूँ नाथ! जिस वृक्ष तले तुमने
दरसी को छला था उस गन्धर्वीय छल से,
रुचि से प्रसून-शय्या रच जिस कुंज में
पाद-सेवा की थी यहाँ दासी ने सुहाग में,
उठते हैं कैसे भाव, सोच देखो, सन्मते!
जाती उस कुंजगृह में है जब किंकरी!
हाय रे विधातः! यही तेरे मन में था क्या?
प्रेम-तरु में क्या ऐसा ही फल फलता है?
घूमती हूँ नित्य इसी भाँति में अनाथिनी;
प्राणनाथ, वृद्धा बुआ गौतमी तपस्विनी
मग्न जप-तप में हैं भाग्य-वश; अन्यथा
सर्वनाश होता इस बीच में अवश्य ही।
इच्छा नहीं फूलरत्न गूँथने की बालों में,
अन्न-रुचि दूर हुई देव नहीं जानती
हाय? शून्य मन से क्या कहती हूँ किससे।
आह भर पृथ्वी पर गिरती हूँ शोक से,
होती हूँ अचेत, फिर पाके जब चेतना
आँखें खोलती हूँ, तुम दीखते हो सामने,
पैरों के पकड़ने को हाथ मैं बढ़ाती हूँ,
पाती नहीं किन्तु, हाहाकार कर रोती हूँ !
पूछूँ किससे मैं? मुझे कौन बतलावेगा?
होती किस पाप से है इतनी विडम्बना?
देता किस दोष से है दैव मुझे दण्ड यों?
करके कृपा जो कभी निद्रा शान्तिदायिनी
देती मुझको है ठौर निज मृदु गोद में,
कैसे कहूँ, क्या क्या स्वप्न देखती हूँ तब मैं?

देखती हूँ सौध स्वर्ण-रत्नों से बना हुआ;
हाथी दाँत के हैं द्वार, द्वारी जहाँ हाथी हैं।
ठौर ठौर स्वर्णासिन और फूल शय्याएँ;
विद्याधरिय सर्वश्रेष्ठ दासियाँ हैं दीखती,—
कोई नाचती है और कोई वहाँ गाती है,
कोई अलंकार, कोई राजभोग लाती है।
देखती हूँ राशि राशि रत्न, अलका में ज्यों;
होती हूँ सुगन्धि-मग्न नन्दनविपिन में—
(तात कण्व से है सुनी नाथ, उसकी कथा)
नन्दन वनान्तर में मानों मधुमास में।
सिंहासनासीन तुम्हें देखती हूँ मैं वहाँ,
ऊपर है राजच्छत्र, राजदण्ड कर में,
रत्न जिसमें हैं जड़े, वसुधा ससागरा
राज-कर भेट करती है पद-पद्मों में।
किससे कहूँ हा! जाग कितना मैं रोती हूँ ।
जानती है दासी, हे नरेन्द्र, अमरेन्द्र ज्यों
वैभव तुम्हारा और महिमा तुम्हारी है;
तुलना तुम्हारे कुल, मान, धन की कहाँ?
किन्तु महाराज, धन-लोभ नहीं दासी को,
नित्य पद-सेवा करूँ एक यही लोभ है,
नाथ, चिर आशा यही मेरे हतचित्त में।
वास मेरा वन में है, वल्कल वसन हैं,
कन्द, मूल भोजन हैं, शय्या कुश-शय्या है;
राज-सुख-भोग से है नाथ, मुझे काम क्या?
केलि करती है सदा रोहिणी सुधांशु से
नभ में, धरा में उसे पूजती है कैरवी;
दासी कर रक्खो मुझे राज-पद-पद्मों में
मैं चिर अभागिनी हूँ, माता-पिता दोनों ने
त्यागा मुझे जन्म से न जानें किस पाप से?
प्राण बचे दूसरे के अन्न तथा यत्न से।
यह नव यौवन क्या त्यागा आज तुमने?
प्राणनाथ, यह तो बता दो किस दोष से
दोषी उन चरणों में दासी है—शकुन्तला?
रहती थी सुख की खगी जो इस वन में

आकर उसे क्यों भूप, मारा व्याध बन के?
सुनती हूँ, रथियों में तुम हो महारथी,
भारत विदित एक बाहु-बल-धारी हो;
क्या यश यशस्वि, पाया, नाश कर, कह दो,
मुझ कुलबाला अबला की सुख शान्ति को?
लौट जब आश्रम में तात कण्व आवेंगे
क्या कहूँगी उनसे? बता दो देव, दासी को
दोष जब देंगी तुम्हें रोष करती हुईं
दोनों ही सखियाँ तब कैसे उन्हें रोकूँगी?
मुझको बता दो, और दग्ध इन प्राणों को
कैसे समझाऊँगी, बता दो हाय! मुझको!
देव, चरणों में यही प्रार्थना है दासी की।
कैसे चर वन्यचर, जानती हूँ मैं नहीं
जा सकेगा राजपुर—राजसभा गृह में;
किन्तु मज्जमान जन सुनती हूँ, तृण को
धरता है, और कुछ सामने मिले न जो!—
जीवन की आशा हाय! यों ही कौन छोड़ दे?

द्वितीय सर्ग
(सोम के प्रति तारा)

[जिस समय सोम अर्थात् चन्द्रदेव गुरु वृहस्पति के आश्रम में रहकर विद्याध्ययन करते थे उस समय गुरुपत्नी तारा देवी उनका असाधारण रूप देखकर उन पर मुग्ध और प्रेमासक्त हो गयीं। सोमदेव जब विद्या पढ़ कर और गुरुदक्षिणा देकर चलने को हुए तब तारादेवी अपने भावों को और न रोक सकीं। उन्होंने सतीत्व धर्म्म को तिलांजलि देकर सोमदेव को निम्नलिखित् पत्र लिखा। सोमदेव ने क्या किया इसके बताने की यहाँ कुछ आवश्यकता नहीं। पुराण पढ़ने वाले उसे अच्छी तरह जानते हैं।]

सम्बोधन क्या दे तुम्हें, हाय! हे सुधानिधे,
भाग्यहीना तारा? मैं तुम्हारी गुरु-पत्नी हूँ,
पर हे पुरुषरत्न, भाग्यदोष होने से
होना चाहती हूँ मैं तुम्हारी पद-किंकरी!
हाय! लज्जा! कैसे लिखी तूने दग्ध लेखनी,
आज यह पाप-कथा कैसे लिखी हाय रे!
किन्तु तुझे दोष दूँ क्यों, तू तो हस्त-दासी है;
हस्त मन का है दास, जलने से मन के
तू न क्यों जलेगी भला? वज्र तो जलाता है
वृक्ष-भाल, मरती है लतिका पदाश्रिता।
हे स्मृति, कुकर्म्म—रत दुर्मति बुझाता है
दीप ज्यों बुझाना तुम्हें चाहती है आज त्यों
पापीयसी तारा, मुझे भिक्षा दो कि भूलूँ मैं
कौन वह मेरा चित चोर है मैं कौन हूँ
भूलूँ, भूतपूर्वकथा, भूलूँ मैं भविष्य को।
आओ, तब प्राणसखे, देती हूँ जलांजली
निर्भय तुम्हारे लिए लज्जा, कुल धर्म को।

तोड़ कुल-पिंजर को कुल की विहंगिनी
शून्य में उड़ी है, शीघ्र आओ, धरो उसको
तारानाथ,—तारानाथ? रक्खा यह किसने
नाम है तुम्हारा गुणधाम, कहो तारा से?
जान गया कैसे इस दग्ध मन की कथा
नाम दाता? सोचती थी मैं कि निशाकाल में
सुप्तकमलों में गुप्त रहता है गन्ध ज्यों,
अन्तस्थित है त्यों यह मेरा प्रेम मन में
धिक है परन्तु तुझे व्यर्थ के विचार रे!
कौन छिपा सकता है ज्वलित कृशानु को?
आओ तब प्राणसखे, तारानाथ तारा की
शान्त मनोज्वाला करो। छोड़ निज राज्य क्या
राज-काज भूल राजा रहता विदेश में?
उन्मद मदन मीनकेतु रथी हाथ में
पुष्प चाप धारे, पाँच पाँच शर तान के
अबला-पुरी पर चढ़ा है कोप करके,
तुम जो न रक्खोगे तो कौन उसे रक्खेगा?
जिस दिन-कुदिन कहूँगी उसे कैसे मैं—
जिस दिन गुणाधार, देखा जिस दिन था
अतुल तुम्हारा मुख-चन्द्र इन आँखों ने,
जिस दिन शान्त इस आश्रम में पहले
आये निशाकान्त, तुम, फुल्ल हुए सहसा
नूतन कुमुद-तुल्य उल्लसित प्राण ये
मग्न हुए, मानों एक साथ सुधा-सिन्धु में
देखा यह दग्ध मुख दर्पण में कितना
मैंने, गुणी वेणी वन-रत्न-रूप फूलों से,
चिर परिधेय बल्कलों से घृणा हो उठी;
माँगे बनदेवियों से रो रो कर पैरों में
भूषण, वसन, साड़ी, कंचुकी, कड़े, छड़े,
मुक्तहार, बेंदी, कर्णफूल, कटि-किंकणी।
मृगमद ध्यान कर चन्दन हटा दिया,
जान सकी हा! क्या मैं अबोध इस बात को,—
सहसा हुई क्यों साध ऐसी इस चित्त में?
किन्तु समझी हूँ अब, पाकर वसन्त को

साज सजती है वन-राजि भाँति भाँति के
तुम हो वसन्त, तारा-यौवन विपिन के!
गुरु-चरणों में जब पढ़ने को बैठते
तुम हे सुमति, गृह-कर्म्म भूल पापिनी
आड़ में खड़ी हो नित्य सुनती थी मैं सखे,
चिरमधुपूर्ण वह मीठा स्वर सुख से!
तुच्छ निगमागम क्या, तुच्छ क्या पुराण हैं,
तुच्छ क्या मृदंग, वेणु, वीणा तथा तुम्बकी?
ढालो तुम वाक्य-सुधा, प्रेम-मग्न नाचेगी
तारा नाचती है ज्यों मयूरी घन-नाद से।
गायों को लेकर जब गुरु के निदेश से
घूमते अकेले सुर-रत्न, तुम वन में
रोती मैं कितना तब नित्य विरहाग्नि से
किससे कहूँ, हा! अश्रु लज्जा-वश पोंछती।
जान गुरुपत्नी जब मेरे पदतल में
करते प्रणाम तुम तब हे सुधानिधे!
आखें मूँद सोचती मैं मन में यही कि मैं
मानवती युवती हूँ, प्राणपति तुम हो,
मान छुड़ाने को नत दासी के पदों में हो!
स्वस्ति–मिष करती प्रणाम मन मन में!!
गुरु के प्रसाद रूप भोजन के अन्त में,
आचमन हेतु तुम गुरु के निदेश से
बाहर आ ताराकान्त, जल जब लाते थे,
कितना क्या रखती थी लाती थी छिपा के जो
चोरी से हरीतकी-स्थली में, तुम्हें याद है?
पान मिलते थे क्या कुशासन-तले कभी?
सोने के घर में तुम फूल देखते थे क्या!
रोते हाय! प्राण ये तृष्णासन निहार के
कमलों से कोमल तुम्हारे सब अंग हैं
रचती इसी से निशाकान्त, पुष्प-शय्या मैं;
कैसी भावनाएँ उठती थीं उस वेला हा!
मेरे हतचित्त में, विचार सकते हो क्या?
जाते जब वाटिका में पूजा पुष्प लेने को
तब तुम चारों ओर तोड़े फूल पाते थे!

कहते सहास्य, वनदेवियाँ दयामयी
रख गयीं फूल मुझे श्रम से बचाने को।
किन्तु सच्ची बात अब कहती हूँ मैं, सुनो,
जाती वाटिका में उठ दासी रात रहते,
आप ही तुम्हारे लिए फूल तोड़ रखती।
फूलों पर वारि-विन्दु जो थे तुम देखते
वे थे हतभागिनी के अश्रु हे सुधानिधे!
कहती थी कितना हा! तारा मदोन्मादिनी
नित्य प्रति पुष्प से कहे, क्या इस मुख से!
चम्पा से कहती वह—'तेरा वर्ण देख के
तोड़ेंगे तुझे रे फूल, उन कर-कुंजों से
सादर सखा जो वर वर्ण यह मेरा तो
ईर्ष्या अभिमान-वश काला पड़ जावेगा।'
जानती जिसे मैं वर वर्ण रोहिणीपते,
काला वह हो रहा तुम्हारे विना आज है।
कहती कदम्ब से मैं, कह नहीं सकती
कहती क्या, लज्जा-वश, सोम, तुम्हीं सोच लो,
जान लोगे आप तुम सागर हो रस के।
लोगों से सुना है, सखे, तुम निज लोक में
लेते मृग गोद में हो, मैंने मृग कितने
रो रोकर गोद में उठाये हैं विजन में!
क्या कहूँ वे बातें और सुनके हँसोगे हा!
हे सुहासि, लिखती हूँ क्या मैं, नहीं जानती।
छाती फटती थी हाय! देख तारागण को;
मेघों को बुलाती चिर कम्पनार्थ नभ में
रोहिणी की स्वर्ण-कान्ति। भ्रान्ति-मद-मत्त हो
निन्दती सपत्नी मान क्रोध से मैं उसको।
फूले देख कुमुद ह्रदों में निशाकाल में,
तोड़ फेंकती थी मैं, अँधेरे गृह में तथा
जाती थी सवेग, सरसी में तुम्हें देख के
भूमि पर लोटती मैं, आँसुओं से भीगती,
कहती अभिमान से यों—निर्दय विधाता हा!
यौवन क्या मेरा नहीं और रूप माधुरी?
फिर क्यों,—परन्तु वृथा पूर्व कथा छेड़ूँ क्यों?

जब दिन दोगे, सुर श्रेष्ठ, मैं सुनाऊँगी।
तुष्ट किया गुरु को सु-दक्षिणा से तुमने,
भिक्षा चाहती है गुरुपत्नी, उसे भिक्षा दो,
भिक्षा दो, रहूँ मैं दिन-रात साथ छाया-सी,
सेवा उन चरणों की दासी बन के करूँ;
नाथ, दिन रात। धिक हाय! किस पाप से
ऐसा ताप देव ने लिखा है इस भाल में?
जन्मी ऋषिवंश में हूँ तो भी राक्षसी हूँ मैं!
परिमल-पुष्प में हलाहल हुआ है क्यों?
कोकिल के नीड़ में छिपाया काक किसने?
पाप-नदी कर्म्मनाशा कैसे गिरी गंगा में?
क्षमा करो प्राणसखे, पिंजर से छूट क्या
जाना चाहती है खगी पूर्व कारागार में?
आओ तुम शीघ्र आओ, जाऊँ कुंजवन में
तुम द्विजराज, मुझे लोगे यदि संग में।
आकर पदाश्रय दो प्रेमोदासिनी हूँ मैं,
जाओ जहाँ जाऊँगी, करोगे सो करूँगी मैं
काय मन से मैं चरणों में बिक जाऊँगी।
कहते शशांक, सब तुमको कलंकी हैं;
आओ, करो तारा किंकरी को भी कलंकिनी
तारानाथ, काम नहीं व्यर्थ कुल-मान से।
तारा के अभीष्ट, आओ, विषम-वियोग से—
दव से वनस्थली-सी—तारा जली जाती है।
सेवा कर पाती है चकोरी सुधा तुम से,
दोषी किस दोष से तुम्हारी है अभागिनी?
पाती कैरवी है तुम्हें नित्य किस तप से?
मुझसे कहो मैं करूँ शीघ्र उसी तप को,—
खान-पान, निद्रा छोड़ एकासन से सखे!
किन्तु दया हो तो शीघ्र आओ, गुप्त भाव से,
यह नव यौवन समर्पित करूँगी मैं,
करती है सागर को स्वर्ण-मणि गंगा ज्यों!
और क्या लिखूँ मैं? स्वयं विज्ञवर तुम हो,
क्षमा करो भूल चूक, कैसे फिर मैं पढ़ूँ
दग्धमन ने क्या कहा? लेखनी ने क्या लिखा?

आओ नाथ, विनती पदों में यही दासी की।
वन में अकेली बैठ पत्र लिखा मैंने है
चौंक कर आप से ही, काँप कर भय से,
रो कर विषाद से हा! मर कर लज्जा से!—
ले के पुष्प-वृन्त कान्त, कज्जल से आँखों के।
सिन्धु हो दया के तुम दोष क्षमा करना;
आओगे तुम तो समझूँगी मैं—क्षमा किये
दासी के तुमने सब दोष, और क्या लिखूँ?
जीवन-मरण मेरा हाथ है तुम्हारे ही।

तृतीय सर्ग
(द्वारकानाथ के प्रति रुक्मिणी)

[पुराणों में लिखा है कि विदर्भाधिपति भीष्मक की पुत्री राजकुमारी रुक्मिणी देवी स्वयं लक्ष्मी का अवतार थीं। वे जन्म से ही विष्णु-परायणा थीं। विवाह-योग्य होने पर उनके भाई युवराज रुक्मि ने उनका विवाह चेदीश्वर राजा शिशुपाल से करना चाहा। तब रुक्मिणी देवी ने निम्नलिखित पत्र विष्णु के अवतार द्वारकानाथ श्रीकृष्ण को लिख भेजा। श्रीकृष्ण-कृत रुक्मिणी-हरण की कथा प्रसिद्ध ही है।]

सुनती हूँ ऋषियों से यादवेन्द्र, तुम हो
आप हृषीकेष, अवतीर्ण हुए लोक में
भूमि-भार हरने को पापियों को मार के।
चाहती पदाश्रय है, वन्द पद-पद्म के,
भीष्मक की पुत्री, चिर दासी तव रुक्मिणी;
तारो हे तारक; इस संकट से उसको।
कैसे कहूँ जी की बात चरणों में देव, मैं?
अबला कुलांगना हूँ, जी को कड़ा करके
हाय! किस साहस से लज्जा-भय छोड़ूँ मैं?
आँखें मिंचती हैं, गिरी पड़ती है लेखनी
छाती काँपती है, नहीं जानती हूँ क्या करूँ?
जानती नहीं मैं कहूँ दुःख-कथा किससे?
तुम हो दयाब्धि सुनो, आज तुम्हें छोड़ के
और कौन ठौर है अभागिनी को लोक में?
देख पुरुषोत्तम को स्वप्न में अभागी ने
देह मन सौंप दिये, साक्षी कर देवों को,
वरण किया है उन देव-नर-रत्न को!
नाम नहीं ले सकती उनका, वे स्वामी हैं

और दासी नारी है, परन्तु कहूँ, सुनिये,
पंचमुख जपते हैं पंचमुख से सदा
नाम वह अमृत-समान सबके लिए।
कौन हैं वे और किस श्रेष्ठ कुल में, कहाँ
जन्म है उन्होंने लिया, थोड़े में सुनो, प्रभो!
फूल चुन मालिन बनाती यथा माला है,
गूँथूँ ऋषि वाक्य-गाथा नाथ, पदच्छाया दो।
जन्म पुरुषोत्तम ने कारागार में लिया,
वन्दी उसमें थे पिता-माता राज-रोष से,
दीनबन्धो, जन्मे हैं कुठौर नाथ इससे।
खान में हैं रत्न होते और मोती सीप में।
उस सु-निशा में धरा पुलकी प्रमोद से;
शत शत शारदीय शशि-सदृशी छटा
छिटकी, सुगन्ध मद-मत्त हो समीर ने
सन सन शब्द किया, दौड़ कल नाद से
नद-नदियों ने सु-संवाद दिया सिन्धु को,
कल्लोलित होकर सहर्ष वह गरजा।
अप्सराएँ स्वर्ग में, धरा में नर-नारियाँ
नाचीं, गीत-वाद्य की तरंगें उठी रंग से
चारों ओर फूल बरसाये सुर-वृन्द ने,
पाये दरिद्रों ने रत्न, मृत जन जी उठे।
जय जयकार-पूर्ण सारा विश्व हो उठा।
जन्म के अनन्तर; निशा में ही, जनक ने
जाके आप नन्दन को गोपराज-गृह में
रक्खा बड़े यत्न से। सु-रत्न पाके दीन ज्यों
मोद-सिन्धु में हो मग्न, मग्न हुए धन्य हो
गोकुल के गोपदम्पती त्यों मोद-सिन्धु में।
आदर से पुत्र मान, पाला गोप रानी ने।
छोटे में जितना और जैसी बाल-लीलाएँ
गोपीनाथ ने की उन्हें कौन कह सकता?
कौन कह सकता है मायाविनी पूतना
शैशव में मारी किस कौशल से? देख क्या
कालनाग कालिय पदों में पड़ा उनके?
कौन कह सकता है कोप कर इन्द्र ने

घोर जल-वृष्टियों की जब, किस युक्ति से
गोवर्द्धन पर्वत उठाकर सहज ही
व्रज को बचाया उस जल के प्रलय से?
और जो जो कीर्तियाँ की विश्व में विदित हैं।
यौवन में गोपियों के संग रसराज ने
क्रीड़ा की, भुलाया सब गोप-बधू-व्रज को
बाँसुरी बजा कर, तमाल-तले नाच के,
गोठों में विहरे प्रभु, यमुना-पुलिन में।
गोकुल में यों ही कुछ काल सुख भोग के
अपने पिता का शत्रु मारा अरिन्दम ने।
दूर फिर सिन्धु के किनारे पुरी सुन्दरी
जाकर बसाई; भला और कितना कहूँ?
चिन्तामणे, चिन्ता कर देखो उन्हें चीन्हो जो।
और जो न चीन्ह सको तो मुझको आज्ञा दो
पीताम्बर, देखूँ जो बखान सके सेविका
उस छवि माधुरी को! चित्रपट पर-सी
मूर्ति चिर चित्रित है वह इस चित्त में।
वर्ण नव मेघ-सा है, सुतनु त्रिभंग है,
सिर पर मोरपंख गुंजाहार ग्रीवा में,
वंशी मधु ओठों पर, पीत परिधेय है,
पद-कमलों में ध्वज-वज्रांकुश-चिह्न हैं,
योगीश्वर-मानस-सरोज, मुक्ति-धाम हैं।
जब जब देखती हूँ देव, मैं गगन में
वारि-धर, बिजली का वस्त्र पहने हुए
और इन्द्र चाप रूपी मुकुट धरे हुए,
अर्घ्य पाद देकर प्रणाम कर भक्ति से,
पूजती हूँ और कहती हूँ भ्रान्ति-मद से,—
मेरे प्राणकान्त तोष देने मुझ दासी को
आते शून्य पथ से हैं! उड़ती है चातकी
तो मैं निन्दती हूँ उसे यदुमणि, कोप से!
नाचती मयूर देख मारती हूँ उसको!
गर्जता है मेघ तो हूँ आँखें मूँद सोचती,—
गोपबाला, हूँ मैं सखा यमुना-पुलिन में
मुझको पुकारते हैं मीठी वेणु-वाणी से!

कहती मयूर से हूँ—'धन्य खग-कुल में
है तू शिखी, जिसका मुकुट सिर उनके
सोहता है शम्भु पद पूजते हैं जिनके!'
परिचय और क्या दूँ? चरणों में देव, मैं?
सुनो अब दुःख-कथा। मन्दिर में मन के
रख वह श्याम मूर्ति—त्यागिनी तपस्विनी
पूजे इष्ट देव को ज्यों निर्जन गहन में,—
पूजती थी नाथ को मैं। अब विधि-दोष से
चेदीश्वर राजा शिशुपाल जो कहाता है
लोक-रव सुनती हूँ, हाय! वर-वेश से
आ रहा है शीघ्र यहाँ वरने अभागी को!
आह! कैसी लज्जा, सोच देखो द्वारकापते,
धर्म्म-हीन कर्म्म कैसे रुक्मिणी करेगी यों?
आप ही दिया है मन हाय! एक जन को
किंकरी ने, दूसरे को—हे प्रभो, क्षमा करो,
प्राण उड़ते हैं वह बात याद आते ही;
विधि ने लिखा था यह ताप किस पाप से?
आओ हे गदाधर, बजा के पांचजन्य को,
वैनतेय वाहन पै; देव, इस दासी में
होता यदि रूप-गुण तो मैं यह कहती—
आओ हे मुरारि, आओ, जा के चन्द्रलोक में
अमृत तुम्हारे वर वाहन गरुड़ ने
हरण किया था यथा—आ के तुम दासी को
हर लो, परन्तु न तो रूप है न गुण है,
कैसे सुधा-संग करूँ तुलना मैं अपनी?
दीन हूँ मैं यादवेन्द्र, दीनबन्धु तुम हो
रुक्मिणी को उन पुरुषोत्तम को दो प्रभो,
विधि ने बनाया उसे दासी कर जिनकी।
रुक्मी नाम बन्धु मेरा अति ही दुरन्त है,
चेदीपति उसका बड़ा ही प्रीति-पात्र है।
माँ के चरणों में कही जाती नहीं लाज से
बात जले जी की देव, चन्द्रकला आती है;
रात-दिन रोती हूँ उसी का गला धर के।
भय से अकेली बैठ दोनों हम रोती हैं।

आयी उन चरणों की आज मैं शरण में।
मन बहलाती हूँ तथा हूँ धैर्य धरती
कैसे श्रीपते मैं, जो सुनोगे तो सुनाऊँगी।
बहती प्रवाहिणी है एक राज-वन में
सादर पुकारती हूँ कह उसे यमुना!
उसके किनारे बड़े प्रेम से लगाये हैं
कितने तमाल, नीप, आवेगी, तुम्हें हँसी!
पाले कुंज में हैं शुक, सारी, शिखी शिखिनी।
कूजती हैं कोकिलाएँ, गूँजते मधुप हैं,
फूलते हैं फूल, किन्तु एक प्रभु के बिना
निष्प्रभ है सारा वन, सो हे द्वारकापते,
कुंज विहारी से कहो, शीघ्र उस कुंज में
बाँसुरी बजाते हुए आवें देव, अथवा
पहुँचा दो मुझको ही चरणों में उनके।
गायें बहु गोठ में हैं कह दो गोपाल से
आवें उस गो-गृह में यादवेन्द्र, कह दो,
गूँथ रखती हूँ फूलमाला नित्य यत्न से।
पाती हूँ पड़ा जो मोरपंख करती हूँ मैं
कितना—हा! पागल हूँ, कहने से लाभ क्या?
आकर उबारो मुझे शार्ङ्गधर तुम हो!
दासी ने सुना है, किया कंस-वध तुमने;
खेल से ही मारा मधुदानव महाबली;
कौन कह सकता है गुण गुण-निधि के
काल रूप शीघ्र शिशुपाल यहाँ आता है
उसके प्रथम आओ, नाथ, हरो मुझको
और पहुँचा दो मुझे चरणों में उनके
सोते में जिन्होंने हरा मेरा मन हे हरे!

चतुर्थ सर्ग
(दशरथ के प्रति केकयी)

[किसी समय राजर्षि दशरथ ने केकयी देवी से प्रतिज्ञा की थी कि वे उन्हीं के गर्भजात पुत्र भरत को युवराज बनावेंगे। कालक्रम से उन्होंने अपने वचन को भूलकर कौशल्यानन्दन रामचन्द्र को यह पद देने की इच्छा की और तदनुसार उत्सव का आयोजन कराया। केकयी ने मन्थरा के मुँह से यह सुनकर महाराज दशरथ को यह पत्र लिखा था।]

मैं यह क्या सुनती हूँ मन्थरा के मुख से
आज रघुराज? किन्तु दासी नीच कुल की
वह है, विचार सच-झूठ का उसे कहाँ?
तुम बतलाओ, सब पौरजन आज क्यों—
मोद-जल में हैं मग्न? कोई राज-पथ में
छींटता है फूल, कोई गूँथता है मालाएँ,—
फूल-फल-पल्लवों से, द्वारों के सजाने को,
मानों महा उत्सव में; और उड़ते हैं क्यों
प्रति गृहशीर्ष पर केतु? रणवेश से
गज, रथ, अश्व, रथी और पदातिक क्यों
बाहर निकलते हैं? बाजे बजते हैं क्यों
युद्ध के? क्यों चारों ओर सब पुरनारियाँ
करती शुभध्वनि हैं बार बार मिल के?
नाट्य करते हैं नट, गायिकाएँ गाती हैं,
हेतु क्या है? क्यों इतनी वीणाध्वनि होती है?
मैं भी सुनूँ कृपया बता दो देव, मुझको
आज रघुराज किस व्रत में व्रती हुए?
कौशल्या महिषी धन-दान करती हैं यों

किसके कुशल हेतु? देव मन्दिरों में क्यों
झाँझ, शंख, घटा बजते हैं घन-घोष से?
राघव पुरोहित क्यों स्वस्त्ययन-रत हैं?
बहता निरन्तर है आज जन-स्रोत क्यों
इस नगरी की ओर? रघुकुल-बधुएँ
नाना विध भूषणों से सजती हैं आज क्यों?
कोई मखारम्भ किया है क्या प्रभो, सहसा?
कौन-सा महोत्सव है आज तब पुर में?
मारा गया कौन वैरी राघव महारथे,
पुत्र क्या हुआ है और? या किसी का व्याह है?
घर में क्या कोई बिना व्याही सुता और है?
बढ़ता कुतूहल है मेरे मन में बड़ा;
कहिए हे देव, सुनूँ क्या इस वयस में
पाया फिर भाग्य-वश—भाग्यवान तुम हो
चिर दिन—पाया फिर क्या इस वयस में
प्रेमपूर्ण नारी-रत्न? राजऋषि, कहिए?
हाय धिक! क्या कहेगी दासी, तुम स्वामी हो
कहती नहीं तो देव, कैकेयी निडर हो,—
'अति ही असत्यवादी रघुकुल पति हैं
लज्जाहीन! तोड़ते प्रतिज्ञा हैं सहज ही!
धर्म्म मुँह में है किन्तु गति है अधर्म्म में!'
झूठी बात निकले जो केकयी के मुख से
आकर नरेन्द्र, सिर काटो तुम उसका;
अथवा लगा के उसे टीका अभी नील का
वन में खदेड़ो तुम! किन्तु यदि सच हो
यह अपवाद तो सहोगे किस भाँति हा!
इतना कलंक! कैसे मुँह दिखलाओगे
लोक में? विचार देखो राघवेन्द्र, मन में!
अब अलसाती नहीं मैं नितम्ब-भार से!
कदली-समान गोल जाँघें अब हैं नहीं!
वह कटि हाय! जिसे धर कर कंजों से
प्रेम-पूर्ण, निन्दा करते थे तुम सिंह की,
झुकने लगी है अब! उन्नत उरोज वे
नम्र हुए! अधर सुधा-विहीन हो गये!

रत्न जितने थे इस यौवन के कोष में
काल ने हैं लूट लिए; वन में निदाघ ने
हरण किये हैं कान्त, फूल सुखा कर के!
याद करो किन्तु नरनाथ, कथा पूर्व की
सेवा नव यौवन में जब की तुम्हारी थी।
क्या प्रतिज्ञा की थी तब मेरे साथ तुमने—
साक्षी कर धर्म प्रभो? काम-मद-मत्त हो
देकर मृषाशा जो छला था मुझे तो कहो?
ऐसा यदि हो तो चुपचाप दुःख झेलूँगी।
कामियों की ऐसी ही कुरीति सुनी लोक में,
अबला जनों के चित्त नित्य वे चुराते हैं
कौशल से, निर्भय जलांजलि दे धर्म्म को,
वंचना की राख मधु-रस में मिलाते हैं!
भानुकुलकेतु इसी पथ के पथी हैं क्या?
सुन्दर ललाट पर रखिए (शशांक ज्यों)
देव, दिननाथ, अब रेखा सो कलंक की!
धर्म्मशील कह के बखानते हैं तुमको,
जानते जितेन्द्रिय हैं, सत्यशील मानते—
देव-नर, देव, सदा, फिर क्यों? कहो, सुनूँ
करते अभिषेक हो क्यों आज यौवराज्य का
कौशल्या-तनय रामचन्द्र को? कहो कहाँ
भरत तुम्हारा पुत्र—भारत का रत्न जो,
रघुकुल चूड़ामणि? याद अब आती हैं
बातें सब पूर्व की क्या? देव, दासी केकयी
दोषी है तुम्हारे चरणों में किस दोष से?
पुत्र अपराधी हुआ किस अपराध से!
राजा, तीन रानियाँ तुम्हारी, कहो, उनमें
केकयी ने कौन त्रुटि की है कब सेवा में?
पुत्र हैं तुम्हारे चार, रामचन्द्र उनमें
किस गुण-शील से हैं श्रेष्ठ? हे महीपते,
कौशल्या महिषी ने बताओ, किस माया से
मोहा है तुम्हारा मन? देखकर राम में
कौन-सा विशिष्ट गुण, उनका अभीष्ट यों

पूर्ण करने में तुम छोड़ते हो धर्म्म को?
किन्तु वृथा वाक्य-व्यय करने से लाभ क्या?
चाहो जो करो, तुम्हें है कौन रोक सकता?
तुम हो नरेन्द्र। कौन पानी के प्रवाह को
लौटा सकता है भला? पक्षियों के जाल में
कौन बाँध सकता है सिंह? चली छोड़ के
पाप की तुम्हारी पुरी, बनके भिखारिनी
दासी, हे धराधव, फिरूँगी देश देश में,
जाऊँगी जहाँ मैं वहाँ कहती फिरूँगी यों–
'अति ही अधर्मचारी रघुकुल-पति हैं!'–
नभ में गभीर घटा घोष करती है ज्यों
दुःख कथा अपनी कहूँगी यह सब से–
भूपति से, भिक्षु से, गृहस्थ से, पथिक से,
पाऊँगी जिसे जहाँ कहूँगी वहाँ उससे–
'अति ही अधर्मचारी रघुकुल-पति हैं!
पाल शुक-सारी उन्हें यत्न से सिखाऊँगी
यह निज दुःख-कथा, और फिर वन में
छोड़ दूँगी, वृक्षों पर बैठ वे यों गायँगे–
'अति ही अधर्म्मचारी रघुकुल-पति हैं!
गायगी प्रतिध्वनि खगों से सीख कर यों–
'अति ही अधर्म्मचारी रघुकुल-पति हैं!'
शैलों पर वृक्षों पर बात यही खोदूँगी,
गाथा रच ग्रामनारियों को सिखा दूँगी मैं,
नाचती हुईं वे करताल दे दे गायँगी–
'अति ही अधर्म्मचारी रघुकुल-पति हैं!'
धर्म्म यदि है तो इस कर्म का अवश्य ही
भोगना पड़ेगा तुम्हें प्रतिफल! तुमने
आशा दे निराश किया मुझको, मैं देखूँगी
आशा-तरु में तुम्हारे फलता है फल क्या?
जिसका बढ़ाया मान साथ रहो उसके
घर तुम। वाम ओर कौशल्या सु-महिषी,–
(इतनी वयस तो भी लज्जाहीन तुम हो,)
पुत्र रामचन्द्र युवराज, बधू जानकी–

जनक-लड़ेंती अति प्यारी, इन सब को
लेकर नरेन्द्र, रहो घर तुम, मैं चली।
मेरे पिता पालेंगे अनाथ मेरे सुत को;
आश्रय मिलेगा उसे मातामह-गृह में।
देकर शपथ रोक दूँगी उसे खाने से
अन्न तव; आने से तुम्हारे पाप-पुर में!
आधि-वश वक्ष चीर मैंने इस पत्र को
रक्त से लिखा है! यदि पाप नहीं मुझमें,
पतिगतचिन्ता यदि दासी है पतिव्रता,
धर्म्म ही विचार करे मेरा धर्म-रीति से।

पंचम सर्ग

(लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा)

[जिस समय रामचन्द्र पंचवटी में वास करते थे उस समय लंकापति रावण की बहन शूर्पणखा रामानुज लक्ष्मण का मोहन-रूप देखकर उन पर मोहित हुई। इसी सम्बन्ध में उसने लक्ष्मण को निम्नलिखित पत्र लिखा। कविकुलगुरु वाल्मीकि ने रावण के परिवार का वर्णन प्रायः वीभत्स रस के साथ किया है। किन्तु यहाँ उस रस का लेश मात्र भी नहीं। अतएव पाठक गण उस वाल्मीकि वर्णिता विकटा शूर्पणखा को भूल जायँ!]

कौन तुम भस्म से विभूषित, गहन में
घूमते हो एकाकी, बताओ यह मुझको?
पावक छिपा है किस कौतुक से राख में?
मानों अम्बुदों की आड़ में हो पूर्ण चन्द्रमा?
सिर पै तुम्हारे जटाजूट देख दुःख से
छाती फटती है मंजुकेशि! स्वर्ण-शय्या मैं
छोड़ उठती हूँ, जब सोचती हूँ खेद से
सोते हो शुभांग, तुम पृथ्वी पर रात में!
हाय! हाय! उपादेय राजभोग सामने
दासियों के लाने पर फेरती हूँ मुख मैं,—
सोचती हूँ जब—तुम कन्द-मूल खाते हो।
जाती हूँ विषण्ण गति से मैं स्वर्ण-धाम में,
क्योंकि तुम पेड़ों तले रहते हो रात में!
आकर हे कान्त, शीघ्र मुझसे कहो, सुनूँ,
तुम किस दुःख-वश सांसारिक सुख से
विमुख हुए हो इस नव्य युवावस्था में?

राजवेश छोड़ कहो, किस अभिमान से
रक्खा है विरागी वेश? बोलो, किस डर से
कांचन-मेनाक-तुल्य तेजोमूर्ति तुम हे!
भटक रहे हो इस घोर वन-सिन्धु में
तेज को छिपा कर अकेले क्षीण, क्षुण्ण-से?
आकर बताओ मुझे बातें निज मन की।–
जो हो पराभूत तुम विक्रम से वैरी के,
शीघ्र कहो, विश्व विजयकारी सैन्य दूँगी मैं;–
अश्व, गज, रथ, रथी अतुल जगत में।
जिनके प्रताप से सुरेन्द्र भी है काँपता,
जूझेंगे तुम्हारे लिए ऐसे वीर। आज्ञा दो
सूर्य्यलोक, चन्द्रलोक और इस लोक में
अथवा त्रिलोकी में छिपेंगे तब वैरी जो
तो भी बाँध लाकर तुम्हारे चरणों में वे
शूर डाल देंगे उन्हें! आप महाचण्डिका
(यदि तुम चाहो) इस तुच्छ दासी के लिए
(वे हैं कुलदेवी देव,) खप्पर ले हाथ में
दौड़ेंगी हुंकार कर नाचने को रण में
सुर-नर-दैत्य-भीति! अर्थ तुम चाहो तो
शीघ्र कहो, अलका का कोष खोल दूँगी मैं
तोष तुम्हें देने को; नहीं तो निज माया से
रत्नाकर शोष रत्न-राशि लूट ला दूँगी!
और दूँगी मणियों की खानें सब तुमको।
प्रेम उदासीन गुण-गेह, यदि तुम हो
शीघ्र कहो, किस रमणी की (अहा! धन्य है
कान्त-कुल-मध्य वह) शीघ्र कहो मुझसे
किस रमणी की नव यौवन-सुधा तुम्हें
इष्ट है? उसी का रूप रख के निमेष में
(कामरूपा हूँ मैं नाथ,) आऊँ पद-सेवा में!
लाऊँ पारिजात-फूल नित्य शय्या-हेतु मैं!
नृत्य-गान वाद्यरता संगिनी सहस्र हैं,
मेरी, ज्यों शची की अप्सराएँ सेविकाएँ हैं।
स्वर्ण का है सौध मेरा, मध्य-भाग उसका
मोती का बना है और सीढ़ियाँ हैं पन्ने की,

हीरों और लालों के विशाल खम्भे हैं बने,
रत्नों के कपाट हैं, गवाक्ष हाथी दाँत के;
उठती हैं नित्य वहाँ कल-रव-बीचियाँ,
मीठे स्वर वाले बहु पक्षी सदा गाते हैं
और महा मीठे स्वर वाली स्त्रियाँ गाती हैं
वीणा को बजाती हुई। सौ सौ वाटिकाओं से
पुष्प-वास लूटकर बहाता समीर है
उत्स खेलते हैं, जल कलकल-नाद से
बहता वहाँ है। किन्तु व्यर्थ यह वर्णना,
आओ गुण-गेह, तुम आके आप देख लो,
उन चरणों में दासी प्रार्थना है दासी की!
काय-मनःप्राण तुम्हें अर्पण करूँगी मैं;
भोगो राजभोग आके दासी के भवन में।
किंवा प्राणनाथ, कहो अमलिन मुख से
छोड़ यह वेष-भूषा बनके उदासिनी
पूजूँ उदासीन! मैं तुम्हारे पद-पद्म वे।
रत्न-कंचुकी को मैं उतार कर फेंक दूँ,
वल्कलों से वक्ष कसूँ, खोलकर वेणी में
बाँधूँ जटाजूट, रत्न फेंक वन-फूलों से
गूँथूँ कवरी मैं तथा चन्दन को पोंछ के
लेकर लगाऊँ भस्म-लेप इस तन में।
पहनूँ मैं अक्ष-माला चन्द्रहार तोड़ के;
फूँक तुम देना प्रेम-मंत्र मेरे कान में।
प्रेम-गुरु-चरणों में, दक्षिणा के रूप में,
दूँगी मैं यौवन-धन प्रेम कुतूहल से!
प्रेमाधीन प्रमदाएँ, प्रेम-लाभ-लोभ से,
डरती कभी हैं कुल, मान, धन, छोड़ते?
मंजुकेशि, लेख यह लिख के अकेले में
रखती हूँ आज इस वृक्ष तले हे सखे,
देखती हूँ नित्य यहाँ घूमते हुए तुम्हें।
देखो, वह श्रेष्ठ शमी छाई हुई बेलों से
सोहती है घूँघट-सा काढ़े हुए लाज से;
आड़ में उसी की खड़ी हो के लाज-भय से
देखा कितना है तुम्हें इस गतिहीना ने;

देखे यथा एक टक सूर्य्यमुखी सूर्य्य को।
और क्या कहूँ मैं हाय! नाथ, यहाँ जब लों
बैठे रहते थे तुम, मैं थी खड़ी रहती,—
प्रेमवाली बेड़ियों से जकड़ी-सी पैरों में
किंकरी तुम्हारी सदा। जाते जब तुम थे
बैठ सूने आसन पै रोती थी सदैव मैं।
पड़ते थे चरण तुम्हारे जहाँ, हाय रे!
धूल ले वहाँ की देव, माथे से लगाती थी
करती तपस्विनी है हव्य-भस्म टीका ज्यों!
किन्तु बकती हूँ वृथा, पढ़ना महामते!
और दया आवे यदि आना आज सन्ध्या को
गोदावरी सरिता के पूर्व वाले तट पै
विमुदा कुमुदिनी सी इस पद-दासी को
शशधर-तुल्य आके मोद देना हे सखे!
तीर पर नाव लिये ठहरेगी किंकरी
होंगे अनायास उस पार, उस पार है
कानन विजन देश, आओ हे सखे, वहाँ
जागते ही प्रेम-स्वप्न दोनों जनें देखेंगे!

आज्ञा अब पाऊँ प्रभो, तो मैं परिचय दूँ
थोड़े में, प्रसिद्ध राक्षसों की पुरी लंका है
स्वर्णमयी, राजा वहाँ रक्षःकुल-केसरी
रावण है, भगिनी उसी की यह दासी है।
यदि न सुना हो कहीं शूर्पणखा नाम है।
उसकी वयस क्या है, और विधि का दिया
कैसा उसका है रूप, आके आप देख लो!
मलयानिल रूप आओ, गन्धहीन पाओ जो
तुम इस फूल को तो लौट जाना हाल ही
आओ अलिरूप, यदि मधु न पिला सके
मेरा यह यौवन-प्रसून, लौट जाना तो
गूँज के विरक्ति से! मैं और क्या कहूँ भला?
मलयानिल और अलि आओ देव, दोनों ही
मालती के वृन्त रूप आसन पै, प्रेम से,
आओ शीघ्र, शूर्पणखा करती है प्रार्थना
पैरों में। पुनश्च,—यों निवेदन है और भी—

लिखके यहाँ तक सखी से सुना हर्ष से
कोशल-नरेन्द्र महाराज दशरथ हैं;
पुत्र हो मनोज-मदहारी तुम उनके।
अग्रज समेत सत्य रखने को तात का
धन्य, वन आये, वलि जाऊँ तुम पर मैं।
सिन्धु हो दया के तुम, ऐसा जो न होता तो
राज-सुख छोड़ते क्या भ्रातृ-प्रेम-वश हो?
सिन्धु हो दया के तुम, मुझ पै दया करो।
प्रेम की भिखारिन तुम्हारे पदों में हूँ मैं।
शीघ्र चलो, जायँ दोनों हेम-लंका धाम में;
योग्य पात्र जान तुम्हें आदर से, हर्ष से,
अर्पण करेगा राक्षसेन्द्र शुभ योग में
दासी को तुम्हारे पद-पद्मों में अयोध्या-से
शत शत राज्य प्राप्त करके दहेज में
राजा तुम होना, पद-सेविका बनूँगी मैं।
आओ शीघ्र प्राणेश्वर, और सब बातें मैं
बैठ के अकेले में कहूँगी पद-पद्मों में।
क्षमा करो अश्रु-चिह्न, पत्र पर प्रेम से
बहती है अश्रु धारा, दैव ने लिखा है क्या
इतना अपार सुख-भोग इस भाग्य में?
आकर हे नाथ, शीघ्र उत्तर दो दासी को।

षष्ठ सर्ग

(अर्जुन के प्रति द्रौपदी)

[जिस समय धर्मराज युधिष्ठिर जुए में अपना सर्वस्व हार कर वन में रहते थे, उस समय बदला लेने के विचार से अस्त्रविद्या सीखने के लिए अर्जुन इन्द्रलोक को गये। उनके विरह में व्याकुल होकर द्रौपदी देवी ने एक ऋषि-पुत्र के द्वारा उन्हें यह पत्र भेजा।]

हे सुरेन्द्रधामवासी, याद कभी आता है
अब यह पाप-भव? अथवा क्यों आवेगा?
कान्त, क्या अभाव तुम्हें वैजयन्त-धाम में?
देव-सुख-भोगी तुम, अमर-सभा में हो
इन्द्रासनासीन; सेवा करती हैं यत्न से
सुन्दरी सुरांगनाएँ—रम्भा रम्यरूपिणी;
प्रमदा धृताची, मिश्रकेशी मृदुकेशिनी,
उर्वशी, कलंकहीना चन्द्रकला स्वर्ग की
मंजु घोषा, मेनका, प्रभावती, स्वयंप्रभा,
सुतिला तिलोत्तमा, सुलोचना सुलोचना,
चारुचित्रा चित्रलेखा,—कोई गीत गाती है,
कोई नाचती है, दिव्य वीणा दिव्य ताल से
बजती है, खेलती है वेणी नाग-नारी-सी
पीठ पर—दिव्य पुष्प-रत्नों से गुँथी हुई।
केसर, कपूर, मृगगन्ध कोई लाती है;
कोई अधरामृत पिलाती है अकेले में—
डाल गल-बाँह गुण-गेह, तुम्हें बाँध के!
तुम रस-सागर हो और रस-नागरी

देवनारियाँ हैं, जहाँ सौ सौ फूल फूले हों
वंचित हो अलि किस सुख से सखे, वहाँ?
सुख से सदैव तुम नन्दन विपिन में
सुमति, विहार करो! सुनती हूँ मैं वहाँ
नित्य ऋतुराज वनराजियाँ सजाता है;
गाते हैं विहंग, कभी फूल नहीं सूखते;
सारे सरोरोध स्वर्ण-मणियों से हैं बने।
मन्द मन्द वायु वहाँ गन्धामोद देता है
नित्य सब ओर। किन्तु व्यर्थ यह वर्णना,
केवल सुना है जिसे दासी ने तुम उसे
देखते हो, स्वर्ग-सुख-भोग सशरीर ही!
और किसका है कृती, ऐसी भाग्य भव में?
नरकुल-धन्य तुम धन्य तब पुण्य है!
पढ़कर ये बातें क्या मन में विचारोगे
शूर शिरोरत्न, तुम? हाय! कहो मुझसे
आती तुम्हें याद है क्या दासी हतभागिनी?
यदि स्वगुणों से—गुण-गेह नाथ, तुम हो—
भूले नहीं उसको तो आशीर्वाद दो प्रभो!
होती है तुम्हारे चरणों में नत द्रौपदी,
हाथ जोड़ दासी चरणों में नत होती है।
हाय नाथ, व्यर्थ जन्म मेरा बधूकुल में!
विधि ने न जानें क्यों लिखा है दग्ध भाल में
ऐसा ताप? दण्ड दिया ऐसा किस पाप से
दासी को? कहेगा कौन, किससे मैं पूँछूँ हा!
रहती सरोजिनी है सूर्यरता सर्वदा;
फिर भी समीर सदा कहता है उससे
प्रेम की रहस्य कथा, लूटता है गन्ध भी!
पीता है अधर-मधु भृंग सदा गूँज के!
हाय लज्जा, जिसने सरोजिनी को है सृजा
दासी को सृजा है उसी निर्मम विधाता ने!
निन्दा करूँ किसकी अरिन्दम, बताओ, मैं?
किन्तु सुनो प्राणाधार, साक्षी कर धर्म को
कहती हूँ—नलिनी ज्यों रवि के वियोग से
रहती निशा में है विषाद-युक्त मलिनी,

विमुद तुम्हारे बिना हैं ये दग्ध प्राण त्यों!
सौ सौ अलि गूँजें चरणों में क्यों न साध से,
सौ सौ प्रार्थनाएँ करे वायु क्यों न कान में,
होती है परन्तु कभी पद्मिनी प्रफुल्लिता
स्वर्णोदय शैल पर देखे बिना सूर्य को?
हे किरीटी, अन्धकारदग्ध इन आँखों में
नाथ, अन्धकार है, तुम्हारे बिना, विश्व भी—
शून्य-शून्य, शब्द-शून्य मानों महारण्य है!
और क्या कहूँ मैं देव, उन पद-पद्मों में?
द्रौपदी के इष्टकाम,—द्रौपदी के पति हैं—
धनंजय, यही जानती हूँ, मानती हूँ मैं।
जैसा रुचे करे धर्म,—पाप करती हूँ जो
तुम्हें प्रेम करके तो—जैसा रुचे हे सखे,
ऐसा सुख भोग कौन डरता है दुःख से?
ज्ञात है यशस्वि, तुम्हें, जन्मी यज्ञवह्नि से
दासी याज्ञसेनी। नव यौवन में हाय रे!
विह्वल, विवश हो तुम्हारे रूप-गुण से
मन में वरा था तुम्हें; सखियों को साथ ले
खेले थे कितने खेल मैंने, कहूँ कैसे मैं?
सीता का चरित्र सुन लोगों से, शिव के
मन्दिर में जाके और देके कुसुमांजली,
पूज शिव-चाप यह कहती थी साध से—
स्वप्न दो पिता को ऋषि-वेश रख शीघ्र ही
(कामरूप तुम हो, मैं जानती हूँ) देने को—
किंकरी को उन पुरुषोत्तम के हाथ में,
तोड़ेंगे तुम्हें जो चाप, आप भुजबल से,—
पाऊँगी तभी मैं उन्हें, नाथ हैं महाबली।
सुन दमयन्ती का चरित्र, धर जाल में
राजहंस; उसको चुगा के—पहना के मैं
सोने के नूपुर, यह कहती थी कान में—
'यमुना-किनारे है प्रसिद्ध पुरी लोक में
हस्तिना, हे राजहंस, जाओ वहाँ उड़के;
देखोगे नरोत्तम को, कहना पदों में यों—
मरती तुम्हारे बिना द्रुपद-पुरी में है

द्रौपदी!' यों कहके मैं छोड़ उसे देती थी।
मेघ देख नभ में, प्रणाम कर कहती—
'मेघकुलराज, तुम वाहन हो जिनके
मैं हूँ स्नुषा उनकी वहन कर मुझको
नाथ के पदों में पहुँचा दो वारिधारा ज्यों!
तुष्ट करते हो तुम चातकी को, दाता हो,
हाय! वह चातकी तुम्हारे बिना दीन ज्यों,
दीन हूँ मिला दो मुझे मेरे उस मेघ से!'
और क्या कहूँ मैं नाथ, इतने में सहसा
सुना, हाय! माता के समेत जतुगृह में,
पंच पाण्डुरथियों ने दग्ध हो अकाल में
देह छोड़ी, कितनी मैं रोई, कहूँ किससे?
रोई यथा यौवना में विधवा मैं हो गयी!
रति से मनाने लगी—'रुद्र रोषानल में
हे सती, तुम्हारे पति दग्ध जब थे हुए
कैसा दुख तुमको हुआ था, उसे सोच के
रक्षा करो मेरे काम की, है यही प्रार्थना?'
बाद में स्वयम्वर। दिखाई दिया मुझको
चारों ओर घोर तम, राजसभा मध्य मैं
आयी जब—प्रार्थना की फटने को भूमि से।
लक्ष्य के तले हो खड़ी मैंने कहा उससे—
'गिर पड़ो लक्ष्य, तुम मेरे दग्ध भाल पै,
वज्र-सम, दग्ध होऊँ दाह से तुम्हारे मैं;
प्राणपति मेरे जले जैसे जतुगृह में।
जीना नहीं चाहती, जिऊँ मैं किस साध से?'
शोर यों सभा में हुआ—सारे क्षत्र-वीरों में
भेद सका कोई भी अलक्ष्य लक्ष्य को नहीं।
जानते हो तुम गुण-गेह, फिर क्या हुआ!
तुमने किया जो उसे कौन नहीं जानता
लोक में? रथीन्द्र, वज्र-नाद से विशिख ने
विद्ध किया मात्स्य-नेत्र अम्बर में, सहसा
मग्न हुए मेरे प्राण मानों सुधा-सिन्धु में।
स्वप्न में सा मैंने सुना—'तेरे पति हैं यही
याज्ञसेनि, पुष्प-माला डालकर कण्ठ में

वर नटवर को तू।' वरने को मैं चली
किन्तु हतभागिनी को रोक दिया तुमने
हाय! भाग्य दोष वश, जलती नहीं तो क्यों
नाथ, यह दासी इस तीक्ष्णतर ताप से?
किन्तु है विलाप वृथा, घोर नाद करके
लक्ष रथियों ने जब घेर लिया तुमको,
अम्बुराशि जैसी जब कम्बु-राशि गरजी,
साहस दिया था तब तुमने क्या कहके,
दासी को वहाँ, क्या याद तुमको है? अन्त में
जप के उसी को महामन्त्र ज्यों मरूँगी मैं।
तुमने कहा था देव, सम्बोधन दे मुझे—
"आशा-तुल्य मेरे पास सुन्दरि, खड़ी रहो,
चन्द्रमुख देख के बढ़ेगा बल दुगुना।
जब तक चन्द्रमुखि, जीवित फणीन्द्र है
हर सकता है कौन शीर्षमणि? सुभ्रु मैं
पार्थ हूँ!" क्षमा करो, हा! देव, दृग-जल से
भीगने लगी है लिपि, क्यों न हाय! क्यों न मैं
पैरों में, वहीं पर, उसी दिन मरी न क्यों?
क्या मैं लिखती हूँ हाय? दीख नहीं पड़ता
अन्धी है तुम्हारी यह दासी अश्रु वेग से!
कल इतना ही लिख फेंकी दूर लेखनी
मैंने, प्राण रोने लगे पूर्व-कथा सोच के
वृक्ष तले बैठ नाथ, आँसुओं से भीगी मैं?
किसने ये नेत्र पोंछे? हाय! कौन पोंछेगा?
इस भव-मण्डल में कौन है अभागी का?
इच्छा यही होती है कि डूब मरूँ जल में,
किंवा विष पान करूँ; किन्तु जब सोचती
हूँ मैं प्राणनाथ, हाय! मरने से फिर मैं
देख न सकूँगी वे पदाब्ज, तब मन को
देती हूँ प्रबोध, भूल लज्जा-अपमान को
जीना चाहती हूँ, स्वर्ण तपकर आग में
गलता सुहाग से है, पावे यदि उसको।
किन्तु कहो देव, कब आके इस वन में
दर्शन दयालु, तुम दोगे इस दासी को?

स्वर्ग की सुनाओ कथा, तुम कविराज हो,
गूँथ मधुवाक्यगाथा भेजो इस दासी को।
इच्छा है बड़ी ही सखे, पारिजात-पुष्पों को
अलकों में गूँथने की, यदि तुम लाओगे
द्विगुण समादर से पहिनूँगी उनको।
सुनती हूँ, कामदा सुरेन्द्रपुरी है सदा
जो दया हो दासी पर तुमको हृदय में,
और यदि भूल सको देव-बाला-दल को,
कामना करो तो कृपा युक्त कामधेनु से
पाओ अभागी को वहाँ चरणों में जिससे
क्षण भर; देव, तुम्हें देख जी जुड़ाऊँगी,
भूलूँगी वियोग यह देख वह माधुरी।
देख-बाला-वल्लभ हो, नारियों के नाथ हो
तुम, न करो इसी से दासी से घृणा, यही
उन चरणों में प्रार्थना है इस दासी की।
गहने पहनते हैं सोने के गले में जो
कानों में, हाथों में और सिर में सदा
देव, क्या वे चाँदी नहीं पैरों में पहनते?
हम सब कैसे इस विकट विपिन में
काटते हैं दिन, सो कहूँगी अब मैं, सुनो,
धर्म्म-कर्म्म-मग्न सदा धर्म्मराज ऋषि हैं
रखते प्रसन्न उन्हें धौम्य पुरोहित हैं
कर बहु शास्त्रालाप, मृगया निरत हैं
मध्यम सहोदर तुम्हारे, भक्ति-भाव से
दोनों ही अनुज दोनों अग्रजों की सेवा में
रत रहते हैं, यथाशक्ति यह किंकरी
करती है दीर्घबाहो, काम सब घर का।
रहते तुम्हारे बिना किन्तु सब हैं दुखी।
आँसुओं से भीगते हैं याद करके तुम्हें
भूपति तुम्हारे और भाई सब सर्वदा।
व्याकुल ये दग्ध प्राण रहते हैं नित्य ही;
पाती अवकाश हूँ तो लेके स्मृति-दूती को,
छोड़ के कुटीर, घूम घूम के अकेले में,
सुनती हूँ उससे मैं बातें सब पूर्व की!

तुम हो भरोसा महेष्वास, पाण्डुकुल का!
विमुख करोगे तुम्हीं सम्मुख समर में
शत्रुओं को, प्राणसखे, भीष्म, द्रोण, कर्ण को
और सब कौरवों को रण में सुलाओगे!
राजासन दोगे तुम्हीं पाण्डुकुलराज को,
आशा यही गीत इस आश्रम में गाती है!
सोते जागते में सुनती हूँ यही गीत मैं।
अस्त्र-शिक्षा कौन तुम्हें देगा देवलोक में?
अस्त्रिकुलगुरु हो जो। देव, इन्हीं देवों को
करके प्रचारित प्रचण्ड निज चाप से
खाण्डव जलाया था तुम्हीं ने, आप जीते थे
लक्ष नृप हे रथीन्द्र, लक्ष्य भेद करके;
तुष्ट था किया किरात-रूपी महादेव को
युद्ध में तुम्हीं ने, भला फिर यह मिस क्यों?
लौट नररत्न, आओ, कौन परदेश में?
रहता है युवती प्रिया को घर छोड़ के?
किन्तु सुरनारियों ने जो तुम्हें भुलाया है
तो तुम न भूलो नाथ, भाइयों को, सब वे
दुःखी रहते हैं सदा याद करके तुम्हें।
अधिक कहूँ क्या और जो दया हो, आके तो
देखो, हैं तुम्हारे बिना कैसी गति में पड़े
वासी इस देश के हैं, कैसी गति में पड़े?
पाई भाग्य से है इस निर्जन विपिन में
पुण्यवती ऋषि-पत्नी, पूर्व पुण्य-बल से
कामचारी पुत्र उनका है, वेद-पाठ में
निरत सदैव, वही माँ के अनुरोध से
होकर दयालु मेरा पत्र सुरपुर में
लावेगा, करना तुम पूजा वहाँ उसकी।
उत्तर तुम्हारा वही मेरे पास लावेगा।
क्या कहा नरेन्द्र, मैंने, उत्तर का काम क्या?
पत्रवाह संग तुम्हीं आओ यहाँ लौट के।

सप्तम सर्ग

(दुर्योधन के प्रति भानुमती)

[राजा भगदत्त क़ी पुत्री भानुमती दुर्योधन की पत्नी थी। कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन जब पाण्डवों के प्रतिकूल कुरुक्षेत्र के युद्ध में गया तो उसके कुछ ही दिन बाद राजमहिषी भानुमती ने उसको यह पत्र लिखा था।]

दासी है अधीरा सदा नाथ, तुम जब से
यात्रा कर घोर कुरुक्षेत्र रण में गये,
निद्रा नहीं आती, मिटी भोजन की रुचि है,
दीखते नहीं हैं खाद्य-द्रव्य इन आँखों से;
जाती हूँ कभी मैं देव, देवालय में, कभी—
राजवाटिका में कभी छत पर चढ़ के
देखती हूँ युद्धस्थल, रेणु-राशि नभ में
छाई है घटा सी, शर-राशि है चमकती
बिजली की भाँति झुलसाती हुई आँखों को!
सुनती हूँ दूर सिंहनाद, शंख-शब्द भी;
थर थर काँपती है छाती महा भय से;
देखा नहीं जाता, लौट आती हूँ तुरन्त ही।
नीरव खड़ी हो देव, आड़ में मैं खम्भे की
युद्ध-कथा सुनती हूँ संजय के मुख से,
अन्ध नृप सम्मुख सभा में जो सुनाता है;
जानती नहीं क्या सुनती हूँ, पगली हूँ मैं।
लज्ज़ा को जलांजलि दे शोचवश मैं कभी
सास के पदों में पड़ रोती हूँ विषाद से,
और भिगोती हूँ उन्हें; नेत्र-नीर-धारा से,

बोला नहीं जाता .बस रोती मात्र हूँ प्रभो!
समझा न पाके मुझे महिषी भी रोती हैं;
सारी कुरुनारियाँ हैं रोती, और रोते हैं—
अंचल पकड़, माँ का ऊँचे स्वर से अहो!
कुरुकुलवत्स—आँसुओं से सब भीगते
हैं, हा! नहीं जानती, क्यों रहती सदैव है
राज-अवरोध की दशा यों दुःखदायिनी?
कु-क्षण में मातुल तुम्हारा हा! क्षमा करो
दुःखिनी को—कु-क्षण में मातुल तुम्हारा हा!
क्षत्रकुल का कलंक हस्तिना में आया था
कु-क्षण में नाथ, अक्षविद्या उस पापी से
सीखी थी तुमने, इस सु-विपुल कुल को
नष्ट किया दुष्ट ने हा! काल कलि रूप से
होकर प्रविष्ट इस सु-विपुल कुल में!
धर्म्मराज जैसा धर्म्मशील कर्म्मक्षेत्र में
और कौन है हे नाथ, बतलाओ, मैं सुनूँ।
भीम को निहारो भीम विक्रमी अजेय है।
देव-नर-पूज्य पार्थ, सफल प्रहारी है।
क्या ही गुणशील नाथ, सुमति नकुल है
शिष्ट सहदेव सह। जानते हो क्या नहीं?
याज्ञसेनी द्रौपदी है लक्ष्मी धरा-धाम में।
स्वामी, किसके लिए है छोड़ा इन सब को?
गंगाजल-पूर्ण घट ठेल कर पैरों से
मग्न होते हो क्यों तुम नाथ, कर्म्मनाशा में?
विप्र की अवज्ञा और भक्ति क्यों श्वपच की?
फलों के तुषार-कण मोती नहीं होते हैं
देव, किस छल में पड़े हो, नहीं ज़ानती।
अब भी क्षमा करो, मैं भिक्षा यही माँगती
क्षत्रमणे, सोचो, जब चित्रसेन तुमको
कुरुबधुओं के साथ बाँधकर रथ से
ले चला था, अम्बर में, आके तब किसने
बन्धु ज्यों तुम्हारे कुलमान प्राण रक्खे थे?
कुरुकुलराज, देख संकट में वैरी को
फूले नहीं लोग समाते हैं, तुम जिनके

नित्य महा वैरी रहे वे ही नेत्र-नीर से
भीगे थे विलोक तुम्हें संकट में नाथ, हा!
प्राण लेना चाहते हो बाण मार उनके
रक्खे थे जिन्होंने प्राण—प्राणाधिक मान भी!
जब असहाय तुम हाय! मृगराज ज्यों
जाल में फँसे थे नाथ, कौशल से शत्रु के।
हे दया, क्यों मातः इस पाप-पूर्ण जग में
मानवों के मन में निवास करती है तू?

गर्वी कर्ण को क्यों तुम कर्ण से लगाते हो?
हे नरेन्द्र जिसने सुरों को भी समर में
जीत लिया एकाकी, तुम्हारे रहते हुए,
कुरु-दल दलित किया था मत्स्य देश में,
रोक लेगा कर्ण उसी पार्थ को क्या रण में?
व्यर्थ यह आशा नाथ, सोचो, कभी स्यार भी
कर सकता है क्या पराजित मृगेन्द्र को?
सूतपुत्र मित्र हो तुम्हारा नर-रत्न, हा!
चन्द्रकुलकेतु तुम,—क्षत्र कुलराज हो।

जानती हूँ, भीमबाहु भीष्मपितामह हैं;
देव-नर-पूज्य रथी द्रोणाचार्य्य गुरु हैं।
स्नेह-नदी गिरती है किन्तु इन दोनों की
पाण्डव-पयोधि में, हे नाथ, कहती हूँ मैं
ऐसा न भी हो तथापि कैसे नाथ, हाय! मैं
समझाऊँ दग्ध इस अपने हृदय को?
जीता था अकेले इन तीनों को किरीटी ने
तुमने किया था जब गोहरण; हा विधे!
दावानल रूपरचा अर्जुन को तूने क्या
आशा-वन दासी का जलाने को अकाल में?

सुनो नाथ, नींद यदि आती है कभी मुझे
श्वेत अश्व और कपि-केतु वाला रथ में
देखती हूँ, कालरूप पार्थ बैठा जिसमें
वज्र-सम चाप लिये बाएँ हाथ में तथा
मर्म्मभेदी देव-अस्त्र दाएँ हाथ में लिये।
छाती काँपती है देवदत्त-ध्वनि सुन के!
गर्जता है मारुति ध्वजा पै काल मेघ-सा!

घर्घर गभीर घोष चक्र कर रथ के
मानों काल-वह्नि हैं उगलते, किरीटी की
शोभा अहा! चन्द्रचूड़-भाल पर चन्द्र ज्यों।
करके विभासित दिशाएँ दसों तेज से
स्यन्दन सवेग कुरु-सैन्य ओर दौड़ता—
भागती सभीति कुरु-सेना सब ओर है
सूरज को देख तमोराशि यथा अथवा
निकट निहार कर वज्रनख श्येन को
भीत खग भागते हैं, जाग कर रोती हूँ।
भीम की कथा क्या कहूँ, मदकल नाग-सा
दुष्ट वध करने में उद्धत है दीखता,
लाल लाल लोचन कराल जवा फूल-से,
'मार-मार' शब्द मुँह में है, गदा हाथ में,
हाय! मानों दण्डधर काल दण्ड है लिये।
लोगों से सुना है, इस दुर्द्धर को गर्भ में
कुन्ती सास ने है धरा देव-समागम से।
यदि यह सत्य है तो देव पिता यम ही
होगा, सर्वनाशी जो, पिलाया दूध दुष्ट को
जान पड़ता है किसी बाघिन ने, नारी का
दूध पाल सकता क्या ऐसे नरयम को?
बढ़ने लगा है पत्र, फिर भी कहूँगी मैं
कैसा बुरा स्वप्न देखा मैंने गत रात्रि में।
प्राणनाथ, सोच देखो, विज्ञतम तुम हो,
ये सदैव दग्ध प्राण जान नहीं सकते
नाथ इस माया को, अकेली कल रात को
बैठ के तुम्हारे शयनालय में, अब जो
शून्य-निरानन्द है तुम्हारे बिना, रोई मैं,
देव, सब ओर गन्ध फैल गया सहसा!
पूर्ण चन्द्रिका से भी विशेष विभा छा गयी।
करके प्रदीप्त-सी दिशाएँ दसों शीघ्र ही
दासी के समक्ष देवबाला आ खड़ी हुई।
तुलना नहीं है कहीं जिसकी जगत में।
चौंक चरणों में नत भय से मैं हो गयी,
आँसू पोंछ बोली तब कान्तिमयी कातरा—

"व्यर्थ कुरुवंशवधू, खेद करती है तू।
रोक सकता है कौन विधि के विधान को
हाय! इस जगती में? देख, वह रण तू।"
देखा भययुक्त मैंने—जाती जहाँ तक है
दृष्टि, रणभूमि महा भीषण है सामने।
बहती है रक्तधारा सरिता के रूप में।
कुंजर पड़े हैं वज्र-भग्न गिरि-शृंग से।
अश्व गतिहीन और टूटे हुए रथ हैं।
सौ सौ शव, कैसे कहूँ, कितना क्या देखा है
प्राणनाथ, मैंने उसे अन्तक श्मशान में
देखा है रथीन्द्र एक तीक्ष्ण-शर-शय्या पै
और एक महारथी पृथ्वी पर है पड़ा,
कण्ठ में है रज्जुहीन चाप, खड़ा सामने
शत्रु शिर काटने को खंग लिए देखा है
एक अन्य वीर, भूमिसेज पर स्वप्न में।
मेदिनी में मग्न रथ-चक्र धरे रोष से
देखा, बली वक्ष पर वर्म नहीं जिसके;
निष्प्रभ हैं भानु देव नभ में ज्यों शोक से!
पास ही दिखाई दिया एक ह्रद जिसके
तीर पर एक महाराज रथी जीता है
भग्न उरु वाला, बड़े कष्ट से घसिटता!
चिल्ला कर रोती हुई जाग उठी तब मैं
दीख पड़ा देव, बुरा स्वप्न यह क्यों मुझे?
आओ तुम प्राणनाथ छोड़कर रण को
पाँच गाँव मात्र पाँच पाण्डव हैं माँगते;
तुमको अभाव क्या है? तुष्ट करो उनको,
तुष्ट करो अन्ध पिता माता को, अभागी को!
रक्खो कुरुवंश कुरुवंश-अवतंस हे!

अष्टम सर्ग

(जयद्रथ के प्रति दुःशला)

[अन्धराज धृतराष्ट्र की पुत्री दुःशला देवी सिन्धु देश के राजा जयद्रथ की रानी थी। अभिमन्यु के मरने पर अर्जुन ने जो प्रतिज्ञा की थी उसे सुनकर अत्यन्त भय से व्याकुल होकर दुःशला ने जयद्रथ को यह पत्र लिखा था।]

क्या लिखा है दग्ध इस भाल में विधाता ने,
मुझसे कहेगा कौन? मैं हूँ ज्ञानशून्य हा!
सुनो नाथ, ध्यान से; मैं आज अपराह्न में
अन्ध पितृ-चरणों में संजय के मुख से
युद्ध-कथा सुनने को बैठी थी सुमति ने
(जानती नहीं हूँ कुछ पूर्व कथा, क्योंकि मैं माँ
को समझाने को गयी थी अवरोध में)
संजय सुमति ने कहा यों—"फिर घेरा है
सप्त महारथियों ने आर्जुनि अकेले को!
देव, क्या ही विस्मय है देखो, बाण-वह्नि से
जलने दिशाएँ लगीं! योद्धा प्राणपण से
जूझता है, हेला से निवारता है अस्त्रों को!
धन्य शूर-सह अभिमन्यु शूर-कुल में।"
यह कह मौन हुआ संजय, सभा में थे
मौन सब सभ्य, मुँह देखते थे उसका।
"कुरुकुलनाथ, देखो", बोला फिर आप ही
दूरदर्शी—"सप्त रथी फिर रण छोड़ के
भागे हैं, सुभद्रा-सुत गर्जता है गर्व से,
वन में दावाग्नि यथा! गिरते हैं युद्ध में

अगणित सैनिक, पदातिक तथा रथी,
मार के चिंघाड़ गज मरते हैं बाणों से,
भीत हय हींसते हैं देखो, हाय! रोते हैं
तनय तुम्हारे चरणों में गुरु द्रोण के।''
शोक कर रोये पिता, अश्रु पोंछे मैंने रो।
बोला फिर दूरदर्शी—''फिर हैं झपटते
सप्तरथी, कान फटते हैं चाप-शब्दों से।
होने लगा घोर रण देव, घन घोष से।
कोई रथी काटता है चाप, कोई केतु ही,
कोई रथ-चक्र हाय! काट के गिरा दिया
द्रोणाचार्य्य ने है वर्म्म घोर शराघात से।
अश्व मरे, सूत मरा, रिक्तपाणि अब है
वीर अभिमन्यु, तो भी जूझता है सब से,
मदकल नाग मानों मत्त रणमद से!''
क्षण भर मौन रह बोला फिर खेद से
दूरदर्शी—''हाय! चिर राहु ग्रस्त हो गया
यह पुरु-वंश-विधु सहसा अकाल में!
पाप-रण-मध्य प्रभो, गतजीव है—
आर्जुनि—तुम्हारा पौत्र! गर्जते हैं वे सुनो,
जेता बने सप्तरथी, जय जयकार का
शोर करते हैं सब कौरव प्रसन्न हो!
शोकमग्न धर्मराज जाते हैं शिविर को।''
सुन यह बात पिता हर्ष से विषाद से,
रोये तथा रोई मैं, अचानक इसी घड़ी
आसन को छोड़ बुध संजय समय हो,
हाथ जोड़ बोला—''महाराज उठो शीघ्र ही,
पूजो निज जामाता-हितार्थ कुल देवता!
देखो, निज रथ में अधीर सुत-शोक से
दौड़ता है पार्थ वह! स्वर्ण-चूड़ा पै
गर्जता है मारुति, गभीर नाद कर के!
गिरते हैं खेचर धरा पर अचेत हो;
भागते हैं भूचर, सु-दिव्य वर्म्म उसका,
झल झल होता है, किरीट पर चंचला
खेलती है, डगमग डोलती है धरती!

भय-वश कौरवों के पीले मुँह हो गये;
पीला मुँह हो गया है आप धर्म्मराज का
देख के कपिध्वज का कोप इस काल में!
वार वार भीमभुज टंकारित करता
विश्वभयकारी निज विश्रुत धनुष को!
देव, सुनो, कहता है वीर वर गर्ज के
रोष से—'जयद्रथ कहाँ है अब, जिसने
रोका व्यूह का था द्वार? कहता हूँ मैं, सुनो,
सारे क्षात्रवीर, सुनो तुम हे पयोनिधे!
स्वर्ग सुनो, मर्त्य सुनो, और रसातल भी,
चन्द्र, सूर्य्य, तारा, ग्रह, जीव इस जग के
जितने भी हों, सुनो, मैं मारूँ कल जो नहीं
युद्ध में जयद्रथ को तो मरूँगा आप ही,
अग्नि में प्रवेश कर यमपुर जाऊँगा,
धारूँगा न अस्त्र फिर इस भव धाम में।'
रोकर अचेत गिरी पैरों में पिता के मैं।
लाईं यहाँ अन्तःपुर मध्य मुझे दासियाँ
तात के निदेश से।

हे नाथ, इस दासी से
सत्य कहो, जिष्णु के समीप किस दोष से
दोषी तुम हो? कहो, क्या पूर्व वैर सोच के
दण्ड देना चाहते हैं पार्थ फिर तुमको?
रोका कहाँ, कौन व्यूह-द्वार कहो तुमने?
शीघ्र कहो, अन्यथा मरूँगी देव, भय से।
छाती काँपती है हाय! दीखता अँधेरा है
वार वार आँसू बहते हैं इन आँखों से!
बोला नहीं जाता नाथ, सूख गया मुख है!
बचता है कौन काल-अजगर-ग्रास से?
भूखा सिंह सिंहनाद कर वनचर को
जब धरता है, उसे कौन बचा पाता है?
कौन बचावेगा कहो, पार्थ-कोप से तुम्हें?
दैव, किस कुक्षण में और किस पाप से
लाया इस काल-रण में तू यहाँ नाथ को?
मैंने सुना है कि जब ज्येष्ठ भ्राता जन्मा था

अति ही अमंगल हुए थे तब, रोये थे
श्वान और स्यार महा कातर हो बोले थे
शकुनि समेत गीध गरजे थे नभ में।
कहा था पिता से बुध तात श्री विदुर ने—
'त्यागो कुरुराज, तुम इस खल पुत्र को,
कुरुकुलकाल रूप जन्मा यह घर में।'
पर न पिता ने सुनी बात वह उनकी;
भूल गये पुत्र-मोह-छलना में हाय! वे!
वह फल आज फला, निश्चय फला, फला!
देखो, शर-शय्यागत भीष्म पितामह हैं!
कौरवाब्ज-भानु चिरराहु-ग्रस्त हो रहे!
पौरुष प्ररोह अभिमन्यु हत को चुका!
जीता इस काल-रण में से कौन लौटेगा?
आओ, तुम आओ नाथ, छोड़ इस रण को,
फेंक कर तूण, चाप, चर्म्म, असि, वर्म्म को,
छोड़ रथ पैदल ही आओ, मिलो मुझसे।
जायँगे निशा में हम दोनों गुप्त भाव से,
सिन्धुनद-तीर बनी सुन्दरी पुरी जहाँ,
निज प्रतिबिम्ब देखती है स्वच्छ जल में,
हँस मुख देखे यथा दर्पण में सुमुखी!
युद्ध से क्या काम तुम्हें? दोषी किस दोष से
पंच पाण्डुवीर हैं तुम्हारे? चाहते हैं क्या
वे तुम्हारा राज्य-भाग? यदि कुरुराज से
प्रेम मेरे कारण तुम्हें है प्राणनाथ, तो
तुल्य प्रेम-पात्र कुन्ती-पुत्र भी तुम्हारे हैं;
कौरव ज्यों पाण्डव त्यों मेरे सभी भाई हैं;
एक के लिए क्यों, फिर वैर कहो अन्य से?
उभय कुटुम्बी हैं तुम्हारे और क्या कहूँ!
यदि गुण-दोष का ही ध्यान है नरेन्द्र, तो
कुत्सित जुए का जाल किसने बिछाया था?
लाया था सभा में कौन (हाय! कैसी लज्जा है)
खींच के रजस्का निज भ्रातृ-बधू को कहो?
किसने दिखाई निज जाँघ उसे थी वहाँ?
नग्न किया चाहता था कौन वस्त्र खींच के

हा! उस कुलांगना को? भाइयों की कीर्तियाँ
जानते नहीं क्या तुम? लेखनी लजाती है!
आओ शीघ्र प्राणसखे, छोड़ रणभूमि को;
निन्दा करें वीर जो तुम्हारी तो किया करें।
हँसना उपेक्षा कर तुम घर बैठके।
कौन नहीं जानता है तुमको जगत में?—
रथि-कुल सिन्धुराज हैं महारथी।
कितनी लड़ाइयाँ लड़ी हैं, शत्रु मारे हैं
तुमने; परन्तु यह पार्थ है, भुवन में
कौन है प्रहारी और इसके समान हा!
क्षत्रकुल शूर तुम फिर भी मनुष्य हो,
लज्जा क्या तुम्हें जो तुम छोड़ो इस युद्ध को?
अर्जुन को देखकर, अमरजयी है जो,
क्या कर सका था शक्र खाण्डव जलाने में?
क्या कर सा था चित्रसेन भी समर में?
क्या कर सके थे लक्ष राजा स्वयम्वर में?
क्या कर सकी थी प्रभो, उत्तर गो-गृह में
सोचो, कुरु-सेना सब पार्थ के प्रताप से?
कूदोगे कहो क्यों इस कालानल-कुण्ड में?
डूबोगे अहो! क्यों इस अतल समुद्र में?
भूले हो मुझको यदि भूलो मत पुत्र को,
सिन्धुपते, भूलो मत हाय! मणिभद्र को!
नैश-हिम पालता है रस से मुकुल को
जैसे नाथ, वैसे हाय! शैशव में शिशु का
जीवन है उसके पिता का स्नेह मात्र ही!
जानती हूँ मैं, तुम्हारे कान में कुहुकिनी
आशा कहती है—अब द्रोण सेनापति हैं।
धन्वी कर्ण, धीर अश्वत्थामा, कृपाचार्य हैं,
देखो इन्हें; दुर्योधन घोर गदाधारी है।
डरते किसे हो तुम सिन्धुपते! पार्थ को?
क्या है वह? शक्ति क्या जो मार सके तुमको?
न सुनो हे नाथ वह मोह-वाणी न सुनो,
आशा है मरीचिका हा! भव-मरुभूमि में।
आँखें मूँद सोचो, चरणों में पड़ी दासी है,

मौन मणिभद्र चरणों में पड़ा रोता है!
रख कर छद्म-वेश राजद्वार पर मैं
रात में खड़ी रहूँगी, होगी साथ में सखी;
गोद में सुलाये मणिभद्र को निपुणिका।
न कह किसी से कुछ आओ, छद्मवेश से
शीघ्र यह पापपुर छोड़ चले जायँगे।
सिन्धुराज मन्दिर में, पारावत-द्वन्द्व ज्यों
शीघ्र उड़ जावेंगे यहाँ से निज नीड़ को;
होता रहे हो जो कुरु-पाण्डु-कुल-भाग्य में।

नवम सर्ग

(शान्तनु के प्रति जाह्नवी)

[जाह्नवी के विरह से अत्यन्त आतुर होकर महाराज शान्तनु अपना राज-पाट छोड़ उदासीन भाव से बहुत दिन तक गंगा के किनारे रहते थे। अष्टवसु के अवतार देवव्रत को, जो महाभारत में भीष्म पितामह के नाम से प्रसिद्ध हैं, वयः प्राप्त होने पर जाह्नवी देवी ने निम्नलिखित पत्र के साथ राजा के समीप भेजा था।]

नृप, तुम व्यर्थ मेरे तीर पै हो घूमते,
व्यर्थ अश्रु-नीर मेरे नीर में मिलाते हो!
भूलो भूत पूर्वकथा, भूलते हैं लोग ज्यों
स्वप्न जागने के बाद! कहती हूँ तुमसे,
ओषधि यही है इस चिर विरहाग्नि की।
शम्भु शिरोवासिनी हूँ, शम्भु की प्रिया हूँ मैं
जाह्नवी। तो फिर क्यों तुम्हारे यहाँ मैं रही
नारी हो इतने दिन, सो सुनो, बताती हूँ—
एक वार रुष्ट हो वशिष्ठ ऋषि श्रेष्ठ ने
वसुओं को शाप दिया मर्त्यजन्म पाने का
निष्कृति हितार्थ तब प्रार्थी हुए मुझसे
पैरों में पड़कर विशेष रोये-गाये वे।
मैंने वरदान दिया—होकर मैं मानवी
धारण करूँगी तुम्हें आप निज गर्भ में।
नरवर जान तुम्हें कौरव, इसीलिए
वरण किया था और औरस तुम्हारे से
आठ गर्भ रक्खे अष्टवसु नररत्न वे,
मानों आठ पद्म फूले एक ही मृणाल में!

सात जन देह छोड़ स्वर्ग को चले गये;
आठवें को आज तुम्हें देती हूँ सहर्ष मैं।
देव नर रूपी रत्न रक्खो घर यत्न से;
गंगा-सुत देवव्रत धीर वीर साहसी
उज्ज्वल करेगा कुछ चन्द्रकुल राज का!
भारत का भाल-रत्न होगा यह देखना,
आदि पिता चन्द्रचूड़ चूड़ा पर चन्द्र ज्यों।
पाला है तुम्हारे लिए पुत्र-रत्न प्रेम से
मैंने। मुख चन्द्र देख भूलो विरह-व्यथा।
सच कहती हूँ, नहीं ऐसा गुणी विश्व में।
शैलों में हिमालय, नदों में सिन्धु नद ज्यों,
विपिनों में खाण्डव है, रथियों में होगा त्यों
देवव्रत शिष्यवर विश्रुत वशिष्ठ का।
आप गिरा देवी देव, जिह्वा पर बैठी हैं,
चित्त है दया का सद्म, पद्म यथा पद्मा का।
यम-सम बाहुबली, गहन विपिन में
सर्वभुक पावक ज्यों दुर्द्धर समर में;
यह तब पुण्य-वृक्ष-फल है महीपते!
स्नेह-सर-पद्म, पूर्ण चन्द्र आशाकाश का
बहुत कहूँ क्या, यही इसके समान है।
पाती रही प्रीति मैं तुम्हारे यहाँ पूर्णतः,
बाँधा मुझे तुमने कृतज्ञता के पाश में;
अस्तु अभिज्ञान रूप रत्न यह देती हूँ
शान्तमते!
पत्नी मत मानों अब मुझको!
महिमा असीम है तुम्हारी कुलमान से,
नरकुलराज तुम विश्व में विदित हो
तरुण अभी हो, लौट जाओ राजधानी को।
व्याकुल तुम्हारे बिना होगी हस्तिनापुरी।
लौट जाओ भूपवर, ब्याह लाओ घर में
सुन्दरी नृपेन्द्र सुता, राज्य करो सुख से,
पालो प्रजा, मारो शत्रु, पापियों को दण्ड दो,
राजनीति जानो यही—सज्जनों का सर्वदा
आदर बढ़ाओ,—धर्म कर्म्म कर यत्न से।

देना यौवराज्य यथायोग्य इस पुत्र को,
होगा हे यशस्वि, यह तुम-सा महायशा,
जलता है दीप से ज्यों दीप तुल्य-तेजसी।
अधिक कहूँ क्या अब? पूर्वकथा भूल के;
स्वच्छ कर काम-गत चित्त भक्ति-रस से
भूपति, प्रणाम करो, शैलराज नन्दिनी
रुद्ररानी गंगा शुभाशीष तुम्हें देती है—
जब लौं प्रवाह मेरा बहता है लोक में
घोषणा करेगा सो तुम्हारे यशोगुण की,
सबसे कहेगा नित्य—शान्तनु सु-धन्य हैं
देवव्रत पुत्र हुआ जिनका महारथी।
जाओ हस्तिनापुरी को हस्तिगामी पुत्र को
संग में उमंग से, तुम्हारे पुण्य पुर की
अन्तरीक्षवासिनी हो सुख से रहूँगी मैं
चन्द्रमुख देख देख रात-दिन पुत्र का।

दशम सर्ग

(पुरूरवा के प्रति उर्वशी)

[चन्द्रवंशी राजा पुरूरवा ने किसी समय केशी नामक दैत्य के हाथों से उर्वशी का उद्धार किया था। उर्वशी उनका रूप-लावण्य देख कर उन पर मोहित हो गयी थी। तब उसने राजा को निम्नलिखित पत्र लिखा था। पाठक गण महाकवि कालिदास कृत विक्रमोर्वशी नाटक पढ़ कर विशेष वृत्तान्त जान सकते हैं।]

भूप, स्वर्गभ्रष्ट हूँ तुम्हारे लिए आज मैं।
नाटक हुआ था कल देव-नाट्यशाला में,
'लक्ष्मी स्वयंवर'। बनी वारुणी थी मेनका,
लक्ष्मी मैं बनी थी, कहा वारुणी ने मुझसे
देखो यह देव-सभा चारों ओर चंचले;
केशव वे बैठे हैं, बताओ मुझे, मैं सुनूँ,
भाता कौन तुमको है? भूल गुरु-शिक्षा मैं
जी की बात बोल उठी—भूपति पुरूरवा!
कौतुक से शक्र-शची संग हँसने लगे
और सब देवता, सभा में शोर छा गया।
रुष्ट भरतर्षि हुए, शाप दिया मुझको।
सुनो देव, अमर-सभा में मुक्त कण्ठ से
मैंने जो कहा था कल आज भी कहूँगी मैं,
लाज से क्या, आज भी कहूँगी पदयुग्म में।
सागर की ओर नदी जाती है सदैव ज्यों
देखती है सूर्य्यमुखी सर्वदा ज्यों सूर्य्य को
रत उन चरणों में त्यों ही यह मन है।
दासी है तुम्हारी प्रभो, उर्वशी—घृणा हो जो

उससे तुम्हें तो कहो शीघ्र सुनूँ देव, मैं
मर तो सकूँगी नहीं, अप्सरा हूँ अमरा
जाकर अरण्य में तपस्विनी बनूँगी मैं
सांसारिक भोग छोड़ शूर, जो कृपा हो तो
वह भी कहो, मैं उड़ आऊँ उन पैरों के
आश्रय में, पक्षिणी ज्यों उड़ती है कुंज को
टूटने से पिंजर। तुम्हारे बिना तुच्छ है
स्वर्ग भी, शुभ क्षण में हेमकूट गिरि पै
केशी ने हरा था मुझे, अब भी अकेले में
सोचती हूँ बातें वे—पड़ी थी हाय! रथ में
शस्त्राहत हरिणी-सी, काँपा गिरि सहसा!
चौंक उठी और सुना सौ सौ स्रोतनाद-सा
घोर रथ-चक्र-घोष सिंहनाद भी सुना—
'रे रे दुष्ट दैत्य, यमलोक तुझे भेजूँगा।'
तत्क्षण हो गर्ज उठा केशो प्रतिनाद-सा।
भीषण निनाद से मैं संज्ञा शून्य हो गयी।
आयी जब चेतना दिखाई पड़ी सामने
आली चित्रलेखा-संग वह छवि माधुरी—
अमरी-नरी की स्पृहा। गुणमणि, सौ गुनी
दीख पड़ी उज्ज्वल तुम्हारे समागम से
हेमकूट हेमकान्ति—मानों रवि-तेज से!
मूँद रही लाज से मैं आँखें नररत्न हे!
डाली किन्तु अन्तर्दृष्टि मैंने अति हर्ष से
सन्ध्या को कमलाकान्त देख के कमल ज्यों
हृदय निमग्न हुआ सुख के सलिल में।
तब तुम बोले चित्रलेखा ओर देख यों—
होती तमोहीना निशा जैसे इन्दु-योग से,
जैसे छिन्न धूमवाली अग्निशिखा रात में,
सुन्दरि, निहारो अब मूर्च्छा छूट जाने से,
वररुचि रुच्यमान है इस वरांगी की;
कुलभंग होने से निमेष भर के लिए
होकर मलिन फिर बहती है जाह्नवी
ऐसे ही प्रसाद से शुभे! जो और था कहा
उससे रसज्ञता तुम्हारी है टपकती;

नरकुल धन्य है तुम्हारे गुण-गण से।
वार वार काँपने से दग्ध इस उर के,
मेरा दिव्य पुष्प-हार हलता निहार के,
तुमने पढ़ा था जो सु-पद्य कवे, याद है?
जैसे म्रियमाण जन सुनता है भक्ति से
जीवन का मन्त्र, सुनी उर्वशी ने वैसे ही
गाथा सो तुम्हारी हे सुधांशुकुल-सन्मणे!
तुमने सहज नरराज, सुरबाला के
मन को भुलाया, क्यों भुलाओगे न अथवा
चिर सुर-वैरी तव विक्रम से काँपते
हैं हे महाविक्रम, विधाता के सु-वर से;
वज्री से विशेष है तुम्हारा वीर्य्य रण में।
देख वह रूप-ओज लज्जित मनोज है।
मोहे क्यों न देवबाला तब गुण-रूप से?
देव, सुनो, इच्छा से तुम्हारे राजवन में
वरती है आम को स्वयम्वरा बधू-लता
जैसे, ठीक वैसे इस नन्दन विपिन में
वरती है आम को स्वयम्वरा बधू-लता।
रूपगुणाधीन नारियाँ हे नरश्रेष्ठ, हैं;
मर्त्य में क्या स्वर्ग में विधान यही विधि का।
करके कठोर तप स्वर्ग-भोग पाने से
यह चिरयौवन सुधा ही सब चाहते;
अर्पूंगी तुम्हारे चरणों में वही आप मैं,
काय, मन, दोनों नरनाथ, बेच दूँगी मैं।
उर्वशी को ठौर दो हे उर्वीश्वर, उर्वी में,
राजचरणों में कर देगी, प्रजा-भाव से,
दासी, सदा सर्वदा सयत्न, और क्या कहूँ?
विष ही विषौषध बताते सब लोग हैं
मरती थी देव, काम-विष से मैं, ऋषि ने
मानों यही सोच दिया शाप-विष मुझको—
होकर कृपालु। तुम विज्ञ हो, विचार के
आज्ञा दो नरेन्द्र, मुझे, छोड़ सुरपुर को
उन पद-पद्मों में पड़ूँ मैं, वारिधारा ज्यों
मेघाश्रय छोड़ पड़ती है दूर सिन्धु में,—

नील नीर-राशि में, सहर्ष मिल जाने को।
मन्दाकिनी-तीर बैठ नन्दनविपिन में
पत्र मैंने लिखा। कल्पतरु को प्रभो,
पूजा भक्ति-भाव से है, कह निज कामना।
फूले हुए फूल मेरे माथे पर हैं गिरे;
कहती हर प्रिया है वीचि रव-मिस से
मुझसे कि पूर्ण होगी तेरी मनःकामना।
भेजती हूँ भूप, इसी साहस से सेवा में
चित्रलेखा आली को बना के पत्रवाहिका
एक टक दृष्टि से रहूँगी राह देखती
उत्तर की, पृथ्वीनाथ! और भला क्या लिखूँ?

एकादश सर्ग

(नीलध्वज के प्रति जना)

[माहेश्वरी पुरी के युवराज प्रवीर अश्वमेध का घोड़ा बाँध लेने के कारण युद्ध में अर्जुन के हाथ से मारे गये। महाराज नीलध्वज ने युद्ध में अर्जुन से हार कर उनसे सन्धि कर ली। महारानी जना ने पुत्र-शोक से व्याकुल होकर राजा को यह पत्र लिखा।]

बाजे बजते हैं राजतोरण पै रण के
आज, हय हींसते हैं, गज हैं गरजते,
उड़ते हैं राजकेतु और रण-मत्त हो
सिंहनाद करते हैं सैनिक,—परन्तु क्यों?
स-दल सजे हो नरराज, जूझने को क्या?
तनय प्रवीर-वध वैर चुका लेने को?
शोक-वह्नि अर्जुन के रक्त से बुझाने को?
चाहिए यही तो तुम्हें, क्षत्रमणि तुम हो।
जाओ, महाबाहो शीघ्र गरज गजेन्द्र ज्यों
शुण्ड को उठाये यम-दण्ड-सम जाता है।
अर्जुन का गर्व गिरे आज रण-क्षेत्र में,
लाओ, शूल-दण्ड पर खण्ड-मुण्ड उसका।
बालक को मारा मूढ़ ने है पाप-रण में,
मारो महेष्वास, उसे भूल जाऊँ अपनी
ज्वाला—यह घोर ज्वाला—भूल जाऊँ शीघ्र मैं।
जन्म-मृत्यु का है जोड़,—विधि का विधान है।
क्षत्रकुलरत्न मेरा तनय प्रवीर था,
सम्मुख समर में गया है सुरधाम को;
काम क्या विलाप का है? पालो प्रभो, पृथ्वी को

पालो क्षात्रधर्म्म, उसे साध भुज-बल से।
पागल जना है, हा! तुम्हारे दरबार में
नर्तकियाँ नाचती हैं, गायक भी गाते हैं,
वीणा-ध्वनि खेलती है! सिंहासन पे वही
पुत्र-प्राणघाती शत्रु मित्र बना बैठा है!
सेवा करते हो तुम यत्न से सपत्न की—
मान के अतिथि-रत्न हाय! कैसी लज्जा है!
किससे कहूँ मैं अहो! दुःख किससे कहूँ?
पुत्र विना शोक से हुए शतज्ञान क्या
माहेश्वरीश्वर नृप नीलध्वज धीर भी?
महाराज, आज जिस दुर्विधि ने राज्य में
सहसा अँधेरा किया पुत्र रत्न हर के
उसने हरा है क्या तुम्हारा आज ज्ञान भी?
ऐसा जो न होता तो बताओ तुम मुझको
कैसे यह पाण्डु-रथी पापी पार्थ आज हा!
अतिथि तुम्हारा हुआ? कैसे मित्र-भाव से
करते हो स्पर्श तुम हाय! उस कर का
रक्त से रँगा है जो तुम्हारे ही प्रवीर के?
क्षात्रधर्म्म है क्या यही? बोलो हे महीपते,
कहाँ धुनर्वाण? कहाँ ढाल-तलवार है?
भेद तीक्ष्ण वाणों से न वक्ष हा! विपक्षी का
रण में, सभा में मिष्ट वचनों से उसको
तुष्ट करते हो तुम! सुन के कहेंगे क्या—
जनरव-रूप जब लेगी देश देश में
बात यह—सारे शूर सुनके कहेंगे क्या?
सुनती हूँ, जान नर-नारायण पार्थ को
पूजते हो भक्तियुक्त, कैसी यह भ्रान्ति है!
भोजबाला कुन्ती—उसे कौन नहीं जानता,
स्वैरिणी है जारज है पुत्र पार्थ उसका।
(आह लज्जा!) राजरथी, तुम किस गुण से
पूजते हो जान नर-नारायण उसको?
निर्दय विधातः। यह तेरी कौन लीला है?
एक पुत्र दिया और ले लिया अकाल में!
मान था, उसे भी आज नष्ट किया तूने क्या?

पार्थ नरनारायण? कुलटा जो नारी है—
वेश्या—भला आकर उसी के पाप गर्भ में
जन्में हृषीकेश? कौन वेद, कौन शास्त्र में,
कौन से पुराण में कहानी यह है लिखी?
व्यास ऋषि, वे तो पाण्डवों के एक भाट हैं!
सत्यवती-सूनु को है कौन नहीं जानता?
माता धीवरी है, पिता ब्राह्मण है उनका;
आप भी उन्होंने भ्रातृ-बन्धुओं से केलि की।
धर्म्ममते, दासी को बताओ, देखकर क्या
मानते हो बातें तुम उनकी? कु-कुल के
वे हैं कुलाचार्य्य और सत्य ही जो लोक में
हरि अवतीर्ण हुए पार्थ रूप रख के,
इन्दिरा कहाँ है फिर? द्रौपदी ही तो नहीं?
वाह वाह, कैसी सती! सास जैसी ही बहू!
पौरव सरोवर की निर्मल कमलिनी!
भृंग-सखी, वायु प्रिया, भानुवशा। धिक है!
ऐसे दुःख में भी हँसी आ रही है सोच के
द्रौपदी की बात देव, सोचो कुछ मन में
होगी यह भ्रष्ट नारी लोकमाता लक्ष्मी क्या?
लोग कहते हैं, रथि-यूथपति पार्थ है!
झूठी बात, नाथ, करो थोड़ी-सी विवेचना
विश्रुत विवेकी तुम। सोचो, छद्मवेश से
लक्ष लक्ष राजों को छला था स्वयंवर में
दुर्मति ने। शक्ति भर क्षत्र रथी कौन-सा
उससे लड़ा था वह ब्राह्मण विचार के
उसको? इसी से दुष्ट जीता उस युद्ध में।
कृष्ण की सहायता से खाण्डव जलाया है।
करके शिखण्डी को समक्ष कुरुक्षेत्र में
कुरुकुलकेतु वृद्ध भीष्म पितामह को
मारा महापापी ने। द्रोणाचार्य गुरु के
प्राण लिये पामर ने कैसा छल कर के?
सोचकर देखो, रथ-चक्र जब पृथ्वी ने
फाँसे थे सरोष और हाय! ब्रह्मशाप से
व्याकुल था रण में यशस्वी कर्ण आप ही

मारा उसे वर्बर ने। मुझसे कहो, सुनूँ,
क्या यही महारथी-प्रथा है हे महारथे?
कौशल से जाल में फँसा कर मृगेन्द्र को
मारता है भीरु व्याध, किन्तु वह केसरी
मारता है अपने पराक्रम से वैरी को।
जानते नहीं क्या तुम, तुमसे मैं क्या कहूँ?
जान सुनके भी फिर भूले किस छल से
आत्मश्लाघा वीर वर? हाय! किस पाप से
राज शिरोरत्न राजा नीलध्वज हा! विधे,
नत शिर आज हुए अर्जुन के सामने?
कहाँ वीरदर्प? कहाँ मानदर्प आपका?
ब्राह्मण के माथे पद-धूलि क्यों श्वपच की?
हरिणी का रोना क्या बुझाता है दवाग्नि को?
कब पिक-कूक चुप करती है झंझा को?
किन्तु वृथा निन्दा यह, तुम गुरुजन हो;
घोर पाप होगा करूँ निन्दा जो तुम्हारी मैं।
मैं हूँ कुलनारी नाथ, विधि के विधान से
नित्य पराधीना! नहीं शक्ति ऐसी मुझमें
पूर्ण करूँ इच्छा आप! दुर्द्धर किरीटी ने
(विश्व-सुख हरने को विधि ने बनाया है
वीर जिसे) सन्तति-विहीन किया मुझको!
तुम हो जो स्वामी वाम हो सो विधि-दोष से—
रक्खूँ किस साध से मैं प्राण धराधाम में?
हाय! जनाकीर्ण जग निर्जन जनाऽर्थ है!
दग्ध भाल में जो लिखा दैव ने हुआ वही।
हा प्रवीर, गर्भ में क्या तुझको इसीलिए
सह बहु कष्ट दस मास तक रक्खा था?
मैंने कौन दोष किया तेरा किस जन्म में
जिससे अभागिनी को ताप दिया इतना
बेटा आज तूने? और आशा-लता तोड़ी यों?
पुत्र हा! चुकाया तूने मातृऋण यों ही क्या?
तेरे मन में क्या यही था तू बता मुझको?
व्यर्थ ही क्यों दग्ध नेत्र, वारि बरसाते हो?
आकर अबोध, तुम्हें आज कौन पोंछेगा?

जलता है जी क्यों? तुझे कौन जुड़ावेगा रे!
वाक्यसुधा रस से? किरीटी के विशिख से
खण्ड हुआ तेरा शिरोरत्न, छिप विल में
रो रो मर शोक से ओ खोई मणि के फणी!
जाओ महावीर, चले जाओ कुरु-पुर को
नव्य मित्र पार्थ संग! भाग्य रहिता जना
पुत्र के समीप, महायात्रा, करके चली!
क्षत्र कुलबाला हूँ, मैं क्षत्रकुल की बधू
कैसे सहूँ ऐसा अपमान धैर्य्य धरके?
दग्ध प्राण जाह्नवी के जल में ये छोड़ूँगी,
विस्मृति कृतान्तपुर में जो मिले देखूँगी
अन्त में! सदा को विदा माँगती हूँ पैरों में।
जब नरनाथ, फिर आकर यहाँ मुझे
तुम जो करोगे याद कह के—"जना कहाँ?"
देगी तुम्हें उत्तर प्रतिध्वनि—"जना कहाँ?"

आलोचना

(लेखक—श्रीयोगीन्द्रनाथ वसु बी.ए.)

मेघनाद-वध में जिस प्रकार मधुसूदन दत्त की प्रतिभा का गम्भीर एवं व्रजांगना काव्य में उसका कोमल अंश प्रस्फुटित हुआ है उसी प्रकार वीरांगना काव्य में इन दोनों का एकत्र समावेश है। मधुसूदन दत्त ने एक पत्र में लिखा है कि "मेघनाद-वध के बाद वीर रस के विषय में नवीन चेष्टा पुनरुक्ति मात्र होगी; गीत काव्य की ओर भी हमारी प्रवणता है। इसलिए हम उसी ओर उद्योग करेंगे।" मधुसूदन की उसी प्रवणता का फल उनका व्रजांगना काव्य है। असाधारण प्रतिभा के गुण से वीर-रस प्रधान कविता की तरह गीत कविता लिखने में भी वे कृतकार्य्य हुए हैं सही, तथापि स्वभाव से ही उनका वीरत्वानुरागी हृदय उनके बिना जाने ही फिर भी वीर रस की ओर ही लौटा। ललित पदावली की रचना करके उन्होंने विरह-विधुरा श्रीराधिका की मर्म्म-वेदना व्यक्त की थी। किन्तु मेघनाद-वध का जो भेरी-निनाद एक बार उनकी लेखनी से उग्दत हुआ था वह व्रजांगना की मधुर वंशीध्वनि में निमग्न नहीं हुआ। गोप-बाला-गण के रोदन-निनाद, यमुना की कलकल ध्वनि, एवं वृन्दावन की तमालराजि के मर्मर शब्द के कारण वह उनके कानों में प्रतिध्वनित होने से कभी नहीं रुका। उनकी प्रतिभा मेघनाद-वध का गाम्भीर्य्य एवं व्रजांगना का माधुर्य्य एक जगह सम्मिलित करने को प्रस्तुत हुई। इसी का फल वीरांगना काव्य है। इसीलिए वीरांगना में एक ओर वनवासिनी ऋषि बालिका शकुन्तला की करुण मर्म्मवेदना है और दूसरी ओर वीरप्रसूति तेजस्विनी जना का हृदय-भेदी तिरस्कार सम्मिलित हुआ है। वीरांगना काव्य मेघनाद-वध और व्रजांगना का संयोग सूत्र और मधुसूदन दत्त की प्रतिभा के गम्भीर और कोमल अंशों का संगमस्थल है।

सुप्रसिद्ध रोमन कवि ओविड (Ovid) की वीर-पत्रावली (Heroic Epistles) के आदर्श पर मधुसूदन ने अपनी वीरांगना की रचना की है। वीर पत्रावली की तरह वीरांगना काव्य भी प्रसिद्ध पौराणिक महिलाओं के पत्रों मिस से गठित और पतिपरायणा पतिव्रताओं के, कलंकिनी प्रेमिकाओं के एवं अभिमानिनी सतियों के हृदयोच्छ्वासों

से परिपूर्ण है। जो सब गुण और दोष ओविड की वीर-पत्रावली के विशेष लक्षण हैं, वीरांगना में भी वे लक्षित होते हैं। दोनों ही ग्रन्थों में प्रेमिक हृदयों के रहस्य-परिज्ञान सम्बन्धी असामान्य नैपुण्य, उद्दाम कल्पना और उसी के साथ धर्म्म और समाजनीति के प्रति अनादर प्रदर्शित हुआ है। किन्तु वीर पत्रावली के साथ वीरांगना का इस प्रकार सादृश्य होने से वीरांगना में मौलिकता का अभाव नहीं, पत्राकार में काव्य रचना सम्भव है, यही बात मधुसूदन ने ओविड से सीखी है, किसी जगह उनके भाव का हरण नहीं किया। अँगरेजी साहित्य में उपन्यास होने से जिस प्रकार हमारे औपन्यासिकों का गौरव नहीं घटता, उसी प्रकार वीरांगना के विषय में मधुसूदन का गौरव कम नहीं होता।

ग्रन्थ में वर्णित प्रतिपाद्य विषय की तरह वीरांगना नाम के विषय में भी मधुसूदन दत्त ने ओविड का अनुसरण किया है। वीरांगना नाम सुनते ही समरांगणविहारिणी महारानी दुर्गावती अथवा महारानी लक्ष्मीबाई के समान वीर नारियों का स्मरण होता है। किन्तु कवि ने वीरांगना शब्द का व्यवहार इस प्रकार के अर्थ में नहीं किया। साध्वी पेनिलोप (Penelope) कलंकिनी के केनिस (Canace), एवं प्रेमोन्मादिनी डिडो (Dido), इन सभी के पत्रों को ओविड ने वीर-पत्रावली (Heroic Epistles) का नाम दिया है। मधुसूदन ने भी उन्हीं के आदर्श पर कलंकिनी तारा, पति-परायणा रुक्मिणी देवी एवं तेजस्विनी जना, इन सभी को वीरांगना नाम दिया है। 1861 ईसवी में वीरांगना काव्य रचित और अगले साल के आरम्भ में प्रकाशित हुआ। जिनके निकट मधुसूदन आजीवन कृतज्ञ रहे, उन्हें 'वंगकुल चूड़ा' ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को यह काव्य समर्पित हुआ है।

वीरांगना काव्य ग्यारह सर्गों में विभक्त है। श्रेणी के अनुसार विभाग करने से ये ग्यारह पत्र निम्नलिखित कई श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं।

प्रथम–प्रेमपत्रिका–प्रेमास्पदों की अनुग्रहभिक्षा के लिए प्रेमिका का पत्र। तारा, शूर्पणखा, उर्वशी और रुक्मिणी देवी के पत्र इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

द्वितीय–प्रत्याख्यानपत्रिका–वासना मूलक प्रेम के बन्धन को छिन्न करने के लिए पत्र। इस श्रेणी के अन्तर्गत जाह्नवी देवी का पत्र है।

तृतीय–स्मरणार्थ पत्रिका–स्वामी के बिना व्याकुला अथवा उसके अमंगल की आशंका से अस्थिरा प्रोषित पतिकाओं के पत्र। शकुन्तला, द्रौपदी, भानुमती और दुःशला के पत्र इसी श्रेणी के अन्तर्गत हैं।

चतुर्थ–अनुयोग पत्रिका–स्वामी के विषम व्यवहार से पीड़िता, मुखरा स्त्रियों के पत्र। कैकेयी और जना के पत्र इसी श्रेणी के हैं। सम जातीय पदार्थों में जो विषमता रहती है उसका परिस्फुटन करके जो जिस परिमाण से प्रत्येक की स्वातन्त्र्य-रक्षा कर सकते हैं, उनका नैपुण्य उसी परिमाण से प्रशंसनीय होता है। मधुसूदन इन सब समजातीया रमणियों को एकत्र करके उनके स्वभाव-स्वातन्त्र्य की किस प्रकार रक्षा

कर सके हैं, उसी को देखकर हम उनके गुण समझ सकते हैं।

वीरांगना काव्य की तारा, शूर्पणखा, उर्वशी एवं रुक्मिणी देवी ये चारों ही प्रेमिकाएँ हैं। सुतराम् इनमें से प्रत्येक के ही पत्र में प्रेमिक-हृदय की आकांक्षा और उसका उच्छ्वास उपस्थित है। परन्तु यद्यपि ये सब प्रेमिकाएँ हैं तथापि इनकी अवस्था परस्पर विभिन्न है। पहली, दूसरी विधवा, तीसरी वीरांगना और चौथी कुमारी है। नारीजीवन में सामान्यतः जिन चार अवस्थाओं का होना सम्भव है वे इन चारों से सूचित होती हैं। प्रेम, एक ओर जैसे पात्रापात्र का विचार नहीं करता वैसे ही दूसरी ओर प्रेमिक-प्रेमिका की अवस्था पर भी अवलम्बित नहीं रहता। इसी कारण तारा गुरु पत्नी होकर भी शिष्य को, शूर्पणखा राज सहोदरा होकर भी जटाजूटधारी संन्यासी को, एवं रुक्मिणी देवी लज्जाशीला कुल-बाला होकर भी अपरिचित जन को आत्मसमर्पण करने के लिए उत्सुक हैं। इसी प्रकार रूप-व्यवसायिनी होकर भी उर्वशी दूसरे के रूप पर मुग्ध है। तारा और शूर्पणखा का प्रेम रूपज मोह से उत्पन्न है, उर्वशी के प्रेम में रूपज मोह के साथ कृतज्ञता एवं नारी स्वभावोचित वीरत्वानुराग भी सम्मिलित है। केवल रुक्मिणी देवी के प्रेम में रूपज अथवा इन्द्रिय विषयक विकार नहीं है। जो पतिव्रताओं के धर्म्म में सीता और सावित्री के समान हैं एवं हमारे पुराण-प्रणेता जिन्हें साक्षात् लक्ष्मी स्वरूपिणी बतलाते हैं, उनका प्रेम इन्द्रिय-पिपासा-शून्य प्रदर्शित करके मधुसूदन ने सुरुचि का ही परिचय दिया है। हर एक के पत्र में, हर एक की अवस्था के अनुरूप भावों का स्वाभाविक वर्णन है। उर्वशी वीरांगना है; उसे लज्जा का डर नहीं, समाज में निन्दा होने की चिन्ता नहीं; हृदय के भावों को संयत रखना उचित है, यह विचार एक बार भी उनके मन में नहीं आता; उर्वशी मुक्तकण्ठ से ही अपने हार्दिक भाव प्रकट करने के लिए प्रस्तुत है। इसी कारण हम उसके पत्र में देखते हैं—

× × × अमर-सभा में मुक्तकण्ठ से
कल जो कहा था मैंने, आज भी कहूँगी मैं
लाज से क्या, आज भी कहूँगी— × × ×

किन्तु तारा ऋषि पत्नी एवं ऋषि दुहिता है,—कुपथ-गामिनी होने पर भी आजन्म सिद्ध संस्कार छोड़ना उसके लिए कठिन है। वह अपने कृतकर्म्म के लिए अनुतप्त है। प्रमथनकारी इन्द्रियों का वह दमन न कर सकती थी, किन्तु अनुताप के दंशन से उसका हृदय अधीर हो उठता था। वह यन्त्रणा के कारण अपने को और विधाता को धिक्कार देकर कहती है—

× × × धिक हाय! किस पाप से
ऐसा ताप दैव ने लिखा है इस भाल में!

जन्मी ऋषि-वंश में हूँ तो भी राक्षसी हूँ मैं!

शूर्पणखा बालविधवा है। इन्द्रियसुख प्रिय राक्षस-राज रावण की सहोदरा एवं बालकाल से ही राजप्रासाद के भोग-विलास में अभ्यस्त है। उसके हृदय में न अनुताप है न ग्लानि। उसको विश्वास था कि उपयुक्त पात्र पाने पर उसके साथ राक्षसराज मेरा विवाह करने में असम्मत न होंगे, इसी से वह हृदय में आश्वस्त है। आशा में निराशा हो सकती है, राक्षसराज के परिवार में किसी को इस बात की अभिज्ञता सम्भव न थी। सौभाग्य में अभ्यस्ता शूर्पणखा प्रत्याख्यान किसे कहते हैं, इसको अपने जीवन में न जानती थी। इसी कारण प्रियतम को पत्र लिखने के समय उसका हृदय आनन्द के उच्छ्वास से परिपूर्ण था। भावी सुख की प्रत्याशा में उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु निर्गत होते थे। शूर्पणखा ने लिखा था–

क्षमा करो पत्र पर अश्रु चिह्न, प्रेम से
बहती है अश्रु धारा × × ×

उर्वशी रूप-व्यवसायिनी है। अपना रूप यौवन ही उसका सर्वस्व है। वह प्रियतम को उसी का प्रलोभन देती हुई लिखती है–

करने कठोर तप स्वर्गभोग पाने से
यह चिरयौवनसुधा ही सब चाहते;
अर्पूंगी तुम्हारे चरणों में वही आप मैं।

शूर्पणखा कांचन-सौध-किरीटिनी-लंकापुरी के अधीश्वर की बहन थी। उसे धन-जन का क्या अभाव था? उसने लिखा था–

जो हो पराभूत तुम विक्रम से वैरी के
शीघ्र कहो, विश्वजयकारी सैन्य दूँगी मैं।
रथ, गज, अश्व, रथी–अतुल जगत में,
जिनके प्रताप से सुरेन्द्र भी है काँपता
जूझेंगे तुम्हारे अर्थ ऐसे रथी, आज्ञा दो।
सूर्य्यलोक, चन्द्रलोक और इस लोक में
अथवा त्रिलोकी में छिपेंगे तब वैरी जो,
तो भी बाँध लाकर तुम्हारे चरणों में वे
शूर डालेंगे उन्हें। × × ×
× × × अर्थ तुम चाहो तो
शीघ्र कहो, अलका का कोष खोल दूँगी मैं।

कुटीरवासिनी, वल्कलवसना तारा के पास ये सब कुछ न थे। वह प्रियतम के

लिए कुसुम चयन करके, गुरु के प्रसाद रूप अन्य के साथ सुमिष्ट पदार्थ रखकर अपना प्रेम प्रकट करती थी। उसने लिखा था–

× × × भोजन के अन्त में
आचमन-हेतु तुम गुरु के निदेश से
बाहर आ, ताराकान्त, जल जब लाते थे,
कितना क्या रखती थी लाती थी छिपा के जो
चोरी से हरीतकी-स्थली में, तुम्हें याद है?
पान मिलते थे क्या कुशासन तले कभी?
सोने के घर में तुम फूल देखते थे क्या?

वीरांगना के पत्रों का विश्लेषण करके देखने से प्रत्येक स्थान में कवि के नैपुण्य का इस प्रकार परिचय मिलता है। तारा और शूर्पणखा के पत्रों में जिस प्रकार रूपज मोह की प्रगाढ़ता प्रदर्शित हुई है, उसी प्रकार रुक्मिणी देवी के पत्र में लालसाहीन प्रेम का उच्च आदर्श भी प्रकटित हुआ है। रुक्मिणी देवी के पत्र में इन्द्रियविकार का कोई चिह्न नहीं, रूप और यौवन का प्रसंग नहीं। जो हृदय प्रियतम के देखे बिना, केवल उनके गुणों को सुनकर ही, आत्मसमर्पण कर सकता है उसमें इन्द्रियविकार नहीं रह सकता। हृदय में जिस अनुराग के उदित होने पर भक्त अपने आराध्य देवता को प्रभु, पिता, माता, सखा इत्यादि निम्नतर भाव भूलकर, प्राणेश्वर के भाव से प्रेम करने को व्यग्र होते हैं, रुक्मिणी देवी के प्रेम के मूल में वही अनुराग विद्यमान है। किस कारण लज्जाशीला-कुलबालिका होने पर भी रुक्मिणी देवी अपने प्रियतम को पत्र लिखने का साहस करती हैं, कवि ने इसका अति सुन्दर कारण दिखलाया है। संन्यासिनी जिस प्रकार वन-प्रदेश में, इष्टदेव की मूर्ति स्थापित करके गुप्त रूप से पूजा करती है, रुक्मिणी देवी भी उसी प्रकार हृदय-मन्दिर में इष्टदेव रूपी प्रियतम की सु-श्याम मूर्ति स्थापित करके भक्तिभाव से पूजा करती थीं। कोई जानता न था, कोई देखता न था, उनका हृदय उससे ही परितृप्त था। किन्तु रुक्मिणी देवी की पूजा में व्याघात हुआ। काल रूपी शिशुपाल उनको ग्रास करने के लिए आ रहा था। इसी से उन्होंने उस विपदभंजन को लिखा था–

तारो, हे तारक, इस संकट से उसको,

रुक्मिणी के पत्र में भागवत-वर्णित जिन सारी घटनाओं का उल्लेख है, कवि ने उनका जिस हृदयग्राही भाव से वर्णन किया है उसे देखकर यही मालूम होता है कि निष्ठावान् वैष्णव भक्त की ही रचना का पाठ कर रहे हैं। ईसाई धर्म्म ग्रहण कर लेने पर भी हिन्दू भाव मधुसूदन के हृदय में किस प्रकार राजत्व करते थे, इन

सब स्थलों से हम इस बात का अनुमान कर सकते हैं।

वीरांगना काव्य की तारा और शूर्पणखा आदि की पत्रिकाएँ जैसी आवेगमयी हैं, जाह्नवीदेवी का प्रत्याख्यान पत्र वैसा ही कठोर है। जाह्नवीदेवी ने शान्तनु को लिखा है–

× × × × पूर्व कथा भूल के,
स्वच्छ कर कामगत चित्त भक्ति-रस से
भूपति, प्रणाम करो, शैलराजनन्दिनी
रुद्ररानी गंगा शुभाशीष तुम्हें देती है।

इसे पढ़कर यह धारणा होती है कि प्रेम-भिक्षा की वर्णना के समान ही प्रत्याख्यान विषयक वर्णना करने में भी कवि पूर्णरूप से पारदर्शी है। चरित्र चित्रण के सम्बन्ध में वीरांगना काव्य की प्रेम-पत्रिकाएँ ही कवि की मौलिकता और निपुणता का अधिक परिचय देती हैं। किन्तु अन्यान्य पत्रों में भी निपुणता का अभाव नहीं है। द्रौपदी, शकुन्तला, भानुमती और दुःशला ये चारों ही प्रोषित पतिकाएँ हैं। पहिली और दूसरी स्वामी के विस्मरण से उत्कण्ठित हैं। तीसरी और चौथी स्वामी का अमंगल होने के भय से भीत हैं। इनमें से प्रत्येक के पत्र में कवि ने प्रत्येक की अवस्था के अनुरूप भावों का ही सन्निवेश किया है। मधुसूदन ने द्रौपदी का आदर्श काशीरामदास कृत बँगला महाभारत से लिया है। काशीरामदास ने द्रौपदी को, पाँच पति रहते हुए भी, कर्ण के प्रति अनुरागिणी कह कर उनके चरित्र को हीन बना डाला है। वीरांगना में द्रौपदी का आदर्श काशीराम के महाभारत के अनुसार होने के कारण हम उनके पत्र में अतिरिक्त इन्द्रियचांचल्य की झलक पाते हैं एवं जो दुर्जय क्रोधाग्नि कुरुकुल को भस्म किये बिना तृप्त नहीं हुई, इस पत्र में उसके स्फुलिंग न देखकर स्वभावतः निराशा होती है। मधुसूदन ने 'भीमसेन के प्रति द्रौपदी' नामक एक पत्र का आरम्भ किया था। वह इस प्रकार है–

मुक्तकेशी हो रही है आज दासी द्रौपदी
वृकोदर! × × ×

इससे मालूम होता है कि द्रौपदी के चरित का तेजोमय अंश इस पत्रिका में प्रदर्शित करने की कवि की इच्छा थी, सम्भवतः इसी से उन्होंने "अर्जुन के प्रति द्रौपदी" नाम की पत्रिका में उसका समावेश नहीं किया। द्रौपदी की कौमार दशा और स्वयंवर प्रभृति इस पत्र में बहुत सुन्दर भाव से वर्णित हुआ है। अर्जुन के प्रति जिस अतिरिक्त पक्षपात के कारण द्रौपदी को महाप्रस्थान के समय पतित होना पड़ा था, द्रौपदी-पत्रिका में कवि ने उसका उल्लेख किया है। अर्जुन जितेन्द्रिय होने पर भी बहुविवाहित थे। द्रौपदी को ब्याहने के बाद भी चित्रांगदा, उलूपी और सुभद्रा को उन्होंने ब्याहा था। बहु-भार्य्य स्वामी की भार्य्यान्तर ग्रहण करने की लालसा का निवारण करना द्रौपदी

की शक्ति के बाहर होते हुए भी उसके समान तेजस्विनी नारी के लिए मूक की तरह मौन भाव से स्वामी का इस प्रकार का व्यवहार सहन करना भी असम्भव था। जान पड़ता है, कठोर व्यंग्यभाव से वह स्वामी के बहुविवाह पर आक्षेप करती थी। इसी कारण हम लोग द्रौपदी के पत्र में देखते हैं–

देव-बाला-वल्लभ हो, नारियों के स्वामी हो
तुम, न करो इसी से दासी से घृणा, यही
उन चरणों में प्रार्थना है इस दासी की।
गहने पहनते हैं सोने के गले में जो
कानों में, हाथों में और सिर में सदा
देव, वे क्या चाँदी नहीं पैरों में पहनते?

और–

तुम रससागर हो और रसनागरी
देवनारियाँ है, जहाँ सौ सौ फूल फूले हों
वंचित हो अलि किस सुख से सखे, वहाँ?

द्रौपदी के समान शकुन्तला भी प्रोषितभर्तृका एवं बहुपत्नी पति की पत्नी है। किन्तु वह सरला ऋषिबालिका है। व्यंग्यवाक्यों से किसी का मर्म्मभेद करना तपोवन-पालिता के लिए स्वाभाविक नहीं। कुटीरवासिनी बालिका को पृथ्वी के राजेश्वर ने अपने चरणों में स्थान प्रदान किया है, यही उसके लिए बहुत है। बालिका उनकी हृदयाधिष्ठात्री होने की आशा क्यों करेगी? उसके पिता का उपदेश है–

" × × × कुरु प्रिय सखिवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।"

स्वामी के बहुपत्नीक होने पर उसे व्यंग्य से लांछित किया जाता है, उसके लिए इस प्रकार के भाव व्यक्त करने की सम्भावना नहीं। वननिवासिनी, बल्कलवसना बालिका राजाधिराज की सहधर्म्मिणी हुई थी, इस अवस्था में उसके मन में दो एक उच्चाभिलाष उदित होना असंगत नहीं। मायाविनी स्वप्नदेवी उसे निद्रा के योग से उसके प्रियतम का ऐश्वर्य दिखाती थी। किन्तु बालिका की उसमें लालसा न थी। फलमूल के आहार से परितृप्त एवं कुशासन पर शयन करने में अभ्यस्त बालिका राज-भोग लेकर क्या करेगी। सपत्नियों पर स्वामी के अनुराग से भी बालिका के मन में उद्वेग न था। स्वामी के पैरों में दासी होकर रहेगी, यही एक मात्र उसकी आशा थी। शकुन्तला ने इसी से लिखा था–

केलि करती है सदा रोहणी सुधांशु से
नभ में, धरा में उसे पूजती है कैरवी;
दासी कर रक्खो मुझे राजपद-पद्मों में।

शकुन्तला का पत्र करुण विलाप से पूर्ण है। वन का कुसुम वन में प्रस्फुटित हुआ था। राजा दुष्यन्त ने क्या उसे पददलित करने के लिए ही वृन्तच्युत किया था? शकुन्तला अपनी अवस्था का स्मरण करके वृक्ष के पत्र समूह से कहती थी कि—

× × × सीधा जान तुझको
नाचता है वायु तेरे साथ प्रेम करके,
किन्तु फेंक देगा वही करके घृणा तुझे
नीरस हुआ तू जहाँ; हाय! आज ऐसे ही
दूर है किया क्या इस दुःखिनी को देव ने?

प्रोषितभर्तृका द्रौपदी और शकुन्तला जिस प्रकार स्वामी के विस्मरण से उत्कण्ठिता और अभिमानिनी हैं, दुर्योधन-पत्नी भानुमती और जयद्रथ-पत्नी दुःशला उसी प्रकार स्वामी के अमंगल-भय से भीता हैं। भानुमती का पत्र कुरुक्षेत्र के युद्ध के आरम्भ में और दुःशला का पत्र अभिमन्यु-वध होने पर लिखा गया है। दोनों ही लेखिकाएँ वीर-पत्नी और दोनों ही के लिए समराग्नि का उत्ताप नया नहीं। परन्तु स्वामी की अमंगल-भीति दोनों को ही युद्ध से प्रत्यावृत्त होने के लिए स्वामी को परामर्श देने को बाध्य करती है। भानुमती के पत्र में कवि ने कौरव राजान्तःपुर का अति सुस्पष्ट चित्र अंकित किया है। दुःशला का पत्र मधुसूदन के वीर रस वर्णन का उत्कृष्ट प्रमाण है। पुत्रशोक-कातर अर्जुन की जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा का जहाँ वर्णन किया गया है, उसे पढ़कर शरीर रोमांचित हो उठता है। कवि की वर्णन शक्ति के गुण से पाठक उस अतीत घटना का प्रत्यक्ष के समान अनुभव करने लगते हैं। भानुमती कौरव-कुल-बधू है। स्वामी के कल्याण के समान कौरव-कुल का कल्याण भी उसकी चिन्ता का विषय है। उसने दुर्योधन को लिखा है—

आओ तुम प्राणनाथ, छोड़ कर रण को;
पाँच गाँव मात्र पाँच पाण्डव हैं माँगते,
तुमको अभाव क्या है? तुष्ट करो उनको,
तुष्ट करो अन्ध पिता, माता को, अभागी को;
रक्खो कुरुवंश कुरुवंश-अवतंस हे?

किन्तु दुःशला कौरव-कुल की दुहिता है। स्वामी के कल्याण के लिए ही वह अधिक चिन्तित है। पितृकुल के लिए उसे उतनी चिन्ता नहीं। उसने लिखा है—

शीघ्र यह पापपुर छोड़ चले जायँगे
सिन्धुराजमन्दिर में। × × ×
× × ×
होता रहे, हो जो कुरु-पाण्डु-कुल-भाग्य में।

भानुमती दुर्योधन की पत्नी है। साध्वी के पत्र में स्वामी की निन्दा उचित नहीं। भानुमती ने सारा दोष शकुनि और कर्ण के माथे मढ़ा है। किन्तु दुःशला दुर्योधन की बहन है। वह दुर्वृत्त भ्राता का उल्लेख करते हुए संकुचित नहीं हुई। अवस्था के अनुसार दोनों के मनोभाव जिस प्रकार के हो सकते हैं, दोनों के पत्रों में वे सुन्दरता से व्यक्त किये गये हैं।

वीरांगना की अनुयोग पत्रिकाएँ बहुतों के मत से इस काव्य में सर्वोत्कृष्ट हैं। 'नीलध्वज के प्रति जना' और 'दशरथ के प्रति कैकेयी' पत्रिकाएँ इसी श्रेणी में हैं। हृदयभेदी आर्तनाद, मर्म्मान्तिक व्यंग्य एवं कठोर तिरस्कार सम्मिलित होने से ये दोनों पत्रिकाएँ अत्युत्कृष्ट हुई हैं। जना का चरित्र मूल महाभारत में नहीं है। काशीरामदास के महाभारत से कवि ने उसे ग्रहण किया है। मेघनाद-वध काव्य की चित्रागंदा में कवि ने पहले जो पुत्रशोकातुरा माता का रेखाचित्र खींचा है, वीरांगना की जना में उसी की पूर्णता दिखाई है। कैकेयी और जना दोनों ही स्वामी के व्यवहार से मर्म्मपीड़िता हैं। किन्तु दोनों की अवस्थाओं में विशेष पार्थक्य है। सपत्नी और सपत्नी के पुत्र का सौभाग्य ही कैकेयी के क्षोभ का कारण है। किन्तु जना का दुःख उसकी अपेक्षा हजार गुना अधिक मर्मभेदी है। इसी कारण जना का पत्र ज्वालामुखी के धातु-निस्राव की तरह ज्वलन्त उच्छ्वास से परिपूर्ण है। एक ओर कापुरुष स्वामी का निरस्कार, दूसरी ओर आततायी पाण्डवों के प्रति मर्मान्तक व्यंग्य और उसी के साथ वीर पुत्र के लिए हृदयभेदी विलाप का सम्मिश्रण होने से जना का पत्र इतना हृदयग्राही हुआ है कि उसे आद्योपान्त उद्धृत करने की इच्छा होती है। वीर जननी जना का पत्र ही यथार्थ में वीरांगना नाम के अनुरूप हुआ है। परन्तु मधुसूदन ने ओविड के आदर्श पर वीरांगना की रचना की है। उनका काव्य सौंदर्य में आदर्श की अपेक्षा उत्कृट हुआ है, यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति नहीं।

ओविड का अनुकरण करके मधुसूदन एक निन्दनीय भ्रम में भी पड़ गये हैं। ओविड के कितने ही पत्रों में अत्यन्त कलुषित प्रेम के चित्र अंकित किये गये हैं। ओविड ने एक ओर जिस प्रकार साध्वी-कुल-गौरव रूपिणी पेनलोप (Penlope) एवं पतिप्राणा लाउडामिया (Loodamia) के पवित्र प्रेम का वर्णन किया है, दूसरी ओर उसी प्रकार सहोदर के प्रति अनुरागिणी पापिष्ठा कैनिस (Canace) एवं सपत्नी पुत्र के प्रेम में मुग्धा फिड्रा (Phaedra) की सम्पर्क विरुद्ध आसक्ति का वर्णन करने अपनी लेखनी को कलंकित किया है। इस अपवित्र आदर्श से ही मधुसूदन उर्वशी, शूर्पणखा और विशेषकर

तारा, इन तीनों के पत्र लिखने में प्रेरित हुए। उन्होंने इन तीनों में से प्रत्येक के चरित्र की जिस प्रकार कल्पना की है उसी के उपयुक्त उपादान देकर उसका चित्रण किया है, इस कारण हमने उनकी प्रशंसा की है। किन्तु इसी के साथ उन्होंने जो कुरुचि का परिचय दिया है उसके कारण हम उनकी निन्दा किये बिना नहीं रह सकते। उर्वशी और शूर्पणखा के प्रेम के सम्बन्ध में उनका समर्थन भी किया जा सकता है, किन्तु तारा के पत्र के विषय में वह नहीं हो सकता। 'गुर्वङ्गनागमन' हमारे शास्त्रों में महा पातक कहा गया है, उसी महा पातक मूलक घटना को उन्होंने किस प्रकार रुक्मिणी और शकुन्तला के जीवन की घटनाओं के साथ ग्रथित किया, यह समझ में नहीं आता। विशेषतः तारा के चरित्र को उन्होंने जिस भाव से चित्रित किया है वह सम्पूर्णतया मूल पुराणों का विरोधी है। वीरांगना काव्य में तारा की उस प्रेम भिक्षा के संग पाठकगण ब्रह्मवैवर्त पुराण की तारा की रोषप्रदीप्त भर्त्सनाओं की तुलना करने से, मधुसूदन तारा चरित्र के सम्बन्ध में कैसे भ्रम में पड़े हैं, यह जान सकेंगे। पौराणिक तारा निरपराध है। अनुचित व्यवहार के लिए चन्द्र को उद्यत देखकर वह कहती है–

> "त्यजमां त्यजमां चन्द्र, सुरेषु कुलपांशक!
> गुरुपत्नीं, ब्राह्मणींच, पतिव्रत-परायणाम्॥
> गुरुपत्नीं संगमने ब्रह्महत्या शतं लभेत्।
> पुत्रस्त्वं, तव माताऽहं, धैर्य्य कुरु सुरेश्वर!
> धिक् त्वां श्रुत्वा सुरगुरुर्भस्मीभूतं करिष्यति।
> गुरुपत्नी, विप्रपत्नी, यदि सा च पतिव्रता।
> ब्रह्महत्या सहस्रंच तस्याः संगमने लभेत्॥
> पुत्राधिकश्च शिष्यश्च प्रियो मत्स्वामिनो भवान्।
> स्वधर्म्म रक्ष पापिष्ठ, मामेव मातरम् त्यज।
> दास्यामि स्त्रीवधं तुभ्यां यदि मां संग्रहष्यसि।"

इस प्रकार तिरस्कार के बाद भी चन्द्र को निरस्त न देख कर उसको यह भयंकर शाप दिया–

> "शशाप तारा कोपेन निष्कामा सा पतिव्रतः;
> राहुग्रस्तो, घनग्रस्तः पापयुक्तो भवान् भव॥
> कलंकी यक्ष्मणाग्रस्तो भविष्यसि न संशयः"

दोनों में कैसा आकाश-पाताल का-सा प्रभेद है! पौराणिक घटना की अभिज्ञता के साथ समाज-नीति के विषय में सम्मान होने से मधुसूदन तारा का चरित्र इस प्रकार चित्रित न करते। जो हो, वीरांगना काव्य मधुसूदन दत्त की प्रतिभा के विकास की सर्वोपरि सीमा स्वरूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

विरहिणी व्रजांगना

श्रीः

विज्ञापना

हिन्दी में बँगला की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद निकल चुके हैं किन्तु अभी तक किसी पद्यात्मक पुस्तक का अनुवाद नहीं निकला था। आज बंगाल के विख्यात कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के व्रजांगना नामक काव्य का पद्यानुवाद भी मातृभाषा के चरणों में अर्पित हुआ। हिन्दी के बहुत से प्राचीन और अर्वाचीन कवियों ने इस विषय पर कविता की है। पाठक एक वार वंगीय कविश्रेष्ठ की प्रतिभा का चमत्कार भी इसी विषय पर देखें। विश्वास है, प्रणयोन्मत्ता विरहिणी व्रजांगना का करुण क्रन्दन उन्हें एक बार अवश्य ही द्रवित कर देगा।

लेखक में अनुवाद करने की योग्यता न होने पर भी उसने जो यह साहस किया है, इसके दो कारण हैं—एक तो इस पुस्तक की कविता इतनी मधुर है कि उसने लेखक को विवश किया कि किसी तरह इसका रसास्वादन हिन्दी-प्रेमियों को भी कराया जाय। दूसरा कारण यह है कि इस ओर भी शिक्षित समुदाय का ध्यान आकर्षित हो और भिन्न-भिन्न भाषा के कवियों की रचनाएँ अनुवादित होकर मातृभाषा की श्रीवृद्धि करें। यदि इस विषय में कुछ भी सफलता हुई तो लेखक, हजार त्रुटियाँ रहते हुए भी, अपनी इस चपलता को उचित ही समझेगा।

—अनुवादक

श्रीगणेशाय नमः

विरहिणी व्रजांगना

वंशी-ध्वनि

श्री व्रजरत्न प्राणधन हरि को, चल सखि! चल, देखें सत्वर,
हैं कदम्ब के तले नाचते, वेणु बजाते राधावर।
घनश्याम की ध्वनि सुन क्यों कर मैं चातकी धैर्य्य धारूँ!
क्यों न प्राण प्यारे के ऊपर अपना तन, मन, धन वारूँ!

मान जाय, कुल तजे भले ही, मानस तरणी पावे कूल;
चल सखि! डूब प्रेम-जल-तल में सेवें वह पद-पंकज-मूल।
घूम रहा है मानस-सर में हंस कमल-वन के भीतर,
डूब रहेगी जल में कैसे नलिनी प्रिय को वंचित कर?

जो जन जिसे प्यार करता है जाता है वह उसके पास,
मदन राज के विधि-लंघन में कर सकता है कौन प्रयास?
करूँ अपेक्षा यदि मैं उसकी होगा कुपित मनोभव वीर,
शम्बरारि-शर सहे, कौन है त्रिभुवन भर में ऐसा धीर?

सुनि सखि! फिर वह मनोमोहिनी माधव-मुरली बजती है,
कोयल अपनी कण्ठ-कला का गर्व सर्वथा तजती है।
मलयानिल मेरे कानों में उस ध्वनि को पहुँचाती है,
सदा श्याम की दासी हूँ मैं, सुध-बुध भूली जाती है॥

जलद-ध्वनि सुन मत्त-मयूरी स्वयं नाचती है तत्काल,
फिर मैं काटूँ क्यों न आज निज बन्धनमय लज्जा का जाल।
फिरती है सानन्द दामनी सदा संग लेकर घन को,
राधा कैसे तज सकती है राधा-रमण प्राण-धन को?

मंजु कुंज में जहाँ श्याम हैं, खिले सुमन मन भाये हैं,
मेरे प्रिय को देख धरा ने फूल-जाल फैलाये हैं।
हा! कैसी लज्जा है धिक है जो षड्ऋतु को वरती है–
वह रमणी मेरे प्रिय-धन पर मोहित होकर मरती है!

चल सखि! शीघ्र चलें जिसमें फिर गमा न बैठें मोहन को,
जी सकती है कब तक फणिनी खोकर मणिरूपी धन को?
सरिता तो देशों देशों में फिरती है सागर के अर्थ,
त्याग प्रेम-सागर निज नागर धिक जो बैठ रहूँ मैं व्यर्थ!

चन्द्रोदय से पुलकित होकर रजनी हास्यमयी होती,
निज सुधांशु-निधि पाकर क्या मैं रहूँ अँधेरे में रोती?
श्री व्रजरत्न प्राण-धन हरि को चल सखि, चल देखें सत्वर,
हैं कदम्ब के तले नाचते, वेणु बजाते राधावर॥

मधु कहता है व्रजवाले! उन पद-पद्मों का करके ध्यान–
जाओ जहाँ पुकार रहे हैं श्रीमधुसूदन मोद-निधान।
करो प्रेम-मधु-पान शीघ्र ही यथा समय कर यत्न विधान,
यौवन के सु-रसाल योग में काल-रोग है अति बलवान!

जलधर

देख देख सखि! नभ की शोभा, गन्धवाह-वाहन घनराज,
प्रेम-मग्न चपलायुत कैसा मन्द मन्द फिरता है आज।
इन्द्रचाप के रम्य रूप में मेघ-पताका के ऊपर–
रत्नखचित यह काम-केतु-सा लगता है कैसा सुन्दर!

लज्जा से ग्रहपति मानों निज मूँद रहा युग लोचन है,
मदनोत्सव में सेवन करता रति-युत रति-पति को घन है।
हँसती है चपला पल पल में निज प्राणेश्वर को लेकर,
आनन्दित करती है उसको गाढ़ालिंगन दे देकर॥

है नाचती मयूरी मुदयुत करके केका शब्द विशेष,
थीं नाचती गोपियाँ वन में मुझे और हरि को ज्यों देख।
व्योम-मार्ग में जलद-किंकरी चातक-बधू विचरती है,
जीवनदाता धीर धनी की घनी जय-ध्वनि करती है॥

हाय! श्याम-घन आज कहाँ हैं, नाथ! मुझे क्या भूल गये?
रोती है तव प्रिया दामनी दुख पाकर यह नित्य नये?
रत्नमुकुट निज सिर पर रक्खे आओ विश्वालोकित कर,
दिखलाई देता है जैसे दिनकर स्वर्णोदय गिरि पर॥

देख अलौकिक रूप तुम्हारा मानी घन रोकर भागे,
इन्द्र-धनुष छिप जाय लाज से, गगन मलिनता को त्यागे।
हँसता हुआ सूर्य फिर आकर फैलावे प्रकाश भारी,
राधा के सुख से सत्वर ही हो फिर सुखी धरा सारी॥

नाचेंगी सब गोकुल-बधुएँ करती हुई किंगिणी-नाद,
ज्यों मलयानिल से सरसी में नृत्य-निरत नलिनी साह्लाद।
बिठलाना तुम इस दासी को निज समीप कुसुमासन पर,
यह अधीन अनुचरी, तुम्हारी, तुम हो इसके नव जलधर॥

हाय! सफल होगी क्या आशा, पाओगे क्या प्रिय को प्राण!
पाती है वियोगिनी रति क्या रति-पति को कर यत्न-विधान।
मधु कहता है हे सति कामिनि! आशा मायाविनी नितान्त,
करती है मरीचिका किसकी तृषामयी तृष्णा को शान्त!

यमुना-तट

मृदु कलरव से क्या कहती हो यमुने! मुझसे कहो, कहो,
रोते हैं क्या सिन्धु-विरह से आज तुम्हारे प्राण अहो!
यदि ऐसा है तो राधा से मन की कथा कहो सारी,
नहीं जानती हो क्या, वह भी है विरहानल की मारी!

सूर्य्यसुते! गिरिराज-भवन में तुम्हें पालती घनावली,
जन्मी हो तुम राज-वंश में, यथा सुमन में सुरभि भली!
फिर राधा से लज्जा कैसी, उचित तुम्हें क्या है यह भी?
नहीं जानती हो तुम क्या यह—राजनन्दिनी है वह भी?

आओ, सखि! हम-तुम दोनों ही बैठें बस एकान्त यहाँ,
करें मनोज्वाला दोनों की हम दोनों कुछ शान्त यहाँ।
फिरती हूँ तव तट पर सहसा मैं तब अतिथि अनाथा हूँ,
कल्लोलिनि! दृग-जल से भीगी गाती प्रिय-गुण-गाथा हूँ।

फेंक दिये हैं मैंने सौ सौ रत्नाभूषण रम्य नितान्त,
बिखराई फूलों की माला करने को मन का दुख शान्त।
इन सबकी अब और साध क्या रखती है राधा मन में?
करती हूँ बस, भस्म-लेप अब चन्दनचर्चित इस तन में!

त्यागे सब शृंगार किन्तु जो लगा भाल में है सिन्दूर—
सधवा के विचार से मैंने नहीं किया है उसको दूर।
किन्तु आज सीमन्त देश में ज्वाल-तुल्य वह जलता है,
अपने मन की बात छिपाते बढ़ती विषम विकलता है॥

हे प्रवाहिनी, शशिमुखि! आओ, बैठो मेरे अंचल में,
कमलवासिनी कमला जैसे बसती है सहस्रदल में।
मैं अबला तव कण्ठ पकड़ कर रोऊँ क्षण भर, होऊँ शान्त,
आओ सखि! आओ, हम दोनों बैठें तनिक यहाँ एकान्त॥

है कैसा आश्चर्य कि तुमसे करती हूँ कितनी विनती—
किन्तु नहीं सुनती हो तुम कुछ, है मेरी अब क्या गिनती?

हा! राधा को भाग्य-दोष से आज भोगने थे ये भोग्य,
तुम भी उसे घृणा करती हो? स्वजनि! यही क्या तुमको योग्य?

हाय! तुम्हें क्या दोष भाग्यवति! मैं भिखारिनी, तुम रानी,
हर-प्रिया संगिनी तुम्हारी मन्दाकिनी सुधा-सानी।
अर्पण करती है सागर को वही तुम्हारा पंकज-पाणि,
गमन उसी के संग तुम्हारा सिन्धु-सदन में है कल्याणि!

मृदुहासिनी निशा जब आती सजती हो तुम सुन्दर साज,
तारे हार रूप होते हैं, तारापति बनता है ताज!
कुसुम-दाम कबरी में रख कर सजधज कर यों विना प्रयास—
द्रुत गति से विनोदिनी कामिनि! जाती हो तुम प्रिय के पास॥

किन्तु हाय! इस व्रजमण्डल में आज कौन है राधा का?
कर सकता अनुमान कौन है उसके मन की बाधा का?
दिन डूबा, सूर्य्यास्त हुआ है, त्रिभुवन तम में मग्न यथा,
किन्तु व्यथा नलिनी को जैसी होगी वैसी किसे व्यथा?

हे युवती! तुम उच्च और मैं नीच, किन्तु कुछ करो विचार,
पर-दुख से जो दुखी नहीं है निन्द्य जन्म उसका निस्सार।
मधु कहता है, राधे! तुम क्यों रोती हो यों वारंवार?
होता है किसके मानस में सुखद सदयता का संचार!

मयूरी

शिखिन! विरसवदना हो बैठी तरु-शाखा पर तू कैसे?
तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे!
तू भी है दुखिया क्या, आहा! उन पर कौन नहीं मरता?
किसे नहीं शशि शीतल करता, किसका हृदय नहीं हरता?

आओ सखि, हम तुम दोनों ही मौन परस्पर कण्ठ धरें,
तुम घन का, मैं मनमोहन का, निज निज धन का ध्यान करें।
क्या तेरा होता वह यद्यपि देती है तू मन घन को,
पावेगी अब और हाय! क्या राधा राधा-रंजन को?

गर्जन करता हुआ गगन में जलधर क्या ही छवि पाता,
स्वर्ण-शक्र-धनु रत्नखचिततनु है किरीट-सा बन जाता!
विद्युद्दाम पहन कर विधि से शोभित होता है ऐसे—
मुकुलित लता गले लिपटा कर अति सुन्दर तरुवर जैसे॥

किन्तु शिखिर! मम श्यामरूप-सम भला कहाँ छवि भाती है?
अहो! धन्य वह रूप-माधुरी किसका चित्त न चुराती है?
देखा है जिसकी आँखों ने मोहन-रूप विना बाधा—
वही जान सकता है क्यों कर कुलकलंकिनी है राधा!

शिखिन! विरसवदना हो बैठी तरु-शाखा पर तू कैसे?
तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे?
तू भी है दुखिया क्या आहा! उन पर कौन नहीं मरता?
कवि मधु है इस सत्य कथन का मन से अनुमोदन करता॥

पृथ्वी

जगज्जननि वसुधे! जग विश्रुत दयामयी तुम हो एकान्त,
रख कर सीता को तुमने ही की थी उनकी ज्वाला शान्त।
निर्दय होकर रावणारि ने था जब उनका त्याग किया—
होकर द्विधा तुम्हीं ने उनको गोदी में था उठा लिया!

देवि! राधिका है वियोगिनी, तुम क्यों उस पर हो प्रतिकूल?
श्याम-विरह में मरती है वह, रहीं उसे तुम कैसे भूल!
जलती है अभागिनी अबला, कौन हरे उसकी ज्वाला?
हाय! तुम्हारी कौन रीति यह? तुमने उसे भुला डाला!

शमी-हृदय में अग्नि है सही, पर क्या वह विरहाग्नि कराल?
ऐसा हो तो यौवन, जीवन दोनों वह खो बैठे हाल।
विरह जलाता है दोनों को, देखो मुझको नेंक निहार,
दावानल से वनस्थली-सी जलती हूँ मैं सभी प्रकार।

धरणि! जानती हो, तुम भी तो करती हो ऋतुपति को प्यार,
उसके शुभागमन में हँस कर सजती हो कितने शृंगार!
पति को पाकर रति-सम कितने रखती हो अलकों में फूल,
सोचो, किन्तु विरह-दुख उसका, हो जाती हो, शुष्क समूल।

लोक कहे—राधा कलंकिनी, तुम क्यों उसे घृणा करती?
अम्बर, सागर दो वर पाकर फिर भी तुम मधु को वरती!
हैं वस श्याम प्राणपति मेरे, खो बैठी हूँ जिन्हें धरे!
होगी आज न मेरे दुख में क्या तुम भी दुःखिनी अरे!

हे महि! इन अबोध प्राणों को बतलाओ, रक्खूँ कैसे?
सिखलाओ तुम मुझे, मधु विना जीवित रहती हो जैसे।
मधु कवि कहता है हे सुन्दरि! धैर्य्य धरो है यत्न यही,
आता है मधु स्वयं समय पर पाती है मधु-दान मही॥

प्रतिध्वनि

कौन, कौन, तुम हो युवती-सी? श्याम श्याम कर रही पुकार;
करती है अनाथिनी राधा करके जैसे हाहाकार!
निर्भय होकर यहाँ विजन में कह जाओ मुझसे सब हाल,
किसे बाँधता नहीं जगत में श्याम-प्रेम-गुण महा विशाल?

देती है तन मन सुधांशु को फुल्ल कुमुदिनी करके प्यार,
देकर सुधा चकोरी को वह करता है निशि-संग विहार।
पर क्या इससे कुमुद्वती है करती कभी अरुण अँखियाँ?
नहीं, चकोरी और यामिनी हैं दोनों उसकी सखियाँ?

कौन पुकार रही हो तुम, अब नभोनन्दिनी, जान लिया,
गिरिनिवासिनी, वनविहारिणी, तुम्हें खूब पहचान लिया।
निराकार-भारति, रस-रंगिणि, अविदित तुम हो भला कहाँ?
राधा को लेकर रोने को आयी हो क्या आज यहाँ?

सखी! जानती हूँ, तुमको है मेरे प्रिय पर प्रेम पुनीत;
सीख कुंज में श्याम-गान तुम गाती थी मुरली पर गीत।
राधा, राधा, कहकर जब जब थे पुकारते मुझको नाथ—
राधा, राधा, कहकर तब तब देती थी तुम उनका साथ॥

होती थी जिस व्रज में पहले संगीत-ध्वनि वारंवार,
जो वृन्दावन नन्दन वन था आज वहीं है हाहाकार!
राधा अब कितना रोती है, सखी क्या कहूँ मैं वह बात,
है वह दीन चक्रवाकी, यह है उसके वियोग की रात!

सखि! आओ हम-तुम दोनों ही आज पुकारें माधव को,
यदि इस दासी की सुनेंगे मानेंगे तव मृदु रव को।
सौ सौ खगियों का पुकारना नहीं ध्यान में लाता है—
पर पुकारती जहाँ कोकिला सत्वर ऋतुपति आता है॥

जो मैं कहूँ वही कहती हो, यह कैसा उत्तर का ढंग!
रंगिणि! तुम परिहासरता हो, पर क्या उचित आज यह रंग?
मधु कवि कहता है कि प्रतिध्वनि इसी तरह की होती है,
हँसने से हँसती है एवं रोने से वह रोती है॥

ऊषा

स्वर्णोदय गिरि पर सुरसुन्दरि! देती हो तुम दरस पुनीत,
मधुप-मिथुन कमलों पर आते, गाते हैं खग नव नव गीत।
तुम सिरोजिनी की सजनी हो, अति सौजन्य दिखाती हो;
उसके प्राणनाथ को अपने साथ सर्वदा लाती हो॥

तुम्हीं दिखाकर पथ कोकी को पहुँचाती हो पति के पास,
कृपया मुझे मिला दो हरि से मार्ग दिखा कर विना प्रयास।
अन्धी-सी हो गयी श्याम की राधा मैं रो रो कर हाय!
मेटो शीघ्र अँधेरा मेरा हेमवती सति! करो उपाय॥

आशा स्वप्न-मध्य भूली थी यही सोच कर मैं सजनी!
तुम व्रज-पंकज-रवि को लाकर मेटोगी व्रज की रजनी।
सोचा था कि कुंज में ऊषे! पाऊँगी जीवन-धन को।
देखूँगी कदम्ब के नीचे मैं राधा निज मोहन को॥

मुक्ताभरणों से करके तुम कुसुम-कामिनी का शृंगार—
मृदुल पवन को ले आती हो करने को तत्संग विहार।
लाती हो क्यों नहीं श्याम को? राधा-भूषण आज कहाँ?
लाकर उन्हें मिलाओ सुन्दरि! हे राधा विरहिणी यहाँ॥

देवि! तुम्हारे भव्य भाल पर प्रभामयी मणि जलती है,
फणिनी की चूड़ामणि से भी आभा अमल निकलती है।
मणि-कुल-राज किन्तु जग में बस हैं व्रजरत्न प्रेम-पूषण,
मधु कहता है, सचमुच राधे! अतुल रत्न हैं व्रजभूषण॥

कुसुम

डाली भर कर फूल आज क्यों तोड़े हैं इतने सजनी!
कभी पहनती है तारों की माला मेघावृत रजनी?
हाय! करेंगी क्या अब लेकर सुमन-रत्न व्रजबालाएँ?
अब क्या फिर वे पहन सकेंगी फूलों की मृदु मालाएँ?

वन-शोभिनी लता का भूषण हरण किया किस लिए अहो!
है उसका प्रिय मधुप, किन्तु मुझ राधा का है कौन कहो?
डालूँगी किसके सुकण्ठ में माला गूँथ हाय! आली,
अब क्या फिर तमाल के नीचे नाचेंगे श्रीवनमाली!

तोड़ प्रेम-पिंजर विहंगवर है उड़ गया स्ववास विहाय;
अब क्या सघन कुंज-कानन में बजती है वह मुरली हाय!
व्रज-नभ में व्रज-चन्द्र कभी अब करते हैं क्या उज्ज्वल हास?
व्रज-कुमुदनी रुदन करती है व्रज-गृह में अत्यन्त उदास।

हा! यमुने, डूबा न तुम्हारे जल में क्यों अक्रूर सपत्न,
छोड़ दिया क्यों तुमने उसको जब कि हरा उसने व्रज-रत्न?
व्रज-वैरी व्रज-वन को दल कर हर ले गया मधुर मकरन्द;
मधु कहता है, हे व्रजांगने! पाओगी प्रिय को सानन्द॥

मलयमारुत

मलयाचल गृह सुना तुम्हारा जहाँ विहंगिनी गाती हैं,
यथा अप्सरा नन्दन वन में श्रवण-सुधा बरसाती हैं।
हे मलयानिल! कुसुम-कानिनी अति कोमल कमला ऐसी—
सेवा करती सदा तुम्हारी रति-नायक की रति जैसी॥

हाय! आज व्रज क्यों फिरते? जाओ तुम सरसी के तीर,
मृदु हिल्लोलयुक्त नलिनी को मुदित करो हे मलय-समीर!
व्रज-दिनकर जो हैं वे व्रज तज अन्धकार फैलाकर आज—
अन्य दिशा* में हैं विराजते विदित नन्द-नन्दन व्रजराज॥

देगी तुम्हें सुरभि-मणि नलिनी, राधा क्या दे सकती हाय!
भीग रही है नयन-नीर से वह दुःखिनी आज निरुपाय।
जाओ, जहाँ कोकिला गाती मधु-वर्षा-सी होती है,
इस निकुंज में आज विरहिणी राधा बैठी रोती है।

सम दुःखी हो तुम यदि मेरे तो हरि निकट शीघ्र जाओ,
जाओ, जाओ, सुभग! आशुगति जहाँ श्याम धन को पाओ।

* मूल में अस्ताचल पाठ है।

राधा का रोदन-रव उनके कानों तक तुम पहुँचाओ,
मरती है राधावियोगिनी राधाकर से कह आओ॥

जाओ, अहो महाबल! सत्वर लाओ व्रजभूषण का शोध,
दुर्मति शैल-शृंग को तोड़ो करे तुम्हारा जो गतिरोध।
विघ्न करे तरुराज कहीं तो वज्रपात करके सक्रोध–
भंजन करना उसे प्रभंजन! करती हूँ तुमसे अनुरोध॥

तुम्हें देख यदि नदी सुन्दरी डाले प्रेमपाश अनुभूत–
मत भूलो उसके विभ्रम में तुम हे राधा के प्रित दूत!
मन का क्रय करने को देगी कुसुम-कामिनी सौरभ-धन,
मत देखो, मत देखो, उसको, छलना है वह अहो पवन!

शिशिर-कणों से भीग न भूलो धारावाहिक लोचन-नीर,
शाखा पर कोकिल यदि बोले छोड़ो वह वन शीघ्र समीर!
होना सुख से विमुख सोचकर राधा का यह दुख भारी,
परदुख से जो दुखी वही है सुकृती, सुजन, सदाचारी॥

पहुँचो जब हरि-निकट सुनाना उन्हें राधिका का रोना,
श्याम विना गोकुल रोता है कह देना साक्षी होना।
और नहीं कुछ कह सकती हूँ लज्जावश, मैं हूँ नारी;
मधु कहता है व्रजवाले! मैं कह दूँगा बातें सारी॥

वंशी-ध्वनि

मृदु कलरव से बजा रहा वह मुरली कौन कुंजवन में?
सुन सुन कर उस ध्वनि को दूनी ज्वाला बढ़ती है मन में!
रोक, रोक, सखि! उसे शीघ्र ही, रुदन-समय यह कैसा गान?
यों ही प्राण नहीं जलते क्या? फिर क्यों है यह आहुति दान?

पल्लववसनाशाखा-गृह में, होने पर वसन्त का अन्त,
गाती नहीं पिकी, जाती है निविड़ नीड़ में मौन तुरन्त।
आज कुंजवन में वंशी-ध्वनि? हा! अब क्या वह गाती है?
देखे विना श्याम को सहसा रोती है चिल्लाती है!

सुना है कि सुरपति-भय से गिरि करते हैं सागर में वास—
ऊँचा सिर कर वही वहाँ पर करते हैं तरियों का नाश!
किन्तु न जाने प्रेम-सिन्धु में विरहाचल पहुँचा कैसे,
किसकी प्रेम-तरी न फँसाते? व्याध जाल में खग जैसे!

हा! गत-सुख की स्मृति से अब क्या वे क्या फिर मिल सकते हैं?
सुरभि कहाँ वासी फूलों में? वे क्या फिर खिल सकते हैं?
उसका स्मरण भला है अथवा है उसका विस्मरण भला?
मधु कहता है, मधु के पीछे तप में कहाँ न कौन जला?

गोधूलि

हाय! कहाँ गोपाल शिरोमणि? विता सुने वह वेणु-निनाद—
गोकुल की गायें गोठों में करती हैं प्रवेश सविषाद।
आयी है गोधूलि देख सखि! कहाँ रहे प्यारे गोविन्द?
व्रज की शून्य वीथियों में क्या फिर न बिछेंगे अब अरविन्द!

लो, देखो, आ गयी तमिस्रा, तरु पर दीन चक्रवाकी—
रोती है प्रिय विना कि जैसी रोती हूँ मैं एकाकी।
वह तो फिर निशान्त होने पर हर्षित होकर गावेगी,
पर क्या मेरी विरह-निशा में उषा कभी फिर आवेगी?

देखो, वह सुधांशु रजनीधन उदित हुआ है अम्बर में,
प्रमदा कुमुद्वती हँसती है खिलती हुई सरोवर में।
विदित कलंकी भी शशांक से सब के नयन जुड़ाते हैं,
पर व्रजचन्द्र कलंकहीन हैं तो भी चित्त चुराते हैं!

अहो शिशिरकण! निशा मध्य तुम फूलों को न भिगोना आज,
राधा का अविरल लोचन-जल कर देगा व्रज में यह काज।
मुदित करेंगी रसिक जनों को सज प्रमदाएँ जहाँ तहाँ,
व्रजबालाएँ विरह-मूर्ति की करें प्रेम-आरती यहाँ!

हे मृदु मलयपवन! सौरभ के व्यापारी, तुम यहाँ कहाँ?
जहाँ भयंकर आग लगी हो चन्दन से क्या लाभ वहाँ?
आओ व्रज को छोड़ शीघ्र ही नवकुवलयपरिमल लेकर,
सुरत-श्रान्त कामिनीकुल को स्वस्थ करो सुख दे दे कर॥

आओ, अहो वायुकुलपति! तुम वहन करो पिक-गिरा रसाल,
व्रज की आज सभी वनिताएँ रुदन कर रही हैं बेहाल।
मधु कहता है, हे व्रजांगने! शान्त रहो, रोदन न करो,
अंगीकार करेंगे माधव मिलकर तुमको, धैर्य धरो॥

गोवर्द्धन

चरणों में आकर मैं राधा करती हूँ प्रणाम गिरिराज!
मर्म-कथा किस भाँति सुनाऊँ कुलबाला होकर मैं आज!
किन्तु देख दिवसान्त समय में छविहीना दीना नलिनी,
कौन जानता नहीं कि किसके विना हुई है वह मलिनी?

व्रज-दिनकर जो हैं मुरलीधर छोड़ गये हैं वे व्रजधाम,
दिनमणि को नलनी-सम उनको भजती हूँ मैं आठों याम।
खोकर उन्हें आज रोने को आयी हूँ मैं देव! यहाँ
मणिहीना फणिनी-सी हूँ मैं, मेरे गुणमणि श्याम कहाँ?

तुम राजा हो, लतामयी वनराजि मुकुट-सम है सिर पर,
कुसुम-रत्न भूषण हैं सुन्दर, उत्तरीय रूपी निर्झर।
कर में राजदण्ड-सम तरुवर, पुष्पधूलिधूसर है देह,
भला कौन तुम महामहिम को नहीं पूजता है सस्नेह?

मृगियाँ हैं दासियाँ तुम्हारी, बरसाती विहगियाँ सुधा;
वनबधुएँ विहारिणी हैं सब बँधी प्रेम में है वसुधा।
दिन में सूर्य छत्रधर रहता निशि में निशि सेवा करती,
आश्रय दीजे देव! मुझे अब श्याम विना मैं हूँ मरती॥

बरसाया जब क्रुद्ध इन्द्र ने प्रलय-वारि व्रज में गिरिवर!
तब हरि ने तुमको रक्खा था छत्र-तुल्य अपने कर पर।
भूल गये कैसे उस व्रज को एक बार ही वे व्रजराज?
डूब रहा राधा-दृगाम्बु में है व्रज, कहाँ गये हरि आज?

तुम मुझको निर्लज्ज न समझो, कैसे मैं यह दुःख सहूँ?
बतला दो, इस विरह सिन्धु में पड़कर कैसे मौन रहूँ।
सतियों का भूषण लज्जा है, सकती हूँ अब क्या यह सोच;
मधु कहता है, हे व्रजांगने! भजो श्याम को निस्संकोच॥

सारिका

जल में ज्योति-विम्ब-सम चंचल पड़ सारिका पिंजर जल में,
गाती कभी, कभी रोती है पागल-सी सूने घर में।
उसको कैसा दुःख है सखि! यदि इसे सोच सकती मन में—
तो पिंजड़े को तोड़ तू उसे अभी छोड़ देती वन में॥

दुःखी ही पर-दुःख समझता, उसका दुःख मुझे है ज्ञात,
व्रज-बन्दीगृह में मैं भी तो बन्दी हूँ व्याकुल दिन रात!
सोच रही सारिका व्यग्र हो अपने रम्य कुसुम-वन को,
और विकल होकर मैं राधा सोच रही हूँ मोहन को॥

वनविहारिणी शुक-प्रिया को छल-बल से है बाँध लिया,
कैसे धैर्य धरे वह मन में क्या ही निष्ठुर कार्य्य किया!
मन में सोच सारिका की इस दुरवस्था को, बाधा को,
सखि! संसार रूप पिंजर में बाँधो और न राधा को॥

छोड़ सदय होकर विहगी को, वनस्थली में उड़ जावे,
प्रिय शुक को वह वहाँ देखकर अपने मन में सुख पावे।
दीन सारिका को विमुक्त कर हर कर उसकी व्यथा अपार—
बेड़ी काट राधिका की तू यही विनय है वारम्वार॥

आज राधिका के नयनों में अन्धकारमय है संसार,
रखना मुझको इस दुर्गति में तुझे उचित है किसी प्रकार?
जाऊँ मैं हरि-निकट छोड़ सखि! कुल का मुँह काला हो जाय,
सलिल विना शफरी का जीना कैसे हो सकता है हाय!

करता है जो प्रेम उसे है कुल, गौरव, धन से क्या काम?
श्याम विना मैं हूँ उदासिनी डूबें रत्नाभरण तमाम।
मधु कहता है, हे व्रजांगने! तज कर कुल का सोच सभी—
जाओ तुम अपने रस-सागर नटनागर के निकट अभी॥

कृष्णचूड़ा*

मैं जिसको सिर पर रक्खे हूँ सादर और सयत्न अभी,
मुकुट-रत्न मेरे माधव का बनता था जो यहाँ कभी।
पहने देख उसे मैं महि को गाली देकर ले आई,
मेरे प्रिय का कुसुम-रत्न क्यों पहनेगी वह हरजाई?

ये हैं ये मेरे मुक्ताफल इस पर कैसे झलक रहे,
मेरे अश्रु ओस के मिस से छल छल करके छलक रहे;
सखी! कृष्णचूड़ा को लेकर रोई मैं विजनस्थल में,
वही अश्रु इस पर फैले हैं गिरते थे जो पल पल में॥

पाकर इसे स्वप्न-सम हरि का सहसा मुझे स्मरण आया,
वह कदम्ब के नीचे उनका रम्य रूप अति मन भाया।
अधरों पर मुरली, ग्रीवा में गुंजाहार स्वयं देखा,
श्यामल तनु में पीत वसन ज्यों निकषांकित सुवर्ण रेखा॥

---

* पुष्प विशेष।

माधव-रूप-माधुरी ने है सब की द्युति को दबा दिया,
इसी रूप-धन से राधा का मन हरि ने था मोल लिया।
छीन लिया अब किन्तु वही धन दिया पूर्व में था जैसे!
मधु कहता है, हे व्रजांगने! यह हो सकता है कैसे?

निकुंज

हे निकुंज! मैं आज अकेली फिरती थी यमुना के तीर,
वहाँ न पाकर मुरलीधर को आयी हूँ अब यहाँ अधीर!
यथा कुमुदिनी इन्दु-सुधा की रखती है अति अभिलाषा,
आयी हूँ प्रियदर्शनार्थ मैं कर के वैसे ही आशा॥

हे निकुंजवर तुम अम्बर हो चन्द्र तुम्हारे हैं श्रीकृष्ण,
दिखलाओ अब मुझे उन्हें तुम, रूप-सुधा मैं पियूँ सतृष्ण।
हे छविभाजन! तुम्हें विदित है, उन्हें चाहती हूँ जितना,
और जानते हो तुम मुझको नाथ चाहते थे कितना!

कुंज! तुम्हारे कुसुमालय में प्राणनाथ आकर बहुधा—
पान कराते थे सब व्रज को वेणु बजाकर मधुर सुधा।
तुम्हें विदित है, सुनकर वह रव-ज्यों शिखिनी घन-रव सुनकर—
कौन उपस्थित हो जाती थी उनके चरणों में सत्वर!

पूर्व-स्मृति से मन जलता है, तब संगिनी घनी छाया—
उन्हें बिठाती थी दासी-युत दे पुष्पासन मन-भाया।
खिल उठती थीं विटप वल्लियाँ, गाते थे भौंरों के गोल,
करती थी निज सौरभ वितरण कुसुम-कामिनी घूँघट खोल॥

करते थे स्मर-कीर्तन पिकवर पंचम के स्वर में गाकर,
मेरे प्रिय को मेघ मान करते थे नाच शिखी आकर।
कैसे भूला जा सकता है जो कुछ देखा सुना कभी?
अंकित है राधा के मन में वह अतीत का दृश्य सभी!

नलिनी जब रवि को भूलेगी भूलूँगी प्रियतम को हाय!
अथवा कौन कहे जो मरकर उन्हें भूल जाऊँ निरुपाय।
सखे! विदित हो तो बतलाओ, गुणमणि राधारमण कहाँ?
समय-बन्धु जैसे वसन्त है तुम हो उनके बन्धु यहाँ॥

हे वसन्त! तब मदन कहाँ है? एकाकी तुम क्यों हो आज?
रोती हूँ मैं तव चरणों में कहो कहाँ मेरे व्रजराज?
कमलासह कमलोपम सकरुण! मुझे न मारो होकर मौन,
मधु-कवि कहता है, मधुपुर में हरि हैं यह न कहेगा कौन?

सखी

सखि! क्या कहा? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी,
सहसा वधिर हो गयी हूँ मैं मिटा मनो-ज्वाला मेरी,
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न महा अभिराम?
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

इस मरुभूमि मध्य कह सखि! क्या प्रकटित होगा कुसुमाकर?
क्या निर्जला नदी फिर होगी स्रोतस्विनी सलिल पाकर?
क्या समीर फिर वहन करेगा सजल जलद वर शोभाधाम?
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

हा! हरि विना विरह का मैंने सहन किया है कितना ताप!
इसे जानता अन्तर्यामी और जानती हूँ मैं आप।
कह सकता है कौन, अहा! मैं रोती हूँ कितना अविराम,
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

वृन्दावन-सर-कुमुद-विकासन हैं वे गोकुल-चन्द्र कहाँ!
हाय! उड़ा जाता है सब व्रज निःश्वासों से आज यहाँ!
रक्खेगा व्रजराज! कहो, अब कौन तुम्हारा राज्य ललाम?
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

शिखिनी जो विषधर खा जाती जलती है वियोग से जब—
कुल-बालाएँ इस ज्वाला से कैसे जी सकती हैं तब?
हुआ विधाता एक बार ही क्या अब मुझ दुखिया से वाम,
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

देख, फूल-माला यह मैंने कैसी रुचिर रची है आज!
पहनाऊँगी इसे नाथ को आवेंगे जब वे सुखसाज।
देगी तथा यही प्रियतम के लिए प्रेम-बन्धन का काम,
हा हा! पैरों पड़ती हूँ मैं, सच कह, फिर आवेंगे श्याम?

सखि! क्या कहा? तनिक फिर तो कह, फिर मृदु गिरा सुनूँ तेरी?
सहसा बधिर हो गयी हूँ मैं, मिटा मनो-ज्वाला मेरी।
पावेगा यह दग्ध हृदय क्या फिर वह रत्न महा अभिराम?
मधु कहता है, क्यों रोती हो? तुम्हें भूल सकते क्या श्याम?

वसन्त

विकसित हुए कुसुम क्यों व्रज में? आया है क्या सखी वसन्त?
सुमन-साज क्या सजा भूमि ने, क्या फिर शोभित हुआ दिगन्त!
चल तो आँसू पोंछ, सुनें हम मुरली-रव तमालतल में,
मधु आया है तो माधव भी आवेंगे व्रज मण्डल में॥

फूल खिलें जिस समय विपिन में, अलि गूँजें, पिक-गण गावें,
विटप-वल्लियाँ हरी भरी हों, जड़ चेतन सब सुख पावें।
क्या उस समय प्रेम को तज कर व्रज को भूलेंगे मोहन?
चल निकुंज-वन में अवश्य ही पावेंगी हम अपना धन॥

देखो, है चल रही विपिन में सन सन करके पवन पुनीत,
और श्याम को देख सुखी हो गाते हैं द्विज मंगल-गीत।
कुवलय-गन्ध नहीं सखि, है यह हरि की तनु-सुगन्धि बहती,
तन है सदन मदनमोहन का उसमें यही सुरभि रहती॥

उच्च ऊर्मि-रव से वह यमुना सुन, राधा को बुला रही,
और आप भी कल कल करके नाथ निकट जा रही बही।
चन्द्र-विकास-तुल्य शुचि जल में शोभित है हरि-हाससुमन्द,
चल, भूलें सारा वियोग-दुख देख प्राणिपति को सानन्द॥

करते हैं गुंजार जहाँ अलि और कूकता है पिक-दल,
पत्र मर्मरित हैं, बहता है मलयानिल से जल कल कल।
हँसती है मृदु कुसुम-कामिनी सुरभि करके दिङ्मण्डल,
ऐसे स्थल में प्रिय को पाकर कितना सुख होगा सखि! चल॥

ढाँके हुए अधोमुख सखि! तू हाय! आज क्यों रोती है?
मेरे सुख से सदा सुखी तू आज विकल क्यों होती है?
हे सुभगे! यह कौन रीति है? क्यों यह दशा हुई तेरी?
चल निकुंज-वन में, ऐसे में कौन लगावेगा देरी?

प्रिय के वे पद-पद्म पकड़ कर चल सखि! मैं रोऊँगी आज,
देखूँगी, हँस हँस कर कैसे मुझे दोष देंगे व्रजराज।
धीरे धीरे मुझे थाम कर चल सखि! बल न रहा तन में,
मधु कहता है, हे व्रजांगने? क्या है शून्य कुंज-वन में!

वसन्त

हे सखि! फूलों के खिलने से कानन अति कमनीय हुआ,
पिक-कुल कलकल चंचल अलि-दल दृश्य परम रमणीय हुआ।
कलित ललित जल उछल रहा है, चलो चलें हम कानन को,
आँखें ठण्डी करें देखकर श्रीहरि के चन्द्रानन को॥

हे सखि! उदयाचल पर ऊषा देखो, हँसती है आकर,
काटी विरह-निशा यह मैंने किसी भाँति से धीरज धर।
पर अब कैसे रहूँ? कहो तुम, रोते हैं ये मेरे प्राण,
चलो, जहाँ हरि नाच रहे हैं उसी कुंज को करें प्रयाण॥

हे सखि! आज मही फूलों से है ऋतुपति को पूज रही,
खग-कुल के कल मंगल-रव से वनस्थली है कूज रही,
धूप-रूप-परिमल से नभयुत मँहक रहा है कुंजनिकेत,
चलो वहीं पूजें हम अपने प्राणेश्वर को प्रेम समेत॥

हे सखि! पाद्य-रूप दृग जल से धोवेंगी प्रिय के पद-पद्म,
पूजेंगी निज कर-कंजों से उनके चरण-कमल सुख-सद्म।
श्वास हमारी धूप बनेगी, दृग दीपक बन जावेंगे,
कंकण और किंकणी मिलकर सुन्दर वाद्य बजावेंगे॥

हे सखि! यह यौवन-धन अपना दूँगी प्रियतम को उपहार,
यह मस्तक-सिन्दूर आग-सा, बन जावेगा चन्दन-सार।
देखूँगी दस इन्दु नखों में करके जीवन सफल अहा!
माँगूँगी चिर-प्रेम रूप वर जो मन में है समा रहा॥

हे सखि! फूलों के खिलने से कानन अति कमनीय हुआ,
पिक-कुलकलकल, चंचल अलि-दल दृश्य, परम रमणीय हुआ।
कलित ललित जल उछल रहा है, चलो चलें हम कानन को,
आँखें ठंढी करें देख कर रसिनिधि श्रीमधुसूदन को॥

शुभम्

□□□

"हम मैथिलीशरण गुप्त को वह केन्द्र-बिन्दु मान सकते हैं जहाँ से नवीन आख्यानक काव्य और साथ ही नवीन प्रगीत की एक साथ उद्‌भावना होती है। गुप्तजी की आरम्भिक काव्य-रचनाएँ निबन्धात्मक होती थीं। इन निबन्धों में कभी किसी आख्यान का माध्यम होता था और कभी बिना आख्यान के ही कोई बात कही जाती थी – जैसे- 'नर हो न निराश करो मन को'। गुप्तजी के इन दोनों आरंभिक काव्य प्रकारों में निर्माण की दृष्टि से अधिक अन्तर नहीं था—थोड़ा-बहुत अंतर था तो आकार का।"

- नन्दुदुलारे वाजपेयी
'आधुनिक साहित्य'